त्रैमासिक ● अक्टूबर–दिसम्बर 1999 ● पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

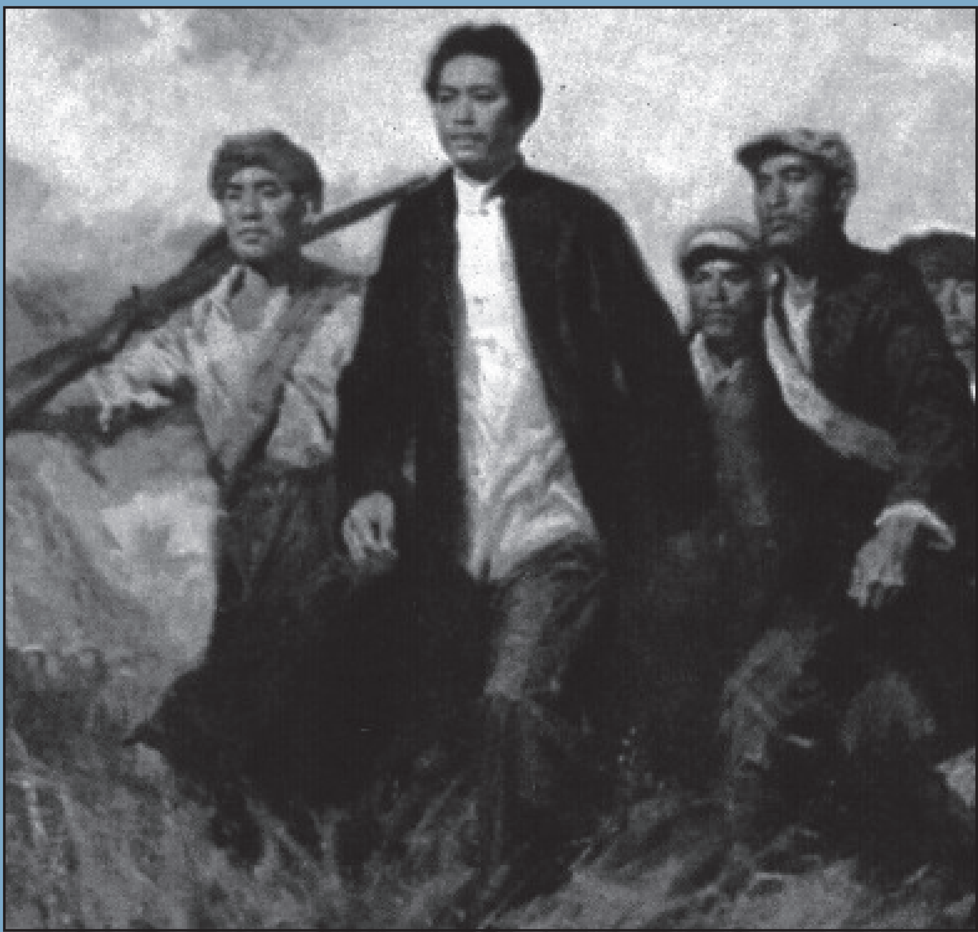

चीनी क्रान्ति की
अर्द्धशती और
माओ त्से–तुङ के
जन्मदिन के अवसर पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

एक युद्ध! देश के भीतर, जनता के खिलाफ

सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां ● उदारीकरण के आठ वर्ष

लीबिग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

जार्ज थामसन का लेख : बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर

मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में वोलोशिनोव का लेख

उपन्यास अंश : 'शवयात्रा'

नजरुल जन्मशती पर विष्णुचन्द्र शर्मा का लेख 'नजरुल और निराला'

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

जिसका हर अंक संग्रहणीय है

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ बेहद महत्वपूर्ण सामग्री

वर्ष 3 अंक 1–2
नवम्बर'95– फरवरी'96

साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) ● *लेनिन का ऐतिहासिक लेख :* सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति ● *माओ त्से-तुङ का लेख :* जनवादी केन्द्रीयता का सवाल ● शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा ● आइजेंस्ताइन और *'पूंजी'* पर फिल्म बनाने की योजना ● माओ और सुरजीत पातर की कविताएं

वर्ष 3 अंक 3–4–5
मार्च–अगस्त 1996

रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख : माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में ● भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष ● आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं ● *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश ● साम्राज्यवाद की अपरिवर्तनीय प्रकृति

वर्ष 3 अंक 6
सितम्बर–अक्टूबर 1998

मार्क्स और पर्यावरण ● क्रान्ति का विज्ञान ● विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* ● ताचाई की कहानी ● कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग ● 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

वर्ष 4 अंक 1–2
नवम्बर'96–फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*

माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं ● स्तालिन : एक मूल्यांकन ● स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद ● रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* ● सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार ● सोलहसूत्रीय सर्कुलर ● सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* ● कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स ● पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 4 अंक 3–4
मार्च–जून 1997

मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल ● पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं ● सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे ● मुक्त बाजार की नारकीय गुलामी भोगती स्त्रियां ● सूचना क्रान्ति का सच ● भाषा की साम्प्रदायिकता और आतंकवाद

वर्ष 4 अंक 5–6
जुलाई–अक्टूबर 1997

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी ● *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य ● *चाङ चुन-चियाओ का ऐतिहासिक लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में ● *सेर्गेई आइजेंस्ताइन का विचारोत्तेजक लेख :* कला का मनोविज्ञान ● मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

वर्ष 5 अंक 1–2
नवम्बर '97–फरवरी '98

बर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख ● बेहतर है, विकल्प की बात करें ● गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र ● मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच ● हॉब्सबॉम की शताब्दी समीक्षा ● महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज ● माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 5 अंक 3–4
मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट ● 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख ● ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' ● भगतसिंह की जेल नोटबुक पर दो लेख ● पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ ● मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ ● शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

वर्ष 5 अंक 5–6
जुलाई–दिसम्बर 1999

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :
बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर ● लोर्का की कविताएं ● लोर्का पर नेरूदा की कविता ● रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता ● पीकस्किल में पॉल रॉबसन ● एजाज अहमद का लेख उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था ● गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन ● भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान ● *जार्ज थामसन का लेख :* माओकालीन चीन में मार्क्सवाद ● हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं.

वर्ष 6 अंक 2
जुलाई–सितम्बर 1999

स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र ● तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा ● भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न ● कम्युनिस्ट लीग (1847–1852) का इतिहास ● महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के चुने हुए दस्तावेज ● बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति **'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'** ● माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया!

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :
प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
3/274, विश्वास खण्ड,
गोमतीनगर,
लखनऊ–226010
प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

दायित्वबोध के सभी पाठकों–सहयोगियों–प्रशंसकों से एक अपील

मित्रो, 'दायित्वबोध' लगातार आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहा है। अत्यंत महत्वपूर्ण और जरूरी सामग्री तैयार होते हुए भी हमें संसाधनों के अभाव में इसके अंक बार-बार स्थगित करने पड़े हैं और अपने पाठकों की शिकायतें सुननी पड़ती रही हैं। पिछले छह वर्षों के सफर में 'दायित्वबोध' अपने पाठकों-सहयोगियों-प्रशंसकों की मदद से ही अनेक बाधाओं-चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ता रहा है। आपके सक्रिय सहयोग पर दृढ़ विश्वास के दम पर हमने एक बार फिर इसे नियमित करने का संकल्प बांधा है।

'दायित्वबोध' के लिए नये वार्षिक/आजीवन सदस्य बनाएं ● इसके लिए विज्ञापन जुटाएं ● इसका एक स्थायी कोष बनाने के लिए सहयोग जुटाएं।

विज्ञापन दरें

● चौथा कवर (रंगीन) : रु. 10,000 ● (सादा) रु. 5000
भीतरी कवर (रंगीन) : रु. 8000 ● (सादा) रु. 4000
सम्पूर्ण पृष्ठ : रु. 3000 ● आधा पृष्ठ : रु. 1600
चौथाई पृष्ठ : रु. 800 ● पैनल : रु. 500 ● वर्गीकृत : रु. 250

❸ चेक/ड्राफ्ट **'दायित्वबोध'** के नाम से दें। ❸ विज्ञापन सामग्री आदि इस पते पर भेजें : **3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ–226010** अथवा हमारे इन प्रतिनिधियों को दे सकते हैं : सत्यम वर्मा, वरिष्ठ उपसम्पादक, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, नई दिल्ली–110001 ● अरविन्द सिंह, संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर–273001 ● डी.के. सचान, कृषिविज्ञान केन्द्र, विकास भवन, कलक्ट्रेट, गाजियाबाद

29

चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती (1 अक्टूबर) और माओ त्से-तुङ के जन्मदिन (26 दिसम्बर) के अवसर पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

''उदारीकरण'' के आठ वर्ष

आत्मघाती राह पर शासक वर्गों की विनाश-यात्रा के आठ वर्ष

आर्थिक ''उदारीकरण'' के पहले चरण के आठ वर्षों के परिणाम इतने नग्न रूप में सामने आये हैं कि ''उदारीकरण'' के देशी हिमायती ही नहीं विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष और संयुक्त राष्ट्रसंघ की विभिन्न संस्थाएं भी विधवा-विलाप कर रही हैं। सरकारी अर्थशास्त्रियों द्वारा आंकड़ों की बाजीगरी के विलक्षण प्रयासों के बाद भी इसे छुपाया नहीं जा सका है।

23

काजी नजरुल इस्लाम की जन्मशती के अवसर पर

भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम

के व्यक्तित्व और उनके अन्तिम दिनों के बारे में उनके जीवनीकार **विष्णुचंद्र शर्मा** की कलम से

55

जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां

'साझा सांस्कृतिक आन्दोलन की समस्याओं और सम्भावनाओं' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में 'राहुल फाउण्डेशन' व 'प्रत्यूष' सांस्कृतिक मंच की ओर से प्रस्तुत अवस्थिति-पत्र

12

इस अंक में

आपकी बात

अपनी बात

एक युद्ध! देश के भीतर, जनता के खिलाफ.....5

विशेष लेख

जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां.....12

''उदारीकरण'' के आठ वर्ष : आत्मघाती राह पर शासक वर्गों की विनाश-यात्रा के आठ वर्ष.....23

चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती और माओ त्से-तुङ के जन्मदिन के अवसर पर बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता.....29

कविता / गरज उठो, ओ चीन! लैंग्स्टन ह्यूज.....35

अक्टूबर क्रान्ति की 82वीं वर्षगांठ के अवसर पर बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर—*जार्ज थामसन*.....37

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए.....41

चीन के संसद-भक्त का दिवालियापन.....42

संस्कृति चिन्तन

मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में—*वी.एन. वोलोशिनोव*....46

उपन्यास-अंश

शवयात्रा—*विष्णुचंद्र शर्मा*.....50

काजी नजरुल इस्लाम की जन्मशती के अवसर पर भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम—*विष्णुचंद्र शर्मा*.....55

लीबिग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास : आज की कृषि में प्रासंगिकता —*जॉन बेलेमी फास्टर और फ्रेड मैग्डाफ*.....61

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (अध्याय 18) मितव्ययिता समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है.....68

पुस्तक चर्चा

'बियॉण्ड कैपिटल'—*इस्तवान मेस्जारोस*.....75

टिप्पणियां

● बढ़ता आर्थिक ''सुधार'' और घटता कृषि विकास ● पंजाब का कृषि विकास अब गंभीर संकटों की चपेट में ● आधुनिक भारत के ''मंदिरों'' यानी बांधों की दारुण गाथा.....81-85

क्या आप नायक तलाश रहे हैं? वे आपको उन बेबस, गन्दे, कायर कम्युनिज्म-विरोधियों में नहीं मिलेंगे जो आज हमारे देश में इतने 'सुरक्षित' हैं। न ही साहित्य ही आपको उस दिशा में मिलेगा। साहित्य यथार्थ का हिस्सा है। साहित्य जीवन के यथार्थ से बंधा, उससे एकाकार है। जीवन से अलग साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है और उससे कलाकार का नागरिक से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। उसके लिए आत्मसमर्पण का रास्ता अवश्य खुला है, लेकिन आत्मसमर्पण करके एक सर्जनात्मक, जिंदा लेखक बनने का कोई रास्ता नहीं है।

—हावर्ड फास्ट

दायित्वबोध

वर्ष-6 अंक 3; अक्टूबर-दिसम्बर 1999

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र : माओ त्से-तुङ हुनान में

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 308896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

– 'दायित्वबोध' का जुलाई-सितम्बर '99 अंक मिला। अंक बहुत ही विचारणीय लगा। आज के समय में इस तरह की पत्रिका की बहुत ही जरूरत है। आपने इसे त्रैमासिक कर दिया है। इसे नियमित करने की कोशिश की जाये तो बहुत ही अच्छा रहेगा।

एन.जी.ओ. किस तरह आज पूरे समाज में अपना जाल फैला रहा है और यह कितना खतरनाक है, इस पर आप द्वारा लिखे गये लेख चौंकाने वाले हैं तथा लोगों को सचेत करेंगे। कृषि पर साम्राज्यवादी जकड़ वाला लेख भी काफी अच्छा है।

—मोहन कुमार, वीर सावरकर ब्लाक, गणेशनगर, दिल्ली

– 'दायित्वबोध' का जुलाई-सितम्बर '99 अंक बहुत अच्छा लगा। स्वयंसेवी संगठनों पर निकला संपादकीय बहुत जरूरी काम को पूरा करता है। आज के दौर में इस तरह की पत्रिका अपने क्रान्तिकारी लक्ष्य की ओर अग्रसर है।

—राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, मिर्जापुर

– 'माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया' लेख बहुत ही उपयोगी है। समाजवाद के आने पर औरतों की आजादी के लिए किस तरह निरन्तर प्रयास किये गये यह एक जबर्दस्त उपलब्धि व ऐतिहासिक प्रगति थी। वास्तव में महिलाओं को केवल समाजवाद में सच्ची आजादी मिल सकती है। पढ़कर एक नयी ऊर्जा का अहसास हुआ।

—हंसी जोशी, डी-212, पाण्डवनगर, दिल्ली

– 'दायित्वबोध' का जुलाई-सितम्बर '99 अंक पढ़ा। पॉल राब्सन और दुबोइस पर दी गयी सामग्री कहीं और नहीं मिली। पत्रिका का नियमित न मिलना अखरता है।

—देवेन्द्र प्रताप, नैनीताल

– जुलाई-सितम्बर '99 अंक में बीमा विधेयक पर दिया गया लेख बहुत महत्वपूर्ण है। दायित्वबोध जैसी पत्रिका को नियमित करने का प्रयास कीजिए।

—विनोद कुमार, नरही, लखनऊ

– जुलाई-सितम्बर '99 अंक बहुत ही विचारोत्तेजक बन पड़ा है। खासकर स्वयंसेवी संगठनों के बारे में जो तथ्यों का खुलासा किया है। हमें स्वयंसेवी संगठनों के बारे में काफी भ्रम था कि यह संगठन बहुत ही अच्छा काम कर रहा है लोगों में चेतना फैलाने का। लेकिन इस लेख को पढ़ने के बाद हमें इनको समझने में काफी मदद मिली।

आशा है इस तरह के लेख आगे भी आप देते रहेंगे ताकि लोगों का भ्रम दूर हो सके।

'दायित्वबोध' के सभी लेख सोचने को काफी सामग्री देते हैं।

—मोहम्मद अनवर, गोरखपुर

– जुलाई-सितम्बर '99 अंक मिला। इस अंक की उपलब्धि है ब्रेष्ट का लम्बा लेख 'शार्ट आर्गनम आन थियेटर'। लेख का अनुवाद भी काफी अच्छा है। कृषि अनुसंधान के ढांचे पर प्यारेलाल एवं भूपेश कुमार सिंह का लेख कृषि में साम्राज्यवादी घुसपैठ किस हद तक हो चुकी है इसकी ओर आंखे खोल देता है। कम्युनिस्ट लीग का इतिहास से परिचय कराकर आपने एक जरूरी काम किया है।

—आर.पी. सिंह, रूद्रपुर

एक युद्ध! देश के भीतर, जनता के खिलाफ

13वीं लोकसभा का गठन हो चुका है और सत्तारूढ़ भाजपा-गठबंधन सरकार ने धुंआधार ''काम करना'' शुरू कर दिया है। उसने अपने वायदों पर मुस्तैदी और मजबूती के साथ अमल शुरू कर दिया है। ये वो वायदे नहीं हैं जो चुनावी मंचों से किये जाते रहे। ये वो वायदे हैं जो **सी.आई.आई., फिक्की, एसोचैम** और दूसरे उद्योगपति संगठनों के मंचों पर और उनके मंत्रणा कक्षों में किये गये। ये वो वायदे हैं जो विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मंचों पर या द्विपक्षीय-बहुपक्षीय वार्ताओं के दौरान साम्राज्यवादी देशों के प्रतिनिधियों से या **आई.एम.एफ.**, **विश्व बैंक, डब्ल्यू.टी.ओ.** आदि से लगातार किये जाते रहे हैं। इन्हीं वायदों पर अमल को **''उदारीकरण के दूसरे दौर''** की संज्ञा दी जा रही है।

पूंजीवादी मीडिया के कलमनवीसों का कहना था कि 13वीं लोकसभा के चुनाव ''मुद्दाविहीन'' थे! **जब देश की 85 फीसदी आम आबादी के सामने लगातार बढ़ती मंहगाई और बेरोजगारी और लगातार छिनते हुए अधिकारों जैसे सवालों का धधकता हुआ, चारों तरफ से घेरता हुआ दावानल खड़ा है, उस समय यदि संसदीय चुनाव बिना किसी मुद्दे के या गैर मुद्दों पर हो रहे हैं तो फिर पूंजीवादी संसदीय जनवाद की अप्रासंगिकता या जनविरोधी चरित्र को सिद्ध करने के लिए अधिक तर्क-वितर्क की शायद जरूरत नहीं रह जाती। यह स्वयंसिद्ध है। मेहनतकश अवाम के ज्वलंत मुद्दे बुर्जुआ संसदीय पार्टियों के लिए यदि मुद्दे रह ही नहीं गये हैं, यदि रोजी-रोटी और इंसाफ के सवालों पर लोक-लुभावन नारे तक दे पाने के हालात नहीं रह गये हैं; तो इसका मतलब यह है कि बुर्जुआ जनवाद के सारे रंग-रोगन उतर चुके हैं और संसदीय राजनीति के खिलाड़ी इसे समझ भी चुके हैं। यही वह कारण है जो पहले से ही अति संकुचित भारतीय पूंजीवादी जनवाद को आज घोर औपचारिक (मात्र) बना रहा है और हिन्दू कट्टरपंथी फासिस्ट धारा के साथ-साथ अन्य अनेक रूपों में भी निरंकुश स्वेच्छाचारी व सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों-रुझानों के लिए पूंजीवादी राजनीतिक परिदृश्य को अनुकूल बना रहा है।** दरअसल भारतीय पूंजीवाद के पास आज किसी भी तरह से आगे बढ़ने का (या कहें कि लाइलाज संकटों के साथ जिन्दा रहने का) जो एकमात्र रास्ता बचा है, वह है—उदारीकरण-निजीकरण का रास्ता, निर्बंध बाजारीकरण का रास्ता!

चूंकि इस मसले पर सभी बुर्जुआ दलों और (विरोध के तमाम जुबानी जमाखर्च के बावजूद व्यवहारत:) सभी चुनावी वामपंथियों के बीच आम सहमति है, इसलिए भी बुर्जुआ मीडिया के लिए विगत संसदीय चुनाव मुद्दाविहीन थे। अब चुनावों के द्वारा पूंजीपतियों को इस बात की औपचारिक ''इजाजत'' मिल चुकी है कि उनकी ''मैनेजिंग कमेटी'' (सरकार) अगले पांच वर्षों तक लोगों की रोजी-रोटी और जीने तक के अधिकार पर लगातार हमले बोलती रहे। यह भी अनायास नहीं कि ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' के नाम पर जनता के खिलाफ छेड़े गये इस युद्ध के सेनापतित्व का अवसर फासिस्ट चरित्र की पार्टी की अगुवाई वाले उस गठबंधन को दिया गया है जिसमें मुख्य सहयोगी की भूमिका पतित सामाजिक जनवादियों की है तथा निरंकुश फार्मरों-कुलकों व क्षेत्रीय पूंजीपतियों की क्षेत्रीय पार्टियां जिसे सहारा दिये हुए हैं। इन नीतियों पर धुंआधार अमल और हर संभावित विरोधी जन-उभार को कुचलने के बाद, नये सापेक्षत: ''स्थिरीकृत'' दौर में सत्ता-सूत्र सम्हालने के लिए किसी और विकल्प की जरूरत पड़ सकती है। इसके लिए भारतीय पूंजीपतियों की पुरानी विश्वसनीय पार्टी—कांग्रेस है ही! सो, विपक्ष में बैठी कांग्रेस फिलहाल इंतजार कर रही है और सेहत बना रही है, अगली पारी खेलने के लिए। संक्रमण-काल की तरल परिस्थितियों में अल्पकालिक सत्ता-सुख भोग चुकने के बाद संसदीय वामपंथियों सहित बचा-खुचा ''तीसरा मोर्चा'' एक बार फिर बुर्जुआ वर्ग की ''दूसरी सुरक्षा पंक्ति'' की अपनी पुरानी, आजमाई हुई भूमिका में है। संसदीय जनवाद के नाटक में स्थायी विपक्षी भूमिका

निभाकर वह उसे पूर्णता प्रदान कर रहा है तथा संतुलनकारी भूमिका का भी निर्वाह कर रहा है।

बहरहाल, विगत चुनावों के जरिये भारतीय शासक वर्ग ने अपने चुने हुए फैसलाकुन तबाही के रास्ते के लिए ''कानूनी-संवैधानिक स्वीकृति'' हासिल करने का काम पूरा कर लिया है। **जनता पर तेज हमला बोल देने का ''जनादेश'' मिलने के साथ ही भाजपा गठबंधन सरकार ने बिना रुके ''युद्ध'' छेड़ दिया है।** यह ''युद्ध'' न तो कारगिल-बटालिक में, सीमा पर लड़ा जा रहा है, न ही अल्पसंख्यकों के खिलाफ किसी दंगे की शक्ल में। उन युद्धों की जमीन भी हरदम तैयार है। पर वे सारे युद्ध जिस मूल युद्ध से ध्यान हटाने के लिए या जिस मूल युद्ध की तैयारी के लिए लड़े जाते हैं, वह मूल युद्ध—**जनता के खिलाफ आर्थिक युद्ध** अपने मुखरतम-प्रचण्डतम रूप में शुरू हो चुका है जो ''सभी युद्धों की मां'' है।

●

यूं तो जनता के खिलाफ इस युद्ध की शुरुआत **'लो-इण्टेसिटी वार'** के रूप में 1991 में नरसिंह राव की कांग्रेसी सरकार ने की थी। देवगौड़ा, गुजराल और फिर अटल बिहारी वाजपेयी की तेरह महीने तक चली पिछली सरकार ने इसे उसी रूप में जारी रखा। चुनावी राजनीति के तकाजे तथा गैरभरोसेमन्द व नाममात्र के बहुमत की मजबूरी उनके पांवों की बेड़ी बनी रही। अब पुन: सत्तासीन होने के बाद अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों की अगुवाई में अर्थशास्त्रियों, योजना आयोग-श्रम आयोग-वित्त आयोग-विनिवेश आयोग तथा विभिन्न कमेटियों के अनुभवी धुरंधर सलाहकारों-विशेषज्ञों-नौकरशाहों के ''स्टॉर्म ट्रुपर्स'' के दस्ते सजाकर एक के बाद एक धुंआधार फैसले लेते हुए वाजपेयी ने सत्तासीन होते ही व्यापक जनता पर वैसा ही आकस्मिक हमला बोला है, जिसे नात्सी सैन्य-विज्ञान की शब्दावली में **''ब्लिट्जक्रीग''** कहा जाता था।

चुनाव के ठीक बाद, एक के बाद एक, लगातार वाजपेयी सरकार ने जितने अहम, बुनियादी और रणनीतिक महत्व के आर्थिक फैसले महज एक माह के भीतर लिए, उतने पिछले नौ वर्षों के भीतर नहीं लिये गये थे। इन फैसलों पर एक सरसरी निगाह डालने से ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पर इसके पहले जरा यह देखें कि किसतरह **इस देश की ''चुनी हुई'' सरकार आज पूंजीपतियों की ''मैनेजिंग कमेटी'' की भूमिका एकदम खुलेआम निभा रही है और अब यह बात अधिक दबी-ढंकी नहीं रह गयी है कि असली फैसले वास्तव में मंत्रिमंडलीय बैठकों में या संसद में नहीं बल्कि पूंजीपतियों के सभागृहों एवं मंत्रणा-कक्षों में लिये जाते हैं।**

विगत 8 अक्टूबर से 14 अक्टूबर के बीच भारतीय पूंजीपतियों के तीनों अग्रणी संगठनों—**सी.आई.आई. एसोचैम** और **फिक्की** के प्रतिनिधिमण्डल प्रधानमंत्री से मिले और उन सभी ने आर्थिक सुधारों की गति को तेज करने के लिए अपना-अपना एजेण्डा पेश किया। कुछ गौण मुद्दों को छोड़ दें तो बुनियादी मुद्दों पर, यहां तक कि प्राथमिकता और जोर तक के सवाल पर पूंजीपतियों के तीनों संगठनों के एजेण्डे एकमत थे।

जनता पर तेज हमला बोल देने का ''जनादेश'' मिलने के साथ ही भाजपा गठबंधन सरकार ने बिना रुके ''युद्ध'' छेड़ दिया है।

तीनों एजेण्डों का जोर इस बात पर था कि सार्वजनिक उपक्रमों को निजी हाथों में सौंपने, विदेशी पूंजी-निवेश के रास्ते की सभी अड़चनों को दूर करने तथा स्वास्थ्य, शिक्षा आदि को सरकारी जिम्मेदारी के दायरे से पूरी तरह बाहर लाकर बाजार के हवाले करने के रास्ते की सभी कानूनी अड़चनों को शीघ्रातिशीघ्र दूर किया जाये। पूंजीपतियों के तीनों संगठनों का सुझाव है कि **सबसे पहले सरकार संसद में बीमा विधेयक, पेटेण्ट विधेयक, कम्पनी संशोधन विधेयक, 'फेमा' और खस्ताहाल कम्पनियों से सम्बन्धित विधेयक पास कराये; उसके बाद वह संसद में लंबित अन्य 15 विधेयकों को भी चालू कैलेण्डर वर्ष के भीतर ही पारित कराये जिनमें श्रमिक अनुबंध नियमन विधेयक, आवश्यक उपभोक्ता वस्तु विधेयक, सूचना प्रौद्योगिकी विधेयक, सिडबी (संशोधन) विधेयक आदि प्रमुख हैं।** पूंजीपतियों के इन संगठनों की मांग है कि **(i) एक निर्धारित समय-सीमा के भीतर सार्वजनिक क्षेत्र के सभी उपक्रमों का निजीकरण कर दिया जाये (इनसे सरकारी इक्विटी घटाकर पहले 50 प्रतिशत से कम, फिर 26 प्रतिशत से कम और फिर शून्य कर दिया जाये); (ii) निजीकरण की इस प्रक्रिया को तेज करने के लिए एक स्वतंत्र, अधिकारसम्पन्न निगम बनाया जाये (iii) वर्ष 1999-2000 में 10,000 करोड़ रुपये का विनिवेश लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लिया जाये, (iv) सभी नई सरकारी नौकरियों पर तुरन्त प्रभाव से रोक लगाकर खाली पदों को समाप्त कर दिया जाये तथा सार्वजनिक उपक्रमों के साथ ही सभी सरकारी विभागों में भी स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजना (वालण्टरी रिटायरमेण्ट स्कीम) लागू कर दी जाये (v) श्रम कानूनों को लचीला बनाकर ''उत्पादकता बढ़ाने के लिए'' रोजगार-सुरक्षा के प्रावधानों को समाप्त किया जाये तथा ठेका-प्रथा पर रही-सही कानूनी रोक भी समाप्त की जाये (vi) चरणबद्ध ढंग से, तीन वर्षों के भीतर सस्ते राशन, रसोई गैस, मिट्टी तेल तथा स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि आदि मदों में दी जाने वाली सब्सिडी पूरीतरह समाप्त कर दी जाये तथा गरीबों को राहत के लिए चलाये जाने वाले कार्यक्रम और कम लागत के आवास जैसी योजनाएं रोक दी जायें, (vii) लघु उद्योग क्षेत्र के**

लिए बनाई गई आरक्षण-सूची समाप्त करके इन क्षेत्रों को देशी-विदेशी बड़ी पूंजी के लिए खोल दिया जाये, (viii) जिन उद्योगों में लाइसेंस व्यवस्था लागू है उसे भी सौ दिनों के भीतर समाप्त कर दिया जाये, (ix) कृषि उपजों के आवागमन को पूरी तरह मुक्त कर दिया जाये (x) नरसिंम्हन कमेटी और वर्मा कमेटी की सिफारिशों को लागू करते हुए बैंकों के निजीकरण की प्रक्रिया तेज की जाये तथा प्रति कर्मचारी 1 करोड़ 25 लाख रुपये के व्यापार का मानक बनाते हुए कुल बीस राष्ट्रीकृत बैंकों से 22.30 प्रतिशत ''फालतू'' कर्मचारियों (कुल 1,77, 405) की छंटनी कर दी जाये (xi) विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने के लिए हर संभव कदम उठाये जायें... आदि-आदि।

और पूंजीपतियों की तीनों संस्थाओं ने यहीं विराम नहीं लिया। सी.आई.आई. ने घोषणा की है कि जल्दी ही वह सभी मंत्रालयों और विभागों को सौंपे जाने वाले दस्तावेजों सहित सरकार को एक विस्तृत एजेण्डा सौंपेगी तथा उसे 30 दिन, 90 दिन और 150 दिन अवधि वाली कार्य योजनाएं सुझायेगी। सी.आई.आई. के अध्यक्ष राहुल बजाज ने मंत्रिमंडल के गठन के पहले यह भी कहा था कि वित्त मंत्रालय यशवंत सिन्हा को ही दिया जाना चाहिए (और ऐसा ही हुआ!)। सी.आई.आई. की ही तर्ज पर 'एसोचैम' ने भी सरकार को अल्पकालिक, मध्यकालिक और दीर्घकालिक प्रोग्राम दिए। उसने इन प्रोग्रामों पर अमल के लिए प्रधानमंत्री कार्यालय में विशेष निगरानी प्रकोष्ठ बनाने का सुझाव दिया (और 'क्रैक टीम' का गठन करके प्रधानमंत्री ने इसपर अमल भी किया)।

पिछले एक माह के दौरान राष्ट्रीय समाचार पत्रों में छपी खबरों-टिप्पणियों पर निगाह दौड़ायें तो स्पष्ट हो जाता है कि देशी उद्योगपतियों के संगठनों की ही तरह **आई.एम.एफ., विश्व बैंक, डब्ल्यू.टी.ओ.** के विशेषज्ञों, वित्तीय सलाहकारों, साम्राज्यवादी देशों के राजनयिकों-प्रतिनिधियों तथा **'मूडी'** और **'क्राइसिल'** आदि अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों ने भी भारत सरकार को उदारीकरण की प्रक्रिया तेज करने के लिए एक के बाद एक लगातार सुझाव दिये हैं। यहां यह भी उल्लेख प्रासंगिक है कि वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा अपने चुनाव क्षेत्र से सीधे अमेरिका गये और वहां बाकायदा घोषणा की कि राजग सरकार सत्ता में वापस आते ही बीमा नियमन प्राधिकरण बिल लोकसभा में पेश करेगी।

●

आइये, अब यह देखें कि देशी उद्योगपतियों और साम्राज्यवादियों के सुझावों, मांगों और उनके द्वारा प्रस्तुत कार्ययोजनाओं-एजेण्डों के प्रति गत एक माह के दौरान वाजपेयी सरकार ने किसप्रकार 'रेस्पाण्ड' किया है और ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' को अमल में लाते हुए अबतक कौन-कौन से कदम उठाये जा चुके हैं तथा कौन-कौन से उठाये जाने वाले हैं।

इस देश की ''चुनी हुई'' सरकार आज पूंजीपतियों की ''मैनेजिंग कमेटी'' की भूमिका एकदम खुलेआम निभा रही है और अब यह बात अधिक दबी-ढंकी नहीं रह गयी है कि असली फैसले वास्तव में मंत्रिमंडलीय बैठकों में या संसद में नहीं बल्कि पूंजीपतियों के सभागृहों एवं मंत्रणा-कक्षों में लिये जाते हैं।

बीमा नियमन विधेयक, पेटेण्ट संशोधन विधेयक, विदेशी मुद्रा प्रबंधन विधेयक, प्रतिभूति विधेयक, 'प्रिवेंशन आफ मनी लॉण्डरिंग बिल' और सूचना प्रौद्योगिकी एवं ई-कामर्स विधेयक को मंत्रिमंडल की स्वीकृति मिल चुकी है और अगले सत्र तक ये लोकसभा से पारित करा लिये जायेंगे।

प्रधानमंत्री ने विगत 16 अक्टूबर को राष्ट्र के नाम संदेश देते हुए एकदम आई.एम.एफ.; विश्व बैंक, डब्ल्यू. टी.ओ. तथा भारतीय पूंजीपतियों के शीर्ष संगठनों की भाषा में आर्थिक सुधारों की तथा देश के ''विकास'' के लिए ''कड़े कदम'' उठाने की चर्चा की। उन्होंने मंहगाई, बेरोजगारी, कुपोषण, बीमारी, अशिक्षा आदि समस्याओं की रस्मी तौर पर भी चर्चा नहीं की। प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क-निर्माण, आवास, स्वच्छ पेयजल, ऊर्जा-संकट आदि की समस्याओं को हल करने के लिए उन्होंने निजी क्षेत्र की भागीदारी पर बल दिया और प्रकारान्तर से पूंजीपतियों को यह संकेत दे दिया कि निजीकरण के प्रति अपनी वचनबद्धता वे इसबार सख्ती से निभायेंगे। इसीतरह उन्होंने विदेशी कम्पनियों को भी संदेह दिया कि वे आयें और बीमा-बैंकिंग की नियंत्रणकारी वित्तीय चोटियों सहित पूरी अर्थव्यवस्था पर कब्जा जमाकर अकूत मुनाफा निचोड़ें तथा ''देश को आगे बढ़ायें।''

पूंजीपतियों के शीर्ष संगठनों के सुझावों को पूरी तरह अपनाते हुए प्रधानमंत्री ने आर्थिक सुधारों के काम के निर्देशन व निगरानी के लिए स्वयं अपने नेतृत्व में एक 'क्रैक टीम' का गठन किया है जिसमें वित्त मंत्री यशवन्त सिन्हा, उद्योग मंत्री मुरासोली मारन, विदेश मंत्री जसवंत सिंह और योजना आयोग के उपाध्यक्ष के.सी. पंत शामिल हैं। इसके साथ ही वाजपेयी ने यह भी घोषणा की कि निजी क्षेत्र के सहयोग से नये हवाई अड्डों-बन्दरगाहों और ''एक्सप्रेस हाइवे'' के निर्माण व नई दूर संचार परियोजनाओं का काम शुरू किया जायेगा तथा दूरसंचार व बुनियादी ढांचागत उद्योगों में आर्थिक सुधार पर अमल के लिए अलग मंत्रियों की कमेटियां गठित की जायेंगी।

पिछले एक माह के दौरान वित्तमंत्री यशवंत सिन्हा 'फिक्की' की सभा से लेकर अनेक मंचों से व अनेक साक्षात्कारों में आर्थिक सुधारों के लिए ''कठोर कदम'' उठाने, विनिवेश से 10,000 करोड़ रुपये जुटाने के लक्ष्य

को एक वर्ष के भीतर पूरा करने लेने, नरसिम्हन कमेटी की सिफारिशों के मुताबिक राष्ट्रीकृत बैंकों का चरणबद्ध प्रक्रिया में निजीकरण कर देने, ब्याज दरें कम करने, श्रम कानूनों को नियोक्ताओं की मांगों के अनुरूप लचीला बनाने, वित्तीय घाटे को कम करने के लिए चरणबद्ध ढंग से सब्सिडी को पूरी तरह समाप्त करने, ''फालतू'' कर्मचारियों-मजदूरों की छंटनी करने, धीरे-धीरे सभी सार्वजनिक उपक्रमों को सरकारी इक्विटी घटाकर शून्य तक पहुंचाते हुए निजी हाथों में सौंप देने, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को बढ़ाते हुए सभी सरकारी दफ्तरी औपचारिकताओं को समाप्त करने तथा डब्ल्यू.टी.ओ. की शर्तों को पूरा करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की घोषणाएं एकाधिक बार कर चुके हैं।

विगत चुनाव के बाद सरकार चाहे कांग्रेस की बनती या भाजपा-गठबंधन की, उदारीकरण के तथाकथित दूसरे दौर की उन नीतियों का कार्यान्वयन सुनिश्चित था जिनके लिए शासक वर्गों की सभी पार्टियां भारतीय इजारेदार पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के प्रति वचनबद्ध थीं और जो भारतीय शासक वर्गों की आवश्यकता और विवशता दोनों ही थीं। गौरतलब है कि अंतिम चरण के मतदान से पहले ही योजना आयोग ने भावी सरकार के आर्थिक एजेण्डे का प्रारूप तैयार करना शुरू कर दिया था। योजना आयोग ने अपने सुझावों में स्पष्ट कहा था कि आर्थिक सुधार के अपेक्षित कदम नई सरकार को सत्ता सम्हालते ही उठा लेने चाहिए क्योंकि बाद में विघ्न उत्पन्न हो सकते हैं। आर्थिक सुधार के जो सुझाव योजना आयोग ने दिये हैं वे हू ब हू वही हैं जो फिक्की, एसोचैम और सी.आई.आई. ने दिये हैं तथा जिनके लिए विश्व बैंक-मुद्राकोष-विश्व व्यापार संगठन लगातार दबाव बनाये हुए हैं।

पिछली सरकार के कार्यकाल के ही दौरान ही विश्व बैंक ने स्पष्ट कहा था कि केन्द्र राज्य सरकारों को केन्द्रीय सहायता देने की शर्त के तौर पर राज्यों में भी आर्थिक सुधारों पर तेजी से अमल करने के लिए तथा विश्व बैंक के निर्देशों को लागू करने के लिए कहे। इसके लिए विश्व बैंक के ही सुझाव से सहमति-पत्र तैयार किये गये थे जिनके अनुसार केन्द्रीय सहायता पाने के लिए राज्य सरकारों को अगले कुछ वर्षों के भीतर कर्मचारियों की संख्या घटानी होगी तथा बिजली और पानी की दरें बढ़ानी होंगी। अब वाजपेयी सरकार न सिर्फ राज्य सरकारों से जल्दी से जल्दी इन सहमति पत्रों पर दस्तखत करा लेना चाहती है बल्कि कानून बनाकर इसे अनिवार्य भी कर देना चाहती है।

भारी उद्योग एवं सार्वजनिक उपक्रम विभाग के नये मंत्री मनोहर जोशी ने पद सम्हालते ही सभी सार्वजनिक उद्योगों में विनिवेश कार्यक्रम सख्ती से लागू करने की तथा इसके पहले कदम के तौर पर 24 चुनिन्दा सार्वजनिक उपक्रमों को संयुक्त उपक्रम में तबदील कर देने की घोषणा की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि खस्ताहाल सार्वजनिक उपक्रमों को बनाये रखने और चलाते रहने का कोई औचित्य नहीं है। पूर्व कपड़ा सचिव एस. सत्यम की अध्यक्षता में गठित समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार जल्दी ही नई कपड़ा नीति की घोषणा करने वाली है जिसके अनुसार, (i) वस्त्र, होजियरी और सिलाई क्षेत्रों को लघु उद्योगों के लिए आरक्षित क्षेत्र से निकालकर इन्हें बड़ी पूंजी के प्रवेश के लिए खोल दिया जायेगा, (ii) हथकरघा आरक्षण कानून को समाप्त कर दिया जायेगा, (iii) एन.टी.सी. की बीमार मिलों को पूंजीपतियों को सौंप दिया जायेगा और (iv) सिले-सिलाये वस्त्रों के सेक्टर में सौ फीसदी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की इजाजत दे दी जायेगी। इसके साथ ही उपरोक्त समिति ने एक छंटनी नीति बनाने के साथ ही ठेका मजदूर रखने और स्वैच्छिक अवकाश योजना लागू करने के लिए मालिकों को छूट देने की भी सिफारिश की है। श्रम कानूनों में लगातार ऐसे ही बदलाव करने, मजदूरों के हड़ताल और ट्रेड यूनियन अधिकारों पर बंदिश लगाने, काम के घण्टों को मनमाने ढंग से बढ़ाने की मालिकों को छूट देने तथा रोजगार-सुरक्षा सम्बन्धी सभी प्रावधानों को खत्म करने की बात अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों और पूंजीपतियों की संस्थाएं पहले से ही करती रही हैं। नये श्रम आयोग की जल्दी ही आने वाली रिपोर्ट के आधार पर नया श्रम कानून बनाकर सरकार उनकी मांग पूरी करने की न सिर्फ तैयारी कर चुकी है बल्कि ''उत्पादकता बढ़ाने'' के तर्क देते हुए अपनी मंशा जाहिर भी कर चुकी है। सच तो यह है कि ठेका प्रथा, छंटनी, काम के घण्टों आदि के मामले में स्थिति आज ही उद्योगपतियों की मनमर्जी मुताबिक बन चुकी है। नया श्रम कानून इसी स्थिति पर बस फाइनल ठप्पा लगाने का काम करेगा।

यह भी अनायास नहीं कि ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' के नाम पर जनता के खिलाफ छेड़े गये इस युद्ध के सेनापतित्व का अवसर फासिस्ट चरित्र की पार्टी की अगुवाई वाले उस गठबंधन को दिया गया है जिसमें मुख्य सहयोगी की भूमिका पतित सामाजिक जनवादियों की है तथा निरंकुश फार्मरों-कुलकों व क्षेत्रीय पूंजीपतियों की क्षेत्रीय पार्टियां जिसे सहारा दिये हुए हैं।

वाजपेयी सरकार के पिछले कार्यकाल में ही विदेशी निवेशकर्ताओं और निर्यातोन्मुख उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए **नई आयात-निर्यात नीति** के अन्तर्गत कई तरह की छूटों के साथ ही **'एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन'** नामधारी मुक्त व्यापार क्षेत्रों ने इस देश के श्रम कानूनों के लागू न होने की भी घोषणा की गई थी। अब नये उद्योग मंत्री ने उन छूटों को अपर्याप्त मानते हुए जल्दी ही नई आयात-निर्यात नीति लाने की तथा देश भर में ज्यादा से ज्यादा मुक्त व्यापार क्षेत्रों के निर्माण की घोषणा की है।

देश के सबसे बड़े उद्योग—रेल के किश्तों में निजीकरण की प्रक्रिया तो पांचवे वेतन आयोग की रिपोर्ट आने के समय से ही जारी है, अब नई रेल मंत्री ममता बनर्जी ने इसे भी सरपट दौड़ा दिया है। कुल 18 लाख

रेलकर्मियों की संख्या घटाकर आधी करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए इसे 13 लाख तक लाया जा चुका है और अब इसे आधी से कम करने की बातें हो रही हैं। रेलवे के कारखाने व वर्कशाप बेकार होते जा रहे हैं। विदेशी कम्पनियों को ठेके दिये जा रहे हैं और मशीनों-इंजनों आदि की ज्यादा से ज्यादा विदेशों से खरीद हो रही है। एक ब्रिटिश कम्पनी व एक भारतीय कम्पनी की साझेदारी में पर्यटक ट्रेनें चलाने की योजना मंजूर हो चुकी है। 18 नई रेल परियोजनाओं के लिए एशियाई विकास बैंक इस शर्त पर 1250 करोड़ रुपये का ऋण दे रहा है कि रेल मंत्रालय रेल कोच व अन्य साजो-सामान बनने वाले कारखानों का निजीकरण करेगा, कर्मचारियों की छंटनी करेगा तथा उपनगरीय ट्रेनों के भाड़े बढ़ायेगा। रेलवे बोर्ड की पहली ही बैठक में नई रेल मंत्री ने धन की कमी का रोना रोते हुए कई महत्वपूर्ण रेल परियोजनाओं को निजी क्षेत्र में सौंपने की घोषणा की है। डीजल की मूल्य वृद्धि से पड़े अतिरिक्त बोझ को उठाने तथा अन्य घाटों की पूर्ति के लिए रेल की जमीन व अन्य परिसम्पत्तियों को बेचने का प्रस्ताव भी विचाराधीन है। रेल भाड़ा ''अभी नहीं बढ़ाने'' के रेल मंत्री के आश्वासन के विपरीत रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष ने अगले वर्ष भारी भाड़ा-वृद्धि के संकेत दे दिये हैं।

बैंकों और बीमा क्षेत्र में देशी निजी पूंजी और विदेशी पूंजी को उनकी शर्तों पर प्रवेश देने से जहां पूरे पूंजीवादी अर्थतंत्र की नियंत्रणकारी चोटी—वित्तीय क्षेत्र को मुख्यत: विदेशी पूंजी और उसके कनिष्ठ सहयोगी देशी इजारेदार पूंजी के हवाले कर देने की प्रक्रिया को अंजाम तक पहुंचाया जा रहा है, वहीं पूंजी के भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को सम्पूर्ण बनाने के लिए देश के आधारभूत और अवरचनागत (बेसिक एण्ड इन्फ्रास्ट्रक्चरल) उद्योगों के क्षेत्र में पूंजी और नई तकनोलाजी की जरूरत का थोथा तर्क दुहराते हुए देशी-विदेशी पूंजी के संयुक्त उपक्रम खड़ा करने तथा चुने हुए क्षेत्रों में शत-प्रतिशत विदेशी निवेश की छूट देने की घोषणाएं की जा रही हैं। रेल की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। रेल लाइनों के साथ ही सरकार सड़क और बंदरगाहों के निर्माण व रखरखाव में भी निजी क्षेत्र के साथ ही शत-प्रतिशत विदेशी पूंजी-निवेश की छूट देने पर विचार कर रही हैं। केन्द्र सरकार के साथ ही राज्य सरकारें भी विश्व बैंक से कर्ज की शर्तों पर मुस्तैदी से अमल करते हुए विद्युत उत्पादन और वितरण के चरणबद्ध-समयबद्ध निजीकरण के प्रोग्राम पर अमल कर रही हैं। देश के सभी राज्यों में राज्य सरकारों के इलेक्ट्रानिक उपकरण, ट्रैक्टर, स्कूटर, ऑटो रिक्शा, दवायें, कल पुर्जे बनाने वाले छोटे-बड़े ''बीमार'' बनाये-बताये जा रहे उपक्रमों को निजी हाथों में सौंपने की पहले से ही जारी प्रक्रिया को तेज करने के लिए केन्द्र से भारी दबाव है। आम जनता के खून-पसीने से सार्वजनिक क्षेत्र में खड़े किये गये इस्पात कारखानों में सरकारी इक्विटी घटा देने तथा कोयला उद्योग को भी निजी हाथों में सौंप देने की नीति घोषित हो चुकी है और अब इसका व्यावहारिक कार्यक्रम तय किया जाना है।

निवेश पर बहुपक्षीय समझौता (एम.ए.आई.) वास्तव में पूंजी के भूमण्डलीकरण के दौर की नई विश्व-व्यवस्था के नीतिगत आधार-पत्रों में से एक है। यह साम्राज्यवादी लुटेरों का एक और महत्वपूर्ण चार्टर है, जिसपर वाजपेयी सरकार दस्तखत करने जा रही है।

इसी महीने के अंत में अमेरिका के **सिएटल** शहर में **विश्व व्यापार संगठन** की **तीसरी मंत्रिस्तरीय बैठक** होने जा रही है। वाजपेयी सरकार की तमाम लफ्फाजियों के बावजूद, मंत्रियों के बयानों से ही यह बात साफ हो चुकी है कि चेहरा बचाने के लिए कुछ गौण मसलों पर छोटी-मोटी छूटें हासिल करते हुए यह सरकार कुख्यात **'निवेश पर बहुपक्षीय समझौते'** (एम.ए.आई.) पर हस्ताक्षर करने का मन बना चुकी है। यह कदम गैट समझौते पर हस्ताक्षर और डब्ल्यू.टी.ओ. की शर्तें मानने की ऐतिहासिक गद्दारी की ही अगली कड़ी होगा। सरकार के विभिन्न मंत्री और सचिवगण देश के हितों की हिफाजत के वायदे लगातार दुहराते हुए अगली ही सांस में यह भी कह रहे हैं कि **वे विकसित देशों के साथ टकराव का रास्ता नहीं अपनायेंगे।**

निवेश पर बहुपक्षीय समझौते के मसविदे पर मई, 1995 से ही बातचीत जारी थी और उसे मई, 1997 में लागू किया जाना था। इस मसविदे का पूरी दुनिया की प्रगतिशील-जनपक्षधर शक्तियों ने तो व्यापक विरोध किया ही, तीसरी दुनिया के देशों के शासक पूंजीपति भी साम्राज्यवादियों द्वारा सौदेबाजी में बहुत अधिक दबाये जाने का विरोध करते हुए इस समझौते के प्रावधानों में कुछ बदलाव चाहते थे। हालांकि वे अभी भी ऐसा चाहते हैं, पर अब उनकी यह मजबूरी है कि थोड़ी-बहुत रियायतें हासिल करके वे एम.ए.आई. के मसले पर भी साम्राज्यवादी गिरोहों के आगे घुटने टेक दें। उदारीकरण की विश्वव्यापी लहर ने साम्राज्यवादियों के सामने विश्व बाजार के नये क्षेत्रों और सुदूर कोनों तक पहुंच के जो रास्ते खोले हैं, उनसे पूंजी की प्रचुरता और निवेश की समस्या घटी नहीं है। गरीब देशों की श्रमशक्ति को निचोड़कर अर्जित अतिलाभ ने विश्वव्यापी मंदी और गतिरोध के संकट को और अधिक गम्भीर ही बनाने का काम किया है। इसीलिए वे श्रमशक्ति और कच्चे माल के दोहन के मार्ग की हर बची-खुची बाधा को हटाने के लिए बदहवास हैं। उधर तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों की विवशतापूर्ण आवश्यकता यह है कि वे पूंजी और तकनोलाजी की जरूरतों के लिए नई, आर्थिक नवऔपनिवेशिक विश्व-व्यवस्था के विधानों को स्वीकार करें और अपनी आर्थिक-राजनीतिक आजादी को और अधिक सिकोड़कर पूरी तरह साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ सहयोगी की भूमिका में आ जायें। बेशक इस ढांचे में लुटेरों के आपसी अन्तरविरोध बने रहेंगे और संकट का हर झटका उन्हें तीखा भी बनायेगा, लेकिन विश्व पूंजीवाद की अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक नीति-रणनीति-दिशा के प्रश्न पर तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों को अब

साम्राज्यवादियों के दिशा-निर्देशों के हिसाब से ही चलना है।

दिसम्बर 1996 में जब डब्ल्यू.टी.ओ. के अन्तर्गत एम.ए.आई. को लागू करने की संभावना पर पहली कमेटी बनाई गई थी, तो सिंगापुर की मंत्रिस्तरीय बैठक में डब्ल्यू.टी.ओ. के अध्यक्ष **रेनाटो रुगेरियो** ने कहा था, **''हम एक विश्व-अर्थव्यवस्था का संविधान लिखने की कोशिश कर रहे हैं।''** रुगेरियो की यह उक्ति अत्युक्ति नहीं है। इसमें सच्चाई है। एम.ए.आई. वास्तव में पूंजी के भूमण्डलीकरण के दौर की नई विश्व-व्यवस्था के नीतिगत आधार-पत्रों में से एक है। **यह साम्राज्यवादी लुटेरों का एक और महत्वपूर्ण चार्टर है, जिसपर वाजपेयी सरकार दस्तखत करने जा रही है।**

एम. ए.आई. पर हस्ताक्षर करने वाला कोई भी देश इसकी शर्तों से 20 वर्षों के लिए बंध जायेगा। ''निवेशकों के हकों की हिफाजत'' की फरेबी शब्दावली की आड़ में यह कुटिल समझौता भूमि, प्राकृतिक संसाधन, दूरसंचार, वित्त, सेवा आदि क्षेत्रों में विदेशी निवेशकों द्वारा निवेश के पूर्ण अधिकार के साथ ही सरकारों से यह मांग करता है कि वे सुनिश्चित करें कि निवेशकों को ''निवेश का पूरा फायदा मिले।'' यही नहीं, यह समझौता स्वीकारने वाले देशों में विदेशी निवेशकों और कारपोरेशनों को यह हक होगा कि वे निवेश समझौते के अनुरूप लाभ न मिलने पर सरकारों पर मुकदमे चला सकें और **'एम.ए.आई. ट्रिब्यूनल'** के जरिये हरजाने-जुर्माने की मांग कर सके। एम.ए.आई. में एक शर्त यह भी है कि किसी भी विवाद में सरकार को बिना शर्त **'इण्टरनेशनल चैम्बर ऑफ कामर्स'** के पैनल की मध्यस्थता माननी होगी और उसके फैसलों को मंजूर करना होगा। एम.ए.आई. की ''राष्ट्रीय बर्ताव'' की मांग का तात्पर्य यह है कि विदेशी कम्पनियों को हर तरह से देशी कम्पनियों की ही तरह छूट और सुविधाएं दी जायें तथा देशी लघु उद्योगों को कोई भी संरक्षण न दिया जाये। एम.ए.आई. को स्वीकार करने वाले देशों में जमीन की विदेशी मिल्कियत पर लगी पाबंदियां हटा लेनी पड़ेंगी। पूंजीपतियों को खेती की जमीन खरीदने की खुली छूट तो होगी ही, विदेशी कारपोरेशन तब यहां भी लातिन अमेरिकी देशों के समान अपने 'प्रायोगिक फार्म' स्थापित कर सकेंगे और कहीं भी किसानों को उनकी जमीन से बेदखल करके अपने कारखाने लगा सकेंगे और शहर बसा सकेंगे। यही नहीं, एम.ए.आई. स्वीकारने वाले देशों को सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा आदि का निजीकरण करते हुए देशी पूंजीपतियों के साथ-साथ विदेशी निवेशकों को भी बराबर के मौके देने होंगे।

वाजपेयी सरकार यदि सिएटल वार्ता में एम.ए.आई. पर हस्ताक्षर न भी करे, तो भी यह विनाशकारी कदम को महज कुछ समय के लिए टालना ही होगा। पिछले 9 वर्षों की नई आर्थिक नीतियों पर अमल की यात्रा को और आर्थिक नवउपनिवेशवाद के मौजूदा दौर की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को—पूंजी के भूमण्डलीकरण की आम दिशा को देखते हुए यह साफ है कि **आज नहीं तो कल सरकार चाहे भाजपा की हो या कांग्रेस की, या यहां तक कि वामपंथी-सामाजिक जनवादी-पूंजीवादी ''खिचड़ीपंथियों'' की कोई अल्पजीवी संक्रमणकालीन सरकार ही क्यों न हो, निवेश पर बहुपक्षीय समझौते को भारतीय शासक वर्ग को मानना ही है। डब्ल्यू. टी.ओ. से बंध चुकने के बाद वह इस सवाल पर पगहा नहीं तुड़ा सकता।**

बुर्जुआ संसदीय पार्टियों की तमाम जूतम-पैजार के बीच का बुनियादी सच यह है कि उदारीकरण के दौर में शासक वर्गों के सभी दलों के बीच मेहनतकश अवाम को पूंजी के कोल्हू में पीस डालने के प्रश्न पर आम सहमति है। अपने औपचारिक विरोधी स्वर के साथ इस आम सहमति में संसदीय वामपंथी दल व अन्य मध्यमार्गी छोटे-मोटे दल भी शामिल हैं, क्योंकि इतिहास के इस दौर में पूंजीवादी अर्थनीति की चौहद्दी में और कोई गुंजाइश शेष ही नहीं बची है।

सरकारें बनाने-गिराने के तमाम उखाड़-पछाड़ों और बुर्जुआ संसदीय पार्टियों की तमाम गाली-गलौज, जूतम-पैजार के बीच का बुनियादी सच यह है कि **उदारीकरण के दौर में शासक वर्गों के सभी दलों के बीच मेहनतकश अवाम को पूंजी के कोल्हू में पीस डालने के प्रश्न पर आम सहमति है। अपने औपचारिक विरोधी स्वर के साथ इस आम सहमति में संसदीय वामपंथी दल व अन्य मध्यमार्गी छोटे-मोटे दल भी शामिल हैं, क्योंकि इतिहास के इस दौर में पूंजीवादी अर्थनीति की चौहद्दी में और कोई गुंजाइश शेष ही नहीं बची है। संसदीय वामपंथी भी बाजारीकरण को ''विधि का विधान'' मानते हुए ''कल्याणकारी राज्य'' के कीन्सियाई नुस्खों को ही ''समाजवादी'' जबड़ों से चुबला रहे हैं और संसदीय बहसों में विरोध पक्ष की रस्मी भूमिका निभाते हुए व्यापक संदर्भों में बुर्जुआ व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति की अपनी पुरानी भूमिका ही निभा रहे हैं। भूलना नहीं होगा कि अपनी अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी नीतियों से मजदूर आंदोलन को दीमक की तरह खोखला करके इन्हीं गद्दारों ने यह स्थिति बनाई कि वह नई आर्थिक नीतियों पर अमल के रस्मी विरोध से आगे कुछ भी नहीं कर पाया।**

इतना तय है कि **पूंजीवादी दायरे के भीतर अब इन नीतियों को उलटा नहीं जा सकता है। यदि इनके विनाशकारी परिणामों से बचना है तो पूंजीवादी दायरे को ही तोड़ना होगा। यह बड़ा प्रश्न है। पर यही असली प्रश्न है जो ज्यादा से ज्यादा फौरी बनता जा रहा है।**

सत्ताधारी इस बात को समझ रहे हैं। यह अनायास नहीं है कि ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' को अमली जामा पहनाने की जिम्मेदारी फासिस्ट भाजपा की अगुवाई वाले गठबंधन को सौंपा गया है। यह अनायास नहीं

है कि आर्थिक मामलों में लगातार ''कड़े कदम'' उठाने की बात दुहराते हुए वाजपेयी सरकार के विभिन्न मंत्रीगण ''आंतरिक सुरक्षा'' पर बल देने और ''आतंकवाद को कुचल देने'' की बातें बहुत अधिक कर रहे हैं।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल के आठ वर्षों के जो नतीजे सामने हैं (इनपर 'दायित्वबोध' के इसी अंक में अलग से एक लेख है), उनसे ही ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' के भावी विनाशकारी परिणामों का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

आने वाले वर्षों में, ''उदारीकरण का दूसरा दौर'' करोड़ों मध्यम और गरीब किसानों को उनकी जगह-जमीन से उजाड़कर उजरती गुलामों की अन्तहीन कतारों में शामिल कर देगा। संगठित मजदूरों की संख्या को काट-छांटकर बेहद छोटा कर दिया जायेगा और बहुसंख्यक सर्वहारा आबादी को ठेका व दिहाड़ी मजदूर के रूप में मिट्टी के मोल अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए तथा बारह-बारह घण्टे खटने के लिए विवश कर दिया जायेगा। निजीकरण के बाद शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएं आम मध्यवर्ग तक के लिए भी कठिन हो जायेंगी। करोड़ों छोटे उद्यमी तबाह होकर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में शामिल हो जायेंगे। सभी क्षेत्रों में देशी-विदेशी इजारेदारी का वर्चस्व निर्णायक तौर पर स्थापित हो जायेगा। लगातार बढ़ते विदेशी कर्जों का ब्याज चुकता करते रहने के लिए मेहनतकश जनता के रंध्र-रंध से खून निचोड़ा जायेगा। धनी और गरीब आबादी के बीच की खाई पहले से कई गुनी अधिक बढ़ जायेगी। बेरोजगारों की 25 करोड़ की मौजूद आबादी में कई करोड़ का और इजाफा हो जायेगा।

उदारीकरण की नीतियों की ये परिणतियां भारत से पहले लातिन अमेरिकी देशों में सामने आने लगी हैं। भारत में भी इनसे पैदा होने वाले भारी ''सामाजिक असन्तुलन और उथल-पुथल'' के खतरों की ओर बुर्जुआ अर्थशास्त्री और सिद्धान्तकार भी इंगित कर रहे हैं। लेकिन पूंजीवादी विश्व के विकास की अपनी स्वतंत्र आंतरिक गति उनकी इच्छाओं से स्वतंत्र है और उनके तमाम सुझावों के बावजूद वह एक ज्वालामुखी के दहाने की ओर सरकती जा रही है।

पूंजीवादी दायरे के भीतर अब इन नीतियों को उलटा नहीं जा सकता है। यदि इनके विनाशकारी परिणामों से बचना है तो पूंजीवादी दायरे को ही तोड़ना होगा। यह बड़ा प्रश्न है। पर यही असली प्रश्न है जो ज्यादा से ज्यादा फौरी बनता जा रहा है।

तीसरी दुनिया के अन्य देशों की तरह भारत में भी पूंजीवादी जनवाद की असलियत खुलकर सामने आती जा रही है। पूंजीवादी संसदीय जनवाद और फासीवादी स्वेच्छाचारी निरंकुश तंत्र के बीच की विभाजक रेखा धूमिल होती जा रही है। तीसरी दुनिया के बहुतेरे देशों की तरह भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर भी फासीवाद उस शिकारी कुत्ते की तरह मौजूद है जिसकी जंजीर शासक वर्गों के हाथ में है। इतिहास से सबक लेकर, तीसरी दुनिया के देशों के शासकवर्ग और साम्राज्यवादी, संसदीय व्यवस्था के ढांचे के बरकरार रखते हुए फासीवाद का ''नियंत्रित'' इस्तेमाल कर रहे हैं। बुर्जुआ संसदीय राजनीति के मुख्य रंगमंच पर भाजपा की भूमिका को समझने के लिए इस परिप्रेक्ष्य को जानना-समझना जरूरी है और कांग्रेस तथा अन्य संसदीय पार्टियों की भूमिका को समझने के लिए भी यह जरूरी है।

●

उदारीकरण-निजीकरण के जिस दूसरे दौर की नीतियों पर आज साम्राज्यवादियों और भारतीय शासक वर्गों की आम सहमति है, वे ही नीतियां इस बात की भी जमीन तैयार कर रही हैं कि इन नीतियों से लाभ उठाने वाले वर्गों और इन्हें लागू करने वाली राज्यसत्ता के खिलाफ निर्णायक क्रान्तिकारी संघर्ष छेड़ने के प्रश्न पर सभी शोषित-उत्पीड़ित-वंचित वर्गों के बीच भी आम सहमति बने। आगे यह काम और तेजी से होगा।

शासक वर्गों द्वारा जनता के खिलाफ जो आर्थिक युद्ध छेड़ा गया है, उसका लगातार बढ़ता हुआ दबाव जनता चुपचाप झेलती रहे, यह हो ही नहीं सकता। वह उठ खड़ी होगी, इसे शासक वर्ग भी जानते हैं। वे भी तैयार हो रहे हैं। वे पहले से ही संगठित हैं। उनके पास राज्यसत्ता की ताकत है। उनके पीछे विश्व पूंजी की आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक शक्ति है। जनता की हिरावल क्रान्तिकारी शक्तियां अभी भी बिखरी हुई हैं। पर आने वाले दिनों के संभावित जनउभार उनके लिए भी नये क्रान्तिकारी संघर्षों की पाठशाला बनेंगे। नई सदी के शुरुआती दशक तूफानी उथल-पुथल से भरे होंगे। इसके अतिरिक्त क्षितिज पर कोई संभावना भी नहीं दीखती।

यह समय इन्हीं संभावनाओं की पहचान का समय है!

विशेष लेख

जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां

सत्यम वर्मा, कात्यायनी, ओमप्रकाश सिन्हा

साथियो,

''साझा सांस्कृतिक अभियान'' के पीछे की चिन्ताएं और सरोकारों के साथ हमारी आम तौर पर सहमति है। प्रगतिशील, क्रान्तिकारी, वैज्ञानिक, जनपक्षधर संस्कृति की तमाम धाराओं-उपधाराओं को नया संवेग प्रदान कर एक प्रचंड-प्रवाह में किस तरह समेकित किया जा सकता है, यही हमारी साझा चिन्ता है और शायद हमारे विमर्श का केन्द्रबिन्दु भी।

सही ढंग से कार्यभारों के निर्धारण के लिए तमाम समस्याओं-चुनौतियों के बीच से बुनियादी व केन्द्रीय समस्या व चुनौती को रेखांकित करना जरूरी हो जाता है। तभी प्रमुख कार्यभार और सहायक कार्यभार तय किये जा सकते हैं। इसके लिए सबसे पहले अपने देशकाल की, इतिहास के उस दौर की, जिसमें हम जी रहे हैं, अभिलाक्षणिक विशिष्टताओं को रेखांकित करना जरूरी है।

आज शायद हम सभी सांस्कृतिक-कलात्मक सृजन के क्षेत्र में एक तरह का सापेक्षिक गतिरोध महसूस कर रहे हैं। ऐसा महसूस कर रहे हैं कि प्रतिगामी संस्कृति के निरन्तर नये-नये हमलों का प्रभावी प्रतिकार नहीं हो पा रहा है, और यह कि व्यापक जन-समुदाय पर (प्रधानत: नई तकनोलॉजी और तथाकथित संचार-क्रान्ति के जरिए) शासक वर्ग की संस्कृति और जीवन-दृष्टि का प्रभाव जितना सदी के आखिरी दशक में पड़ता दिखाई दे रहा है, उतना पहले कभी नहीं दीखता। पहले शासक वर्ग की संस्कृति यदि ''शीतयुद्ध की गोलन्दाजी'' कर रही थी तो शीतयुद्धोत्तर काल में वह विचारधारात्मक विषैली-धुंध फैलाकर हमारी दृष्टि को छीनने की कोशिश कर रही है, जनसंस्कृति के पर्यावरण से प्राणवायु सोख लेने की कोशिश कर रही है। जनता के बीच निष्क्रियता, किंकर्तव्यविमूढ़ता, नियतिवाद, निराशा और प्रतिगामी विचारों का प्रभाव हावी दीखता है।

हमारे ख्याल से इसका मूलभूत या सर्वोपरि कारण यह है कि हमारी दुनिया आधुनिक इतिहास के **अभूतपूर्व विपर्यय के दौर से,** सामाजिक क्रान्तियों के **अभूतपूर्व पराजय के दौर से,** एक निस्सार, वृद्ध, मानवद्रोही व्यवस्था के अभूतपूर्व पुन:स्थापन के दौर से गुजर रही है। साथ ही, यह समय दो युगों के बीच का **ऐतिहासिक सन्धिकाल भी है, संक्रमण-काल भी है। और साथ ही, यह पूंजीवादी विश्व के भीतर कई एक नई-नई सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं-प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव का भी दौर है।** मुख्यत: इन तीनों ही कारणों से सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का परिदृश्य जटिल हुआ है। समस्याओं की सुसंगत समझ कायम करने की जगह लकीर की फकीरी करने की प्रवृत्ति ने, तमाम लोकरंजकतावादी ''प्रयोगधर्मा'' मुक्त चिन्तकों के नीमहकीमी नुस्खों ने और वामपंथी प्रगतिशील सांस्कृतिक जगत में चौतरफा व्याप्त अवसरवाद एवं वैचारिक-सैद्धान्तिक कंगाली ने सांस्कृतिक परिदृश्य को और अधिक निराशाजनक बनाने में कुछ कम योगदान नहीं किया है।

बहरहाल, हम सबसे पहले वस्तुगत परिस्थितियों में आये उपरोक्त परिवर्तनों की क्रमश: चर्चा करेंगे, जिनके चलते हमारे सामने नई चुनौतियां और नये कार्यभार आ उपस्थित हुए हैं।

●

आज हम विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय के जिस दौर के साक्षी हो रहे हैं, वह कम से कम आधुनिक इतिहास के संदर्भ में अभूतपूर्व है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। बुर्जुआ क्रान्तियों के शताब्दियों लम्बे युग में पुन:स्थापन के जो दौर आये, वे न तो इतने लम्बे व सघन अन्धकारमय थे, न ही विचारधारात्मक धरातल पर पुनर्जागरण और प्रबोधन (ज्ञान-प्रसारण) की परम्परा का उन दौरों में विस्मृति के अंधेरे में लोप हो सका था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक, बुर्जुआ क्रान्तियों की अन्तिम विजय सुदृढ़ीकृत होती है और सर्वहारा संघर्षों की शुरुआत हो जाती है। **पेरिस कम्यून** तक आते-आते यह स्पष्ट हो जाता है कि **अब जो नई दुनिया निर्मित हुई है, उसके गतिमान इतिहास की धुरी सर्वहारा क्रान्तियां हैं।**

शौर्यपूर्ण पेरिस कम्यून कुचल दिया गया, लेकिन यह पराजय सर्वहारा वर्ग के आत्मिक-वैचारिक जगत में पराजय-बोध नहीं भर पाई। बूढ़े यूरोप को सर्वहारा क्रान्तियों का हौव्वा फिर भी सताता रहा। शेली-वर्ड्सवर्थ की परम्परा हाइने, वेयेर्त-फ्रैलिग्राथ की कविता में विस्तार पा रही थी। जोला-बाल्जाक आदि के क्रान्तिकारी यथार्थवाद का वारिस उन्नीसवीं सदी का रूसी गद्य बन रहा था। इधर-उपनिवेशों में राष्ट्रीय विचारों और संस्कृति की गर्भावस्था पूरी हो रही थी और उन राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों की प्रबोधक पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी, जिन्हें कमोबेश, बीसवीं सदी के तीसरे चतुर्थांश तक विश्व सर्वहारा क्रान्ति के साथ ही गुंथे रहना था, उसका घटक बने रहना था। कुल मिलाकर, पेरिस

'साझा सांस्कृतिक अभियान' की ओर से इलाहाबाद में 9-11 अप्रैल 1999 तक 'साझा सांस्कृतिक आन्दोलन की समस्याओं और सम्भावनाओं' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में 'राहुल फाउण्डेशन' व 'प्रत्यूष' सांस्कृतिक मंच की ओर से प्रस्तुत अवस्थिति-पत्र

कम्यून की पराजय की शिक्षाओं ने क्रान्ति की धुरी को मजदूरों के रक्त से मजबूत ही बनाने का काम किया और बीसवीं सदी में एक जीवित, संवेगवान दुनिया ने प्रवेश किया।

अक्टूबर क्रान्ति की तोपों के धमाकों ने पूरी दुनिया में मेहनतकश जनता के संघर्षों को नया संवेग तो दिया ही, राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों ने भी इस सदी के पूर्वार्द्ध में उपनिवेशवाद के जर्जर दुर्गों पर अनवरत प्रहार जारी रखा। तीस के दशक की महामन्दी, फासीवाद का प्रादुर्भाव और फिर लाल सेना के हाथों उसे धूल में मिला दिया जाना, पूर्वी यूरोप का साम्राज्यवादी विश्व से विच्छेद, चीनी क्रान्ति तथा महाबली अमेरिका का मानमर्दन करते हुए कोरिया, वियतनाम और क्यूबा की क्रान्तियां—इन सभी घटनाओं का अनवरत क्रम विश्व स्तर पर पूंजीवादी शिविर के पराजय, संकट और व्यापक जनमुक्ति के विजयोन्मुख अभियान का द्योतक था। ख्रुश्चोवी-विश्वासघात ने सर्वहारा वर्ग की विजय यात्रा को बाधित करने के साथ ही राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों की राह में भी अवरोध खड़े किये और एक दौर ऐसा भी रहा जब दो महाशक्तियों के शिविरों के उग्र टकराव से पूरी दुनिया पर तीसरे महायुद्ध का भी खतरा मंडराता रहा। पर इतिहास की इन प्रतिगामी प्रवृत्तियों के सामने अहम पुरोगामी प्रवृत्ति के तौर पर चीन में समाजवादी संक्रमण नित-नवीन प्रयोग करता, कठिन वर्ग-संघर्ष से गुजरता आगे डग भर रहा था। चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के खतरों और पूंजीवादी पथगामियों के विरुद्ध जारी जिस **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** ने साठ के दशक में भारत में **नक्सलबाड़ी** के क्रान्तिकारी जनउभार को विचारधारात्मक-आत्मिक उत्प्रेरणा देने का काम किया था, उसी ने उस दौर में पूरी दुनिया में संसदमार्गी-अर्थधर्मी छद्म वाम के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष के लिए सर्वहारा क्रान्तिकारियों को प्रेरणा एवं दिशा दी थी, अफ्रीका-लातिन अमेरिका-एशिया के मुक्ति युद्धों को भौतिक-वैचारिक मदद दी थी तथा पश्चिमी विश्व के विद्रोही युवाओं, मजदूरों और स्त्रियों के आन्दोलनों के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बना था। कहना न होगा कि इस परिदृश्य के निर्माण में हिन्दचीन में जारी अमेरिकी साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-युद्धों का भी हाथ था।

सत्तर के दशक में जब डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटना और पेट्रोडालर परिघटना पूंजीवादी विश्व की दीर्घकालिक मंदी और गतिरोध की सूचना दे रहे थे, उस समय ईरान, निकारागुआ की क्रान्तियां और लातिन अमेरिका के जनमुक्ति संघर्ष उपनिवेशवाद की ताबूत में आखिरी कीलें ठोंक रहे थे, नामीबिया, दक्षिण अफ्रीका और फिलिस्तीन का भविष्य साफ हो चुका था और अफगानिस्तान में सोवियत सैन्य विस्तारवाद दलदल में धंसते हाथी की नियति को प्राप्त हो चुका था। चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति भी 1976 तक जारी रही।

कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी में 1917 से कमोबेश सातवें दशक के उत्तरार्द्ध तक कुछ छोटे-छोटे कालखण्डों को छोड़कर, **विश्व इतिहास के पटल पर क्रान्ति की धारा प्रतिक्रान्ति की धारा पर या तो हावी रही या उसे बराबरी की टक्कर देती रही।** यहां यह गिना पाना तो संभव नहीं, सिर्फ इंगित किया जा सकता है कि विश्व-स्तर पर इतिहास के इस लम्बे काल-खण्ड में ह्रासोन्मुख पूंजीवादी प्रवृत्तियों के समान्तर कला-साहित्य-नाटक-सिनेमा आदि सभी क्षेत्रों में जनपक्षधर सर्जनात्मकता के कितने युगान्तरकारी, स्मारकीय प्रतिमान निर्मित हुए। निस्संदेह, ऐसा कहने के लिए हमें उस विस्मृति के विरुद्ध काफी संघर्ष करना होगा, जिसने आज हमें हर चीज के बारे में संशयवादी और निषेधवादी बना डाला है। आज, सदी के अंतिम वर्ष में रुककर, जब हम आलोचनात्मक विवेक के साथ सिंहावलोकन करते हैं तो पाते हैं कि विश्व इतिहास का जो गतिरोध नवें दशक के अन्त में और इस दशक के प्रारम्भ में पूर्वी यूरोप के देशों की कथित सर्वहारा सत्ताओं के पराभव और सोवियत संघ के विघटन के साथ एकदम सतह पर दीखने लगा था, उसकी शुरुआत तो वस्तुत: आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में ही हो चुकी थी, जब 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन में ''बाजार समाजवाद'' के नाम पर राजकीय और निजी क्षेत्रों की मिली-जुली पूंजीवादी व्यवस्था कायम हो गई थी, जिसके स्पष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक परिणाम भी अब वहां नजर आने लगे हैं। जहां तक सोवियत संघ की बात है, वहां राजकीय इजारेदार पूंजीवाद तो ख्रुश्चेव के नेतृत्व में 1956 में ही बहाल किया जा चुका था, गोर्बाचोव-येल्त्सिन काल में सिर्फ यह हुआ कि राजकीय इजारेदार पूंजीवादी तंत्र का स्थान पश्चिमी ढंग के, नवक्लासिकी, निजी पूंजीवाद ने ले लिया।

यहां हमारा मन्तव्य न तो समाजवाद की समस्याओं और पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों की चर्चा करना है, न ही यह सम्भव है। इस सम्बन्ध में हम बस सूत्रवत् यह कहना चाहेंगे कि (1) क्रान्तियों की हार या कुछ समय का गतिरोध अपरिहार्यत: विचारधारा की पराजय या असफलता का सूचक नहीं, (2) इतिहास में पहले भी क्रान्तियों के प्रारम्भिक संस्करण असफल होते रहे हैं और फिर सर्वहारा क्रान्तियां तो सर्वाधिक आमूलचूल क्रान्तियां होने के चलते जाहिरा तौर पर अधिक जटिल होंगी और इनका मार्ग अधिक चढ़ाव-उतार भरा होगा (3) समाजवादी संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि में, देश विशेष में (और विश्व स्तर पर भी) वर्ग-शक्ति संतुलन के पूंजीवाद के पक्ष में हो जाने और पूंजीवादी पुनर्स्थापना की ठोस वस्तुगत संभावनाओं पर काफी चर्चा अतीत की सैद्धान्तिक बहसों में होती रही है, जिसके बारे में अज्ञान के चलते भी निराशा और मोहभंग की स्थिति पैदा होती रही है।

राजनीतिक इतिहास के इस संक्षिप्त विहगावलोकन का प्रसंग यहां सिर्फ सीमित उद्देश्यों से आया है। हम यहां कहना यह चाहते हैं कि **उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के आठवें दशक तक सर्वहारा क्रान्तियां ही वह धुरी बनी रहीं, जिससे विश्व-इतिहास गतिमान रहा।** इसी धुरी के इर्दगिर्द ही राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध के कार्यभार भी अपनी ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर पूरे हुए।

आज हम इतिहास के ऐसे दौर में जी रहे हैं, **जब विश्व सर्वहारा क्रान्ति का एक चक्र समाप्त हुआ है और नया चक्र अभी शुरू नहीं हुआ है।** तय है कि दुनिया यहीं रुकी नहीं रहेगी, न ही वापसी की यात्रा कुछ इस तरह की होगी कि हम गुजरी हुई शताब्दियों में वापस लौटेंगे। आज की दुनिया में ही धरती के अतल गर्भ में शुरू हो रही उथल-पुथल के जो संकेत सतह पर मिल रहे हैं, वे बताते हैं कि इस अंधेरे दौर को सर्वहारा क्रान्तियों के नये, उन्नत संस्करणों का नया चक्र समाप्त करेगा। पर इतना तय है कि वर्तमान संक्रमण-काल में परिवर्तनकामी आत्मगत शक्तियों के विघटन और पुनस्संगठन की प्रक्रियाएं राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक पटल पर साथ-साथ जारी है और इनमें भी, फिलहाल तो विघटन की प्रक्रिया ही हावी दीख रही है। परिवर्तनकामी शक्तियों के बिखराव-ठहराव-विघटन की स्थिति ने और साथ ही एक निस्सार, वृद्ध, मानवद्रोही व्यवस्था के जीवन को मिले विस्तार ने आज विश्व-स्तर पर सांस्कृतिक परिदृश्य को प्रभावित किया है। पूंजीवादी संस्कृति की रुग्णताएं आज जनसंचार के अधुनातन उपकरणों के सहारे भांति-भांति के नये-नये रूप धरकर जनसमुदाय के दिलो-दिमाग तक पहुंच रही हैं और व्यापक आबादी मानो इसका एक निष्क्रिय उपभोक्ता-सी बन कर रह गई है, क्योंकि **संस्कृति के सक्रिय कारक या उपादान के रूप में उसे गतिमान बनाने वाली ताकतें आज पीछे धकेल दी गई हैं।**

जाहिरा तौर पर, हम यह चर्चा ही इसलिए कर रहे हैं कि इस स्थिति को बदलने वाली मनोगत शक्तियों के हस्तक्षेप की दिशा तय की जा सके और सांस्कृतिक मोर्चे पर प्रत्याक्रमण की एक ठोस कार्य-योजना की दिशा में, प्रयोग और वाद-विवाद-संवाद के जरिए आगे बढ़ा जा सके। पर इससे पहले जरूरी है कि वर्तमान सांस्कृतिक संकट और चुनौतियों के दो अन्य बुनियादी कारणों की भी चर्चा कर ली जाये।

वर्तमान सांस्कृतिक संकट के जिस **दूसरे कारण** का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह पहले से ही जुड़ा हुआ है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, यह दो युगों के बीच का ऐतिहासिक सन्धिकाल है, संक्रमण की अवधि है।

संक्रमण का काल यह दो सन्दर्भों में है। एक तो इस सन्दर्भ में कि 1848 में पेरिस के मजदूर-विद्रोह से लेकर पेरिस कम्यून, अक्टूबर क्रान्ति से होते हुए चीन की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तक की विश्व-ऐतिहासिक यात्रा के बाद सामाजिक प्रयोगों का क्रम फिलहाल रुका-सा है, पर भांति-भांति के विभ्रमों और पुराने विचारों को नये मुलम्मे में प्रस्तुत करने के साथ ही, पुराने प्रेतों के फिर से जाग उठने के श्मशानी कोलाहल के बीच, मानव जाति के भविष्य के प्रति विज्ञान सम्मत आस्था से लैस लोग हर मोर्चे सहित, सांस्कृतिक मोर्चे पर भी अतीत का समाहार करने की कोशिश कर रहे हैं, नयी-नयी परिघटनाओं -प्रवृत्तियों को समझने की और अपना रास्ता ढूंढ निकालने की कोशिश कर रहे हैं। वर्तमान आयोजन भी शायद इसी उद्यम की एक कड़ी है।

दूसरे, संक्रमण का काल यह इस सन्दर्भ में भी है कि वर्तमान साम्राज्यवादी विश्व का उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद वाला दौर तो पीछे छूट चुका है और एक नया दौर शुरू हो चुका है, पर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर इस नये दौर की सभी अभिलाक्षणिकताएं और सभी परिणतियां अभी स्पष्ट उभरकर सामने नहीं आयी हैं, यह स्थिति वर्तमान सांस्कृतिक पटल को भी जटिल बना रही है।

सांस्कृतिक मोर्चे पर उपस्थित नयी चुनौतियों के जिस **तीसरे कारण** की हमने ऊपर चर्चा की है वह यह कि यह पूंजीवादी विश्व के भीतर कई एक नयी-नयी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव का दौर है। यूं तो यह अलग से काफी विस्तृत चर्चा की मांग करता है, पर यहां विषय और समय की सीमा में कुछ चर्चा आवश्यक है।

यह सही है कि आज भी हम साम्राज्यवाद के ही युग में जी रहे हैं, पर विश्व पूंजीवाद की कार्य-प्रणाली में जो कुछ अहम् बदलाव आये हैं। उन्हें जाने-समझे बिना वैचारिक-सांस्कृतिक जगत में पैदा हुए नये-नये वादों, शून्यवाद के नये-नये ''वृत्तान्तों'' और नये-नये मानवद्रोही ''महाख्यानों'' के तथाकथित उत्तर-ऐतिहासिक, उत्तर-आधुनिक, उत्तर-औपनिवेशिक परिदृश्य को भी नहीं समझा जा सकता है।

बहुत थोड़े में यदि कहना हो तो कहा जा सकता है कि आज के **आर्थिक नवउपनिवेशवाद** के नये दौर में एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के अर्द्धऔद्योगीकृत पिछड़े देश साम्राज्यवादी देशों के जबरदस्त निचोड़ू शोषण के शिकार तो हैं, पर यह शोषणकारी सम्बन्ध मुख्यत: राजनीतिक शासन या नियन्त्रण के जरिये काम नहीं करता है जैसाकि उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के दौर में था। आज भी राजनीतिक-सामरिक दबाव का प्रयोग तो होता है, पर **साम्राज्यवादी शोषण की क्रिया मुख्यत: उस विशाल अंतर के जरिये काम करती है जो उन्नत पश्चिम के देशों और पिछड़े देशों की उत्पादक शक्तियों के स्तरों के बीच बना हुआ है।**

तीसरी दुनिया के जिस पूंजीपति वर्ग ने या जिसके एक हिस्से ने, कभी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों का नेतृत्व किया था और उसमें भागीदारी की थी, उन सबको सत्तासीन होने के बाद पूंजीवादी विकास का ही मार्ग चुनना था। शुरू में राजकीय पूंजीवाद के ''समाजवादी'' मुखौटों का उन्होंने इस्तेमाल किया और अपनी राजनीतिक आजादी को बचाने तथा आर्थिक विकल्पों के विस्तार के लिए उन्होंने अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतियोगिता का भी लाभ उठाया, पर अंतत: उनकी क्रियाशीलता का दायरा विश्व-बाजार ही था जहां उन्हें बड़े चौधरियों की शर्तें माननी ही थीं। नयी तकनोलॉजी, पूंजी और बाजार की अपनी जरूरतें उनको इसके लिए बाध्य कर ही देतीं कि वे अंतत: साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार बन जाएं। यह पूंजीवादी व्यवस्था का तर्क है कि कमजोर उत्पादक शक्तियों वाले देश उन्नत उत्पादक शक्तियों वाले देशों के शिकार बनें। नतीजतन **कल के (बुर्जुआ) राष्ट्रीय नायकों की महा-गाथाओं का अगला भाग खंडित नायकत्व और पराभूत गौरव की दुखान्तकी के रूप में लिखा ही जाना था।**

भारत के ठोस उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, पूंजीवादी विकास करते हुए, नवउपनिवेश बन जाने से बचने के लिए भारत के पूंजीपति वर्ग ने सीमित विदेशी सहायता ली और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम खड़ा करके ''समाजवाद'' के नाम पर पूंजीवादी विकास के लिए पूंजी जनता से उगाही। इसी दौरान राष्ट्रीय बाजार के निर्माण के लिए उसने प्रतिक्रियावादी "प्रशियाई मार्ग" से भूमि सुधार करते हुए धीरे-धीरे प्राक्पूंजीवादी भूमि-सम्बन्धों को भी बदलने का काम किया जिसके परिणामस्वरूप पुराने भूस्वामी ही एक क्रमिक प्रक्रिया में नये पूंजीवादी भूस्वामी बन गये या पूंजीपति और नौकरशाह बन गये तथा साथ ही पुराने धनी काश्तकार भी मुनाफाखोर कुलक बन गये। पुराने मध्यम और गरीब काश्तकार मुक्त होने के बजाय जमीन के स्वामी तो हो गये, पर पूंजी के अभाव में उजड़ कर लगातार सर्वहाराओं की कतारों में शामिल होते रहे। इसी तरह जिन छोटे पूंजीपतियों का रुख औपनिवेशिक काल में उग्र साम्राज्यवाद-विरोधी था, वे अपने आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद पूंजीवाद के उसी तर्क से देशी बड़ी पूंजी और साम्राज्यवादी पूंजी के छोटे साझीदार बन गये। इस पूरी प्रक्रिया में भारतीय समाज के बुनियादी अन्तरविरोध बदल गये। राष्ट्रीय पूंजीपति और कुलक भारतीय जन-क्रान्ति के ढुलमुल सहयोगी भी नहीं रहे। अन्तरविरोध के एक पक्ष में अब पूरी देशी-विदेशी पूंजी खड़ी थी तो दूसरे पक्ष में सर्वहारा वर्ग की शहरी-ग्रामीण आबादी के साथ गांव-शहर की अर्द्धसर्वहारा गरीब आबादी, मध्यम किसान व शहरी मध्य वर्ग। मूलत: यह पूंजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध है जो समाजवादी क्रान्ति की मंजिल का द्योतक है। इसीलिए हमारी यह सोच है कि **संस्कृति के मोर्चे पर भी आज हमारे झंडे पर समाजवाद की संस्कृति के, सर्वहारा संस्कृति के प्रतीक-चिन्ह् अंकित होने चाहिए न कि राष्ट्रीय जनवाद के। यानी भारतीय क्रान्ति की मंजिल में बदलाव के साथ ही सांस्कृतिक मोर्चे के कार्यक्रम में भी बदलाव होना ही होगा।**

आगे चलें, क्योंकि साम्राज्यवाद के नये दौर की नयी अभिलाक्षणिकताओं की चर्चा अभी अधूरी है।

यूं तो पूंजी के भीतर वैश्विक फैलाव की प्रवृत्ति जन्मकाल से ही मौजूद रही है, पर बीसवीं सदी के अंत में इसकी जिन नई प्रवृत्तियों के समुच्चय को भूण्डलीकरण की संज्ञा दी जा रही है, उन्हें अति संक्षिप्त रूप में ही सही, लेकिन जानना जरूरी है ताकि आज पूंजी के दुर्गों से हो रहे सांस्कृतिक हमलों और उनके सांस्कृतिक शस्त्रास्त्रों की भी पहचान की जा सके।

विज्ञजनों के बीच इतिहास के उन पलटे जा चुके पन्नों का ब्यौरा देना अनावश्यक होगा कि उन्नीसवीं सदी के अंत में किस तरह बैंकिंग पूंजी के स्वामी और तमाम अन्य किस्म के मुद्रा पूंजी संचालक पूंजी की पूरी संकेद्रण-प्रक्रिया की चालक शक्ति बन गये और अर्थतंत्र की 'कमाण्डिंग हाइट्स' को नियंत्रित करने लगे, किस तरह पश्चिमी एकाधिकारी घरानों के माध्यम से औद्योगिक गतिविधियों के साथ ही वे उपनिवेशों को भी नियंत्रित करने लगे और किस तरह वित्तीय पूंजी के निर्यात ने दुनिया भर में नये बाजारों के निर्माण व कच्चे माल के स्रोतों पर कब्जे को सुगम बना दिया। साम्राज्यवाद का इस सदी भर का इतिहास—अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा, कई मंदियों और एक महामंदी, दो-दो विश्वयुद्ध, वर्ग संघर्षों व मुक्तियुद्धों के दबाव में उपनिवेशवादी व नवउपनिवेशवादी तौर-तरीकों का परित्याग, डॉलर-गोल्ड स्टैण्डर्ड का बनना और टूटना और फिर सत्तर के दशक से जारी दीर्घकालिक मंदी का ढांचागत संकट—ये सभी ज्ञात इतिहास के पन्ने हैं।

साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी की कार्य-प्रणाली और अपने लिए लगातार संकट पैदा करने-निपटाने के तौर-तरीके तो बुनियादी तौर पर आज भी वही हैं, पर कुछ अहम बदलाव गौरतलब हैं।

उन्नीसवीं सदी के अंत में पूंजी-संचय की प्रक्रिया को नियंत्रित करने वाला 'स्टियरिंग-व्हील' वित्तीय महाप्रभु वर्ग के हाथ में तो आ चुका था, और यह वर्ग औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का बड़ा साझीदार भी बन चुका था, पर वित्त अभी उत्पादन के अधीन या उसी के लिए था। उससे पूर्ण स्वतंत्र नहीं हुआ था। वित्तीय पूंजीपति व औद्योगिक पूंजीपति के टकरावों के बावजूद उनका साझा लक्ष्य उत्पादक पूंजी के मुनाफे को बढ़ाना था। कीन्स के दिये रूपक का इस्तेमाल करें तो सट्टेबाजी उद्योग की सतत धारा पर उठने वाले बुलबुले के समान थी। सत्तर के दशक से इस स्थिति में बदलाव की शुरुआत हुई और अस्सी के दशक तक आते-आते स्थिति यह हो गई कि वित्तीय पूंजी ने वास्तविक आर्थिक उत्पादन की सामान्य भूमिका से पूर्णत: स्वतंत्र होकर सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया और कीन्स ने जिस खतरे की ओर संकेत किया था, हूबहू-वैसे ही, उद्योग सट्टेबाजी के भंवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बन गया। आज पूंजी का जो विश्वव्यापी प्रसार दिख रहा है, वह सट्टेबाजी, मुद्रा-बाजारों में ऋण-सर्जन में सतत वृद्धि और मुद्रा-पूंजी के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन के रूप में है। निवेश आज मुख्यत: शेयरबाजार, बीमा आदि वित्तीय क्षेत्रों और विज्ञापन, मीडिया आदि में हो रहा है। वास्तविक उत्पादक कार्रवाइयों में निवेश बहुत ही कम, एक चौथाई से भी कम हो रहा है। पूंजी के इस हद तक परजीवी, परभक्षी, अनुत्पादक और जुआड़ी चरित्र के साक्षी साम्राज्यवाद की थीसिस के प्रस्तोता लेनिन नहीं बने थे और न ही उनके उत्तराधिकारी। **यह सदी के अंतिम चतुर्थांश की विशिष्ट परिघटना है। आज विश्व स्तर पर बुर्जुआ जनवाद के रहे-सहे मूल्यों के निश्शेष होने, एक आम प्रवृत्ति के रूप में भांति-भांति की नवफासीवादी राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सिर उठाने और साहित्य-कला-संस्कृति के दायरे में घोर अतर्कपरकता, घोर माल-अंधभक्ति (कमोडिटी-फेटिशिज्म) घोर निरंकुशता, घोर मानवद्रोह और कलावाद-रूपवाद के नये-नये बेशर्म संस्करणों की जमीन यही भूमण्डलीय जुआड़ी ऊसर-वंध्या पूंजीवाद है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इसके पहले थोड़ी और सामाजिकार्थिक विवेचना।**

आज विश्व स्तर पर पूंजी का विकास शेयर बाजारों और जुआघरों का 'बाई प्रोडक्ट' बन जाने के चलते ही एक अजीब अनिश्चय भरी आशंका लगातार बनी रहती है कि कब कोई 'काला सोमवार' अमेरिका में टपककर पूरी विश्व अर्थव्यवस्था को हिला देगा, कब जापान दयनीय बन जायेगा और कब 'एशियाई शेर' बकरी की तरह मिमियाने लगेंगे। पूंजी का विकास यदि वायुपूरित गुब्बारा हो, तो उसे फटना भी तो होगा ही।

आज विकसित पूंजीवादी विश्व का अर्थतंत्र लगभग ढाई दशक लम्बे ठहराव का शिकार है। कम्प्यूटर और संचार व्यवस्थाओं की आधुनिक तकनोलॉजी जैसे प्रौद्योगिक उत्प्रेरकों से लेकर शीतयुद्धोत्तर काल के राजनीतिक पारिस्थितिक उत्प्रेरकों तक ने ठहरावग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं को कोई गति नहीं दी है। इधर अपनी जरूरतों, संकटों और मजबूरियों में तीसरी दुनिया के देशों ने ''फण्ड-बैंक-गैट'' निर्देशित नुस्खों-नीतियों को स्वीकार कर साम्राज्यवादी पूंजी के लिए अपने बाजारों को पूरी तरह खोलने का काम काफी हद तक पूरा कर लिया है, पर पहले से ही औपनिवेशिक-नवऔपनिवेशिक लूट से निचुड़े इन देशों का बाजार पश्चिमी पूंजी के अजीर्ण रोग को दूर करने में अक्षम सिद्ध हो रहा है। साथ ही, एक पहलू यह भी है कि गलाकाटू होड़ में लगे साम्राज्यवादी इतने विवेकसम्मत व नियोजित ढंग से तो कदापि काम नहीं कर सकते कि वे पहले इन देशों में नियोजित पूंजीवादी विकास में दूरगामी निवेश करें और फिर निचोड़ें। ज्यादा से ज्यादा और जल्दी से जल्दी निचोड़ लेने की होड़ में यहां भी वे बड़े पैमाने पर अनुत्पादक गतिविधियों में ही निवेश कर रहे हैं, संभावना-सम्पन्न क्षेत्रों में पूंजी का रेलमपेल करके मंदी की स्थिति ला दे रहे हैं, उन्नत मशीनों के जरिए कम लोगों से अति लाभ निचोड़ने के लिए भारी आबादी की रोजी-रोटी छीन रहे हैं और कृषि के विशाल क्षेत्र से लगातार इतनी भारी आबादी को निर्ममता से उजाड़ रहे हैं, जिन्हें विनिर्माण के क्षेत्र में खपाने की गुंजाइश है ही नहीं। पूर्वी यूरोपीय देशों, सोवियत संघ के घटक देशों और चीन में पूंजी-निवेश करके संकटों से निजात पाने की गुंजाइश एक हद तक मौजूद है, पर उपरोक्त अराजक-अनियंत्रित स्थिति के ही कारण, इन देशों में पूंजी-निवेश से कुछ राहत मिले, इससे पहले ही नग्न पूंजीवादीकरण की परिणतियों ने सामाजिक विस्फोट का संकट लाकर खड़ा कर दिया है।

पूंजी के वर्तमान भूमण्डलीकरण ने पूरे विश्व-पूंजीवादी तंत्र के अभूतपूर्व संकटों के कुल योग को अत्यधिक संगठित ढंग से कमजोर देशों पर थोप दिया है। ये देश साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी पहले से भी अधिक बने हुए हैं। इसीलिए हमारा मानना है कि **विश्व विजय की डींगें हांकता साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है, बल्कि पहले हमेशा से अधिक कागजी। यह अपनी जड़ता की शक्ति से जीवित है और इसलिए जीवित है कि इसे कब्र में उतारने वाली मनोगत शक्तियों को एक विश्व-ऐतिहासिक पराजय के बाद सम्भलने-तैयार होने के लिए कुछ समय की दरकार है। तब तक यह टिका रहेगा, क्योंकि मरणासन्न व्यवस्थाओं का पतन भी अपने-आप नहीं हो जाता।** अपने इसी गहरे ढांचागत, निरुपाय संकट के कारण समाजवाद की पराजय पर साम्राज्यवादियों की विजयोल्लसित किलकारियां गले की घुरघुराहट बनकर रह गईं और तमाम उत्तर-ऐतिहासिक, उत्तर आधुनिक, उत्तर-मार्क्सवादी दार्शनिक-सांस्कृतिक विमर्श का अन्त आज एक गहन अवसाद और नैराश्य में ही हो रहा है। **जॉर्ज सोरेस, जॉक अत्ताली, लेस्टर थरो** और **रॉबर्ट रीच** जैसे पूंजीवादी चिन्तक भी लगातार हाथ मलते हुए कह रहे हैं कि पूंजीवाद अब बर्बरता और विनाश के अतिरिक्त मानवता को कुछ भी देने की क्षमता नहीं रखता। यह अनायास नहीं है कि जो **फ्रांसिस फुकोयामा** समाजवाद की पराजय को उदारवादी-पूंजीवादी जनतंत्र की स्थायी विजय के रूप में देखता है, उसका भी नजरिया पश्चिमी दुनिया के भविष्य के प्रति निराशापूर्ण ही है और उसके कंठ से **स्पेंग्लर** की प्रतिध्वनि फूटती

प्रतीत होती है। **यह भी अनायास नहीं है कि उत्तर-आधुनिकतावादी विचार-सरणियां प्रबोधन-काल की तार्किकता और विज्ञान-दृष्टि को नकारती हुई नीत्शे पर प्रशंसा-पुष्प बरसाती हैं जिसके दर्शन में फासीवाद के वैचारिक उत्स मौजूद थे।**

●

मोटे तौर पर, हमारे आज के विश्व-ऐतिहासिक दौर की यही विशिष्टताएं हैं, जिनके मद्देनजर सांस्कृतिक मोर्चे पर हमें अपने सामने उपस्थित चुनौतियों की पहचान करनी है और अपने कार्यभार तय करने हैं।

मुक्त चिन्तन, पक्षधर भाषा से परहेज, नई-नई जुमलेबाजियों और चौंकाऊ नारे उछालने तथा टुच्ची सर्जनात्मकताओं के यशोगान के इस जमाने में पुराने फैशन के वामपंथी संस्कृतिकर्मी कहलाने का जोखिम मोल लेकर भी हम एक युगीन सत्य को दुहरा देना जरूरी समझते हैं कि हमारे समग्र संस्कृति कर्म की सार्थकता का मूल मानक आज भी यही है (और इस बात को आज रेखांकित करने की जरूरत है) कि **यह हमारे अपने देश-काल में वर्ग-संघर्ष की चेतना विकसित करे, सांस्कृतिक मोर्चे पर, वैचारिक-सौन्दर्यशास्त्रीय धरातल पर वर्ग-संघर्ष को तीखा करने का काम करे।**

1930-31 में गोर्की ने लिखा था: "श्रम की दुनिया में क्रान्ति की आवश्यकता की चेतना उत्पन्न हो गई है। साहित्य का यह कर्तव्य है कि वह उसकी मदद करे जो विद्रोह करने के लिए उठ खड़ा हुआ है।" वह काल अक्टूबर क्रान्ति के बाद समाजवादी निर्माण का समय था और वह समय था जब पूंजीवादी विश्व पर महामंदी ने तड़ित-प्रहार किया था। आज हम लेखक-कवि-संस्कृतिकर्मी विश्व सर्वहारा क्रान्ति की अभूतपूर्व पराजय, इतिहास की पुरोगामी धारा के अभूतपूर्व विपर्यय और पश्चगामी धारा के अभूतपूर्व पुन:स्थापना काल में अपनी चिंताओं-सरोकारों को साझा कर रहे हैं तो ऐसे समय में हमारा कहना है **'हमें श्रम की दुनिया में क्रान्ति की आवश्यकता की वस्तुगत अपरिहार्यता को एक बार फिर आत्मगत रूप से अनुभूत आवश्यकता बनाना है। साहित्य का, समग्र संस्कृति कर्म का यह कर्तव्य है कि वह लोगों को तैयार करे कि वे एक बार फिर विद्रोह के लिए उठ खड़े हों।'**

इसे ही हम एक **नये सर्वहारा पुनर्जागरण** और एक **नये सर्वहारा प्रबोधन** (एनलाइटेनमेण्ट) के फौरी कार्यभार के रूप में निरूपित करते हैं। **''यह सर्वहारा वर्ग की अपनी ऐतिहासिक विशिष्टता है कि इस नये सर्वहारा पुनर्जागरण के पीछे शताब्दियों लम्बा अंधकार-युग नहीं है। संघर्ष के एक चक्र की समाप्ति के साथ ही इतिहास का यह सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग अपनी विचारधारा के बारे में फैलाये गये तमाम विभ्रमों की धूल-राख को उड़ाकर नवजागरण का कार्य कर रहा है, उसे व्यापक मेहनतकश अवाम तक पहुंचाने की चेष्टाओं द्वारा एक नये प्रबोधन का काम कर रहा है...'' (*'अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं': दीपायन बोस*)। सांस्कृतिक मोर्चे पर भी हमें आज 'नये संघर्षों को गौरवमण्डित करने के लिए', 'सम्मुख उपस्थित कार्यभार को कल्पना में वृहद आकार देने के लिए', 'एक बार फिर क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने के लिए**' अतीत के संघर्षों की आत्मा को पुनरुज्जीवित करना है।

राजनीति आर्थिक संबंधों की सर्वाधिक घनीभूत अभिव्यक्ति होती है, अत: तय है कि समाज की आर्थिक आधारशिला को बदलने के लिए राजनीतिक अधिरचनात्मक दायरे की सरगर्मियों का ही सर्वोपरि महत्व होगा। पर संस्कृति चूंकि समाज के विकास की मंजिल-विशेष तक उन समस्त भौतिक-आत्मिक मूल्यों का योग होती है, जो कोई वर्ग अपने सामाजिक-ऐतिहासिक व्यवहार की प्रक्रिया में अतीत और वर्तमान से अर्जित करता है तथा भविष्य को सौंपता है; अत: सांस्कृतिक दायरे के भीतर की सचेतन-संगठित सक्रियता उस पूरे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की एक बुनियादी कड़ी होती है जिसका 'मोहड़ा' या इंजन राजनीतिक क्रान्ति होती है। इन अर्थों-संदर्भों में सांस्कृतिक क्रान्ति की सतत प्रक्रिया राजनीतिक क्रान्ति के पहले से चलती रहती है और बाद तक जारी रहती है तथा **परिवर्तन की उस पूरी प्रक्रिया के दौरान अर्जित मानवीय सार-तत्व को अभिव्यक्त करती है, उसका प्रतिनिधित्व करती है।**

सांस्कृतिक अधिरचना का यह आम महत्व उस समय अतिविशिष्ट हो जाता है, जब एक नये नवजागरण और प्रबोधन के कार्यभारों को एक साथ अंजाम देना है और साथ ही संक्रमणकालीन समाज के वस्तुगत यथार्थ और वैचारिक-सांस्कृतिक अधिरचना को समझकर अपनी भूमिका तय करनी है। ऐसे में हमारा दायित्वबोध इतिहास-बोध की सहायता लेता है।

हम समझते हैं कि आज सांस्कृतिक-साहित्यिक दायरे में भी सर्वोपरि जरूरत वैचारिक सफाई की है, वैचारिक-सैद्धांतिक बहसों और विमर्श की है, सांस्कृतिक मोर्चे पर हो रहे विचारधारात्मक आक्रमणों का सही-सटीक वैज्ञानिक जवाब देने की तथा उतने ही वैज्ञानिक 'अप्रोच' के साथ विचारधारात्मक प्रत्याक्रमण की है।

यह बात सांस्कृतिक मोर्चे के लिए भी पूरी तरह लागू होती है कि **नई तैयारियां हर हमेशा विचारधारात्मक धरातल से ही की जा सकती हैं।** दिदरो-वाल्तेयर आदि के सैद्धांतिक-साहित्यिक कृतित्व से फ्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति की चेतना के बुनियादी तन्तु निर्मित हुए और उन्नीसवीं सदी के क्रान्तिकारी रूसी चिन्तकों-लेखकों ने रूसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के लिए चेतना तैयार की। आज के समय में, उन्नत तकनोलॉजी के सहारे शासक वर्ग चेतना और विचार के धरातल पर सड़े हुए विचारों को अतिउन्नत और अतिप्रभावी ढंग से प्रस्तुत करके जो जंग छेड़े हुए है, उस दृष्टि से यह बात और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

इस संदर्भ में हम एक भटकाव की चर्चा करेंगे। वर्तमान सांस्कृतिक परिदृश्य से क्षुब्ध-चिन्तित कुछ संस्कृतिकर्मी प्राय: अज्ञान के अंधेरे में भटकते, दिग्भ्रमित जनसमुदाय तक सही विचारों के ''सरल-संक्षिप्त गुटका संस्करण'' पहुंचाने के लिए इतने चिन्तित हो उठते हैं कि अहम् वैचारिक प्रश्नों पर बहस या सफाई को भी ''मुट्ठी भर बुद्धिजीवियों तक सीमित गैरजरूरी मशक्कत'' करार दे देते हैं। हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि सैद्धांतिक-वैचारिक वाद-विवाद, विमर्श और पूरी तैयारी के बिना व्यापक जनसमुदाय के लिए वैज्ञानिक दृष्टि युक्त सही सृजन का कार्य नहीं हो सकता। राजनीति में भी वैचारिक स्पष्टता के बिना 'प्रोपेगैण्डा-राइटिंग' और 'प्रोपेगैण्डा राइटिंग' के बिना 'एजिटेशनल राइटिंग' का काम नहीं हो सकता। चीजों को सिर के बल नहीं खड़ा किया जा सकता। सांस्कृतिक उत्पादन के पूरे तंत्र में भी पहले 'मशीन-मेकिंग मशीन्स' ही तैयार करने होते हैं, पहले 'बेसिक' और 'इन्फ्रास्ट्रक्चरल प्रोडक्शन नेटवर्क' ही खड़ा करना होता है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई सैद्धान्तिक प्रश्नों पर समझ बनाने की क्षमता न रख सकता हो, इसलिए सरल लोकप्रिय लेखन का दायित्व सम्हाल ले। वह व्यक्ति सिर्फ लोकरंजकतावादी (पॉपुलिस्ट) लेखन ही कर सकता है

और क्रान्तिकारी साहित्य के बजाय सामाजिक जनवादी सरलीकरणों का कचड़ा ही परोस सकता है।

जनता तक सही वैज्ञानिक, प्रगतिकामी विचारों को पहुंचाने की चिन्ता रखने वालों को पहले यह सोचना होगा कि क्या वे जनता तक वास्तव में ऐसे विचार पहुंचा रहे हैं और क्या पहले यह जरूरी नहीं है कि सही विचारों वाले सांस्कृतिक सर्जकों-कर्मियों की टीम खड़ी की जाये? इस संदर्भ में हम **लेनिन** के 1899 के एक बहुत कम चर्चित लेख **'रूसी सामाजिक जनवादियों के बीच में प्रतिगामी प्रवृत्ति'** *(कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-4)* का हवाला देना चाहेंगे जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मजदूरों का एक अखबार सबसे पहले मजदूरों के उस अल्पसंख्यक जागरूक संस्तर के लिए होता है जो समाजवाद के विचारों को सबसे पहले आत्मसात करता है। उसके बाद कुछ हद तक यह औसत मजदूरों के लिए होता है और हो सकता है कि निम्नचेतना का मजदूर उसका कोई हिस्सा न समझे। उस मजदूर तक राजनीतिक विचार पहुंचाने के लिए छोटे पर्चे और व्यक्तिगत संपर्क जैसे माध्यम होते हैं। हम समझते हैं कि इस 'अप्रोच' को सांस्कृतिक दायरे में भी लागू किया जा सकता है।

कुछ उन्नत स्तर की सैद्धान्तिक बहसें या लेखन ऐसे हो सकते हैं, जो आम पाठकों की समझ में न आयें, पर वे उन्नत चेतना वाले लोगों के लिए और उन संस्कृतिकर्मियों-रचनाकारों की वैचारिक स्पष्टता के लिए हों, जिन्हें जनता के लिए तमाम तरह के सांस्कृतिक-कलात्मक उत्पादन का काम करना हो—कहानियों-कविताओं से लेकर गीतों-नुक्कड़ नाटकों व पर्चों तक तथा जिनके बीच से उन्नत सांस्कृतिक चेतना के राजनीतिक-सामाजिक हरावल कतारें तैयार होनी हों।

बहरहाल, यह सारा प्रश्न ही हमने यहां इस संदर्भ में उठाया है कि आज के दौर के विचारधारात्मक-सैद्धांतिक कार्यभारों की उपेक्षा न सिर्फ सांस्कृतिक मोर्चे पर कदापि नहीं की जानी चाहिए, बल्कि आज के जैसे समय में सांस्कृतिक मोर्चे पर भी विचारधारात्मक-सैद्धान्तिक कामों की ही अहमियत सर्वाधिक होती है और इसे पूरा किये बिना जनता के बीच व्यापक सांस्कृतिक प्रचार कार्य सस्ता लोकरंजकतावाद बनकर रह जाता है।

यहां यह स्पष्ट करने की जरूरत नहीं कि **इस जोर को गैर द्वन्द्वात्मक ढंग से नहीं समझा जाना चाहिए।** हम प्रधान कार्यभार पर जोर देने के लिए यह बात कर रहे हैं। जाहिरा तौर पर व्यापक जनसमुदाय के बीच, व्यापक जनसमुदाय के लिए, सांस्कृतिक कार्य तो हर दौर में करना जरूरी है और जनता के निम्नतम संस्तर तक सांस्कृतिक पहुंच के साधन तलाशे ही जाने चाहिए। **सही विचारों तक कोई चिन्तन या विमर्श भी उन्हीं लोगों को पहुंचा सकता है जो अपने तमाम सांस्कृतिक उपकरणों के साथ जनता के बीच प्रयोगशील हैं।**

इस पूरे दृष्टिकोण से, आज के विश्व-ऐतिहासिक दौर में यह बेहद जरूरी हो जाता है कि जनपक्षधर संस्कृतिकर्मी भी इस बात को भली-भांति समझें कि जुआड़ी, परजीवी, अन्तकारी रोगों से पीड़ित आज का पूंजीवाद क्यों, किस तरह और किन रूपों में मूलतत्ववादी, साम्प्रदायिक फासीवादी व अन्य फासीवादी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और कला-रूपों को, पश्चिम से लेकर पूरब तक और खासकर हमारे अपने देश में जन्म दे रहा है। (प्रेमचन्द की शब्दावली में कहें तो) यह देखना होगा कि साम्प्रदायिकता—खासकर समकालीन उग्र साम्प्रदायिक फासीवाद आज किन रूपों में संस्कृति की दुहाई दे रहा है और आज उसने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का कैसा मुखौटा पहन रखा है।

इस बात को पूरी सामाजिकार्थिक पृष्ठभूमि पर, दार्शनिक-ऐतिहासिक आधार पर न समझ पाने के चलते कई एक रचनाकार प्राय: "मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना" के सामन्ती मानवतावाद या "मन्दिर बांटा मस्जिद बांटा मत बांटो इंसान को" के बुर्जुआ मानवतावाद के आधार पर साम्प्रदायिकता का सामना करना चाहते हैं, जबकि जुझारू भौतिकवाद बताता है कि "मजहब तो है सिखाता आपस में बैर करना" और "मंदिर-मस्जिद बांटा ताकि बंटा रहे इंसान।" प्राय: ऐसा भी होता है कि मध्यकाल के सन्तों की धार्मिक समरसता या रूढ़ि-विरोध के सहारे भी आज की समस्या का समाधान ढूंढ़ने की कोशिश की जाती है जबकि साम्प्रदायिकता और आधुनिक साम्प्रदायिक फासीवादी प्रवृत्तियां अधुनातन इतिहास की परिघटनाएं हैं और इन्हें बुर्जुआ अर्थतंत्र, समाजतंत्र और राजनीति को समझे बिना न तो समझा जा सकता है, न ही इनका प्रतिकार किया जा सकता है। इसपर विस्तार से बातें की जा सकती हैं कि मानवतावादी गीत, कविताएं और 'और अंत में प्रार्थना' जैसी कहानियां और पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे लेखकों के घोर सामाजिक जनवादी दृष्टिकोण से लिखे गये लेख किस हद तक सांस्कृतिक मोर्चे पर साम्प्रदायिक फासीवाद के सही प्रतिरोध की रणनीति प्रस्तुत करते हैं या किस हद तक ये साम्प्रदायिक फासीवाद की एक सुसंगत समझ बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

यह तो महज एक उदाहरण है कि किस प्रकार उचित सैद्धांतिक समझ के अभाव में कभी-कभी सांस्कृतिक रचनाकर्म उस अनाड़ी के तलवार भांजने के समान भी हो जाता है, जो खुद ही को घायल कर ले।

आज इस बात को हमें भलीभांति समझने की जरूरत है कि पूंजी के भूमण्डलीकरण या आर्थिक नवउपनिवेशवाद का दौर साम्राज्यवाद का एक नया दौर है जिसमें नये किस्म के अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय तंत्र के गठन के साथ-साथ नई प्रौद्योगिकी पर आधारित सूचना, संचार और मनोरंजन का एक अभूतपूर्व भूमण्डलीय नेटवर्क खड़ा हुआ है जिसके चलते साम्राज्यवादी-पूंजीवादी सांस्कृतिक वर्चस्व के नये-नये रूप सामने आये हैं। इस नये सांस्कृतिक परिदृश्य को समझना और विश्व-पूंजीवाद के नये वैचारिक-सांस्कृतिक हमले के प्रभावी प्रतिकार की रणनीति विकसित कर आज सभी प्रगतिकामी पुरोगामी शक्तियों के साझा सांस्कृतिक अभियान की सबसे पहली जरूरत है।

विश्व ऐतिहासिक स्तर पर पूंजीवाद की संस्कृति आज जनवादी मूल्यों से रिक्त हो चुकी है। बुर्जुआ जनवाद का सिद्धान्त औद्योगिक क्रान्ति, औद्योगिक विकास और औद्योगिक पूंजीवाद के गर्भ से पैदा हुआ था। आज का पूंजीवाद मुख्यत: शेयर बाजार में और अनुत्पादक क्षेत्रों में पूंजी लगाने पर—मुख्यत: वित्तीय तंत्र पर आधारित है, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इस पूर्ण परजीवी, अनुत्पादक, गतिरुद्ध पूंजीवाद की संस्कृति से जनवादी मूल्यों का लोप हो चुका है। सामन्तवाद के खात्मे के बाद राष्ट्रीय बाजारों के गठन ने राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय मूल्यों की सकारात्मकता को नष्ट करके उन्हें जनविरोधी बना दिया है। भारत जैसे देशों का शासक वर्ग राष्ट्रवादी भावनाओं का या तो कमजोर पड़ोसियों को दबाने के लिए, या जनता में अंधराष्ट्रवादी धार्मिक-सांस्कृतिक जुनून पैदा करने के लिए इस्तेमाल करता है या फिर साम्राज्यवादियों से मोलतोल-सौदेबाजी में दबाव बनाने के लिए। इस नये दौर में देशी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के बीच, आर्थिक हितों के साथ संस्कृति भी साझा हो चुकी है और जनता को आज राष्ट्रीय जनवादी संस्कृति की नहीं बल्कि नई समाजवादी संस्कृति की लड़ाई लड़नी है। कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के इस दौर में बुर्जुआ संस्कृति इस हद तक लोक-द्रोही, विज्ञान-विरोधी, निरंकुश वर्चस्ववादी संस्कृति बन चुकी है कि आम तौर पर बुर्जुआ जनवादी मूल्यों और फासिस्ट मूल्यों

में बहुत अधिक करीबीपन आ गया है, दूरियां काफी हद तक मिट गई हैं।

इस प्रसंग में **नीथामर** के **उत्तर-इतिहास, फूकोयामा** के **'इतिहास के अंत', ल्योतार, फूको, देरिदा, बौद्रिला** आदि की **उत्तर-आधुनिकता, लाक्लाऊ** और **मौफ** के **उत्तर-मार्क्सवाद** और **एडवर्ड सईद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, होमी भाभा** आदि की **उत्तर औपनिवेशिकता** के ताजा-तरीन सांस्कृतिक-सामाजिक सिद्धान्तों और साहित्यिक-सांस्कृतिक समीक्षा-सिद्धान्तों के बारे में एक समझ बनाना और इनकी आलोचना प्रस्तुत करना भी एक जरूरी काम है। यह कहकर हम इन्हें किनारे नहीं कर सकते कि यह सिर्फ अकादमिक दायरों में चर्चा के विषय हैं और अब धीरे-धीरे पुराने पड़ रहे हैं। इन सभी सिद्धान्तों का हमला बुनियादी तौर पर संस्कृति और सामाजिक इतिहास-विकास के मार्क्सवादी तर्क पर है। तर्क और विवेक को खारिज करने के लिए ये धाराएं प्रबोधन काल की उस परम्परा को ही खारिज करने तक जाती हैं, जिसकी उत्तराधिकारी आज सर्वहारा दार्शनिक-वैचारिक-सांस्कृतिक चिन्तन की धारा है और इस प्रक्रिया में ये सभी धाराएं वस्तुतः निरंकुशता की संस्कृति का नवनीत्शेवादी संस्करण तैयार करती हैं, विवेक के साथ न्याय के प्रतिमानों को भी खारिज करती हैं, इतिहास-निर्माण में मनोगत शक्तियों की भूमिका को, मानव-उपादान की भूमिका को खारिज करती हैं, भांति-भांति के बहुलतावाद (प्लूरलिज्म) के नाम पर समाज-विकास के नियमों की सार्वभौमिकता को अस्वीकार करती हैं, बहुतेरे क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता को "यूरोकेन्द्रीयता" का आरोप लगाकर खारिज करती हैं, अनिश्चितता सिद्धान्त की पुरानी कोपेनहेगनपंथी व्याख्या को अनिश्चयवाद के रूप में समाज पर लागू करती हैं, तथा 'सबआल्टर्न' का विरूपित सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन में विचारधारा, विचारधारात्मक नेतृत्व और सचेतनता की भूमिका को ही खारिज करने का काम करती हैं। ये सभी धाराएं नवरहस्यवाद की, पूंजी की अंधशक्तियों की आराधना की शिक्षा देती हैं। **वास्तव में ये विचार-सरणियां आज की वित्तीय पूंजी का दर्शन और सांस्कृतिक सिद्धान्त अलग-अलग रूपों में, पर कुछ महत्वपूर्ण सामान्यताओं के साथ प्रस्तुत करती हैं और इतिहास, विचारधारा, कविता, उपन्यास आदि-आदि के "अंत" के फतवे देते हुए पराजय-बोध से ग्रस्त बौद्धिक जगत को नियतिवाद, रहस्यवाद, अनिश्चयवाद, माल-अंधभक्ति आदि से प्रभावित करती हैं।** ये विचार सीधे आम जनता तक पहुंचने के बजाय साहित्य-संस्कृति के सर्जकों-प्रस्तोताओं की चिन्तन-प्रक्रिया को विपथगामी बनाने का काम कर रहे हैं। आज हिन्दी साहित्य में सुधीश पचौरी आदि व अन्य भाषाओं में भी उत्तर-आधुनिकता के झण्डाबरदार बहुतेरे भूतपूर्व मार्क्सवादी मौजूद हैं। उदय प्रकाश जैसे कवि-कथाकार भी इन विचारों के प्रभाव में अवसाद, अकेलेपन, अतीत को बचाने की चिन्ताओं से ग्रस्त दिखाई दे रहे हैं और मैनेजर पाण्डेय जैसे सुधी आलोचक भी आलोचना पद्धति-विज्ञान के स्तर पर ('पल-प्रतिपल' में कुछ वर्षों पूर्व छपे एक साक्षात्कार में) उत्तर संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद के अवदानों को स्वीकारते दिखाई दे रहे हैं। इसलिए इन विचार-सरणियों का आलोचनात्मक विश्लेषण जरूरी है। यह सांस्कृतिक मोर्चे पर विचारधारात्मक संघर्ष का एक जरूरी कार्यभार है।

"उत्तर-अवस्था" वाली ये विचार-सरणियां जनवाद, नियमसंगति, तर्कणा और इतिहास-बोध को खारिज करती हुई भूमण्डलीकरण के दौर के शासक वर्गों की संस्कृति और विचार को प्रातिनिधिक रूप में प्रस्तुत करती हैं।

तमाम "उत्तर" सिद्धान्तों के प्रस्तोताओं-प्रवक्ताओं में से अधिकांश कभी न कभी अकादमिक "वामपंथ" की किसी न किसी धारा से प्रभावित रहे हैं और इनके विचारों-स्थापनाओं में बहुतेरी भिन्नताएं हैं। पर यदि सार रूप में कहें तो ये सभी सिद्धान्त कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में मनुष्य के केन्द्रीय स्थान को और विचारधारात्मक सत्व को खारिज करते हैं। ये सत्य की सार्वभौमिकता को, वस्तुगत चरित्र को और वर्ग-चरित्र को अस्वीकार करते हैं। इनके अनुसार सभी दृष्टिकोण—चाहे वे साम्प्रदायिक, फासीवादी और साम्राज्यवादी ही क्यों न हों, अपनी-अपनी जगह पर सही होते हैं। सत्य के पीछे तथ्य का आग्रह, इनके हिसाब से "यथार्थवादी भ्रम" में जीना होता है और सत्य का दावा मानसिक उपनिवेशन होता है। देरिदा सार्थक कला में निश्चित अर्थ की अवधारणा को अस्वीकार करते हैं और रचना की सोद्देश्यता का मजाक उड़ाते हैं। इतिहास, दर्शन, साहित्य ही नहीं विचार, विश्वास, व्यवहार, घटनाओं और संस्थाओं को भी ये पाठ मानते हैं और पाठ का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता, यह पाठक और उसकी व्याख्या पर निर्भर करता है। उत्तर-आधुनिकतावादी संकेतक और संकेतित के मान्य संबंध को नहीं मानते और इनमें 'आर्बिट्रेरी' संबंध कायम करते हैं तथा मानते हैं कि तर्क की कैद से छुटकर सत्य-असत्य का द्वैत मिट जाता है। पाठ के प्रसंग में अनुभव का स्वतंत्र महत्व नहीं होता और अनुभव किसी व्याख्या की सच्चाई की कसौटी नहीं होता। उत्तर-आधुनिक सिद्धान्त दमन को सामाजिक यथार्थ नहीं एक वैचारिक समस्या मानता है जिसका सम्बन्ध दार्शनिक द्वैतों से है और इन द्वैतों की व्याख्या में ही दमन की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। इनके हिसाब से आज का समय महाआख्यानों (मेटा-नैरेटिव्स) के विखण्डन का समय है और इसके हिसाब से दुनिया की तमाम वैचारिक-सामाजिक क्रान्तियों और विकास की अवधारणाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

समग्रता में, कहा जा सकता है कि **"उत्तर" अवस्था वाले तमाम सिद्धान्त आज के पूंजीवाद का सांस्कृतिक तर्क हैं और ये सिद्धान्तकार नीत्शे के वर्णसंकर मानस पुत्र हैं जिनके लिए सांस्कृतिक-साहित्यिक कर्म भाषा के खेल से अधिक कुछ भी नहीं है।**

●

वित्तीय पूंजी के चरम सीमा तक परजीवी, अनुत्पादक और सट्टेबाज चरित्र के मातहत संगठित पूंजीवाद का सम्पूर्ण भूमण्डलीय तंत्र आज तीसरी दुनिया के देशों में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया या मास मीडिया के द्वारा जितने व्यापक पैमाने पर जनमानस को अनुकूलित करने की कोशिश कर रहा है, वह सचमुच अभूतपूर्व है। पूंजीवादी सिद्धान्तकार आज सैद्धांतिक-वैचारिक आधार पर जो दर्शन और विचार जनता के उन्नत वैचारिक संस्तरों के समक्ष, क्रान्तिकारी जनांदोलन तक विचारधारा को ले जाने की क्षमता रखने वाले तत्वों के समक्ष परस रहे हैं, उन्हीं का लोकप्रिय संस्करण वे टी.वी., सिनेमा, विज्ञापनों आदि के द्वारा व्यापक जनता के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। पूरी तरह से तर्कविहीन रुग्ण व्यक्तिवाद, उन्माद, सनक, निराशा और अलगाव की संस्कृति वर्चस्ववादी ढंग से आम जनता के घरेलू जीवन, मूल्य और नितान्त निजी क्रिया-कलापों तक को प्रभावित कर रही है। आम दर्शकों के उपभोग के लिए धार्मिक-मिथकीय विषयवस्तु की अनैतिहासिक प्रस्तुति और कारपोरेट क्लास के जीवनादर्शों की प्रस्तुति वाले सीरियल्स के रूप में धार्मिक मूलतत्ववादी और रुग्ण फासीवादी सांस्कृतिक माल का उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। उधर एल्विन टाफलर जैसे मीडिया

विशेषज्ञ इसी सांस्कृतिक विस्तारवाद के पीछे सक्रिय वर्गीय हितों को अपने तर्कों से ढंकने की तरह-तरह से कोशिशें करते रहते हैं।

पूंजीवाद के उच्च तकनोलॉजी आधारित सांस्कृतिक माध्यम नवरहस्यवाद की, पूंजी की अंधशक्तियों की आराधना की शिक्षा दे रहे हैं। नया पूंजीवादी उत्पादन तंत्र मजदूर वर्ग का भौतिक विखण्डन करते हुए उसके अंदर असंगठित होने की जो मिथ्याभासी चेतना पैदा कर रहा है, शासकवर्ग का सांस्कृतिक तंत्र उसका आत्मिक विखण्डन करके उसी को मजबूत बनाने का काम कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश में और पूरी दुनिया में आर्थिक कट्टरपंथ की वापसी ने ही धार्मिक कट्टरपंथ की भी जमीन तैयार की है, पर साथ ही यह भी याद रखना होगा कि पूंजी की निरंकुश वर्चस्ववादी संस्कृति और राजनीति की एकमात्र धारा धार्मिक कट्टरपंथियों की ही नहीं है। हां, यह जरूर है कि यह धारा सर्वाधिक नग्न फासिस्ट धारा है। सच तो यह है कि छीज चुके बुर्जुआ जनवाद के चलते हमारे देश की बुर्जुआ राज्यसत्ता और उसकी संस्कृति ही आज निरंकुश चरित्र की है और उसमें फासीवादी प्रवृत्तियां मौजूद हैं।

पूंजीवादी-साम्राज्यवादी संस्कृति से वैचारिक दायरे में संघर्ष के तौर तरीकों की बात तो स्पष्ट है, पर व्यापक जनसमुदाय तक प्रभावी पहुंच रखने वाले मास मीडिया की काट क्या हो सकती है? यहां हमारे सामने उपस्थित अहम प्रश्न यह है श्रमश्लथ, सांस्कृतिक खुराक की भूखी जनता को वैराग्य-संयम और "प्रकृति की ओर वापसी" का उपदेश नहीं दिया जा सकता। कुछ संस्कृतिकर्मी ऐसे भी हैं जो सोचते हैं कि मास मीडिया के तंत्र के जरिए ही वे अपनी बातें कह सकते हैं और कुछ "रैडिकल सुधार" के विषयों पर टी.वी. फिल्म आदि बनाते हुए या एक हद तक व्यवस्था के किसी झोल या अन्तरविरोध का लाभ उठाकर अपनी बात कह लेने में सफल हो जाने पर, मुगालते में जीने लगते हैं और कालान्तर में उसी तंत्र द्वारा रचा-पचा लिये जाते हैं। हम समझते हैं कि इस बारे में बहिष्कारवादी रवैया तो नहीं अपनाया जा सकता, पर यह स्पष्ट है कि संचार-माध्यम और मनोरंजन का पूरा तंत्र मूलत: सत्तावर्गीय संस्कृति का ही माध्यम होगा और उसका विरोधी मोर्चा उसके भीतर घुसकर नहीं, उसके सामने से ही बांधना होगा। हां, उसकी कमजोरियों-अन्तरविरोधों का 'टैक्टिकल' इस्तेमाल एक दीगर बात है।

जहां तक जनता के वैकल्पिक मीडिया की बात है, वह किसी भी पूंजीवादी समाज में सीमित ही हो सकता है। हम वैकल्पिक मीडिया के अन्तर्गत महत्वाकांक्षी ढंग से सोचने पर भी, जनता के अपने संसाधनों से संगठित पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक प्रकाशन, मुद्रण व विक्रय केन्द्रों, कुछ नाट्यशालाओं, नाट्य-गायन टोलियों और ज्यादा से ज्यादा आगे की मंजिलों में कुछ क्रान्तिकारी वीडियो फिल्मों या फिल्मों के निर्माण तक ही सोच पाते हैं। जिन देशों में गुरिल्ला सिनेमा की परिघटना पैदा हुई थी, वहां जनसंघर्ष काफी व्यापक आधार वाला था और उन्नत मंजिलों पर था। साथ ही, हम इस सच्चाई से मुंह नहीं चुरा सकते कि सांस्कृतिक मोर्चे पर शक्तिशाली तंत्र और आन्दोलन के बारे में तबतक नहीं सोचा जा सकता जबतक वर्ग-संघर्ष सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर सापेक्षत: उन्नत व संगठित धरातल पर न हो। सांस्कृतिक मोर्चे की स्वायत्तता के तर्क को इस हद तक विस्तारित नहीं किया जा सकता। इतिहास से सबक लें तो स्पष्ट हो जाता है कि आज जैसे दौरों में थोड़े लोगों तक पहुंचने वाले वैचारिक साहित्य का महत्व अंतत: युगान्तरकारी सिद्ध होता है। आम जनता के संस्तरों तक नुक्कड़ नाटक, गायन, विविध लोक कलाओं और जिन अन्य उन्नत माध्यमों से अपनी बात पहुंचाई जा सकती है, वे भी आज जैसे दौरों में सीमित पहुंच ही रख सकते हैं। इन मोर्चों पर सक्रिय कार्यकर्ताओं की संख्या और समझ में विस्तार भी जनांदोलनों के दौर में ही तेजी से होता है जब कला-सृजन का सैद्धान्तिक-रचनात्मक मोर्चा थोड़ा पीछे हो जाता है और प्रचारात्मक मोर्चा फौरी आवश्यकता बन जाता है।

यह बात स्पष्ट कर लेना इसलिए भी जरूरी है कि कभी-कभी सांस्कृतिक मोर्चे पर भी अतर्कसंगत अपेक्षाओं से हताशा पैदा होती है या फिर आदमी हड़बड़ी में सस्ते, लोकरंजक सांस्कृतिक कर्म की ओर उन्मुख हो जाता है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि किसी भी व्यवस्था में, पूरे समाज में हावी, शासक वर्ग की ही संस्कृति होती है। यहां तक कि क्रान्ति काल के दौरान भी जनता सम्पूर्णत:-समग्रत: क्रान्तिकारी संस्कृति को आत्मसात नहीं कर चुकी होती है। आम जनता अपनी जीवन-स्थितियों से, अपरिहार्य आवश्यकताओं से प्रेरित होकर, क्रान्तिकारी प्रचार से 'रैडिकलाइज' होकर राजनीतिक क्रान्ति के लिए प्रेरित होती है और उसके बाद भी उसके भीतर लम्बे समय तक उसकी विरोधी संस्कृति हावी होती है। उसकी हिरावल पांतें अपनी राज्यसत्ता को संगठित करके उसका सांस्कृतिक अंग भी संगठित करती हैं और सब सामाजिकार्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ संस्कृति व शिक्षा के उस नये तंत्र के सचेतन प्रयासों से व्यापक जनता अपनी क्रान्तिकारी संस्कृति को आत्मसात् करती है।

आज सांस्कृतिक मोर्चे पर हम यह मुगालता नहीं पाल सकते कि व्यापक जनता की संस्कृति का क्रान्तिकारीकरण करके जनपक्षधर संस्कृति को शासक वर्ग की संस्कृति की टक्कर में ला खड़ा कर देंगे। हम आज सांस्कृतिक मोर्चे पर जो करने की सोच सकते हैं, वह यह कि अपने सांस्कृतिक प्रचार कार्य के जरिए जनता को न सिर्फ प्रतिगामी संस्कृति के वास्तविक चरित्र से, बल्कि आज के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ से परिचित करायें और उसकी चेतना को क्रान्तिकारी बदलाव के लिए तैयार करें। बुर्जुआ सांस्कृतिक माध्यमों और उत्पादों के बारे में लगातार तर्कपूर्ण विश्लेषण व प्रचार द्वारा जनता में आलोचनात्मक विवेक पैदा करना मुख्य काम है। इस प्रक्रिया में भी हमारी कोशिश सबसे पहले मेहनतकश अवाम के उन्नत संस्तरों और मध्य वर्ग के रैडिकल हिस्सों को ही प्रभावित करने की होनी चाहिए। फिर इन्हीं के बीच से जुटी ताकत के बूते ही व्यापक जन तक, उसके निम्नतम संस्तरों तक पहुंच बनाई जा सकती है।

इसी द्वन्द्वात्मक पहुंच और प्राथमिकता निर्धारण के तहत हमलोगों ने वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की दिशा में पांच वर्ष पूर्व कुछ बेहद छोटे प्रयोगों की शुरुआत की थी। गंभीर वैचारिक सांस्कृतिक सामग्री के मुद्रण-प्रकाशन-विक्रय के केन्द्र स्थापित करने पर हम लोगों का जोर अधिक रहा और इस उद्देश्य से गंभीर विषयों पर संगोष्ठियों आदि के आयोजन भी लगातार किये गये, पर साथ ही व्यापक पहुंच वाली प्रचारपरक सांस्कृतिक सामग्री का प्रकाशन-प्रचार भी किया गया, शहरों के अतिरिक्त गांवों में ग्रामीण मजदूरों के बीच से आने वाले चेतना सम्पन्न लोक-कलाकारों की भी एक टोली गठित की गई तथा सामयिक प्रश्नों पर नुक्कड़ नाटकों, चित्र प्रदर्शनी, पोस्टर प्रदर्शनी आदि के साथ ही 'जन तक कविता, कविता तक जन' जैसे कुछ प्रयोग भी किये गये। फैक्ट्री मजदूरों के बीच सांस्कृतिक प्रचार कार्य चलाने का भी प्रयोग जारी है। सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं की तैयारी के लिए हम लोगों ने एक माह की एक सांस्कृतिक कार्यशाला भी लगाई। इन सभी कार्यों के बीच आज भी हम लोग सर्वोच्च प्राथमिकता इस काम को देते हैं कि सांस्कृतिक मोर्चे पर उपस्थित वैचारिक प्रश्नों पर सफाई होनी चाहिए ताकि निराश

दिग्भ्रमित विभ्रमग्रस्त संस्कृतिकर्मियों को नये सिरे से सही दिशा में सक्रिय किया जा सके और परिस्थितियों के दबाव व मनोगत प्रयासों के प्रभाव से 'रैडिकलाइज' हो रही जनता की अगुवा कतारों के बीच से वे संस्कृति के योद्धा भरती किये जा सकें जो आने वाले दिनों की कठिन चुनौतियों का सामना कर पाने में सक्षम हों। हम अपने प्रयोगों को बेहद छोटा और अनुभव को काफी सीमित मानते हैं पर इनकी सफलताओं ने हमें एक विश्वास जरूर दिया है और हम इस आयोजन के आगे निर्धारित सत्रों में अपने अनुभवों को साथियों के साथ जरूर 'शेयर' करना चाहेंगे।

●

पुनः हम वर्तमान सांस्कृतिक परिदृश्य के कुछ छूटे हुए पहलुओं की ओर वापस लौटते हैं। जहां तक जनपक्षधर धारा की कविताओं-कहानियों-उपन्यासों के परिदृश्य की बात है, वहां हमें वैचारिक विभ्रमों का घटाटोप दिखाई देता है और जो भी बहस और विमर्श जारी हैं, वे भी इनकी सफाई के लिए नहीं, बल्कि महज चौंक-चमत्कार पैदा करने के लिए। अधिकांश वामपंथी आलोचकीय उद्यम भी रचनाओं का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने के बजाय संकीर्ण गुटबंदी-हदबंदी-चकबंदी तक ही सीमित दीखते हैं। समकालीन इतिहास की दशा-दिशा से वर्तमान वामपंथी साहित्य का रचनात्मक परिदृश्य काफी प्रभावित हुआ है। यहां तक कि पुरोगामी और पश्चगामी, जनपक्षीय और सत्तापक्षीय, क्रान्तिकारी जनवादी और कलावादी-रूपवादी धाराओं के बीच की विभाजक रेखाएं जितनी धूमिल आज दीख रही हैं, उतनी शायद पहले कभी नहीं थीं। वामपंथी आलोचक शिरोमणि घोर रूपवादी कवि-कहानीकार के शिल्प के तराश पर न्यौछावर हुए जा रहे हैं और कल तक के सबसे उग्र वाम तेवरों वाले कवि भारत भवन शिरोमणि और सत्ता प्रतिष्ठानों के महामण्डलेश्वरों से प्रशंसित होकर खुशी के मारे गश खा रहे हैं। साहित्य में विचारधारात्मक घालमेल के साथ साहित्य की राजनीति में भी घृणित जोड़ तोड़ का बाजार गर्म है। बहुतेरे कवि बाजार व माल-संस्कृति के हमलों से आतंकित पुनरुत्थानवादी कब्रों में शरण ले रहे हैं, खड़ाऊं, सरौता, दातून आदि तक को बचाने के लिए पुनरुत्थानवादी ढंग से चिन्तित हैं, हताश हैं और उत्तर आधुनिक सिद्धावस्था में पहुंचकर अध्यात्म में शरण ले रहे हैं। ऐसे रचनाकार साम्प्रदायिक फासीवाद पर कहानियां लिख तो रहे हैं, पर उनमें इस परिघटना की सही समझ नदारद है, केवल "सर्वधर्मसमभाव" की चीख-पुकार है या फिर मानवतावादी कराह। वर्ग संघर्ष की धार कहीं नहीं है। पत्रिकाओं के कविता-महाविशेषांकों में अतीत का उत्खनन करके पुराने कम्युनिस्ट-विरोधी कलावादियों की रचनाओं-विचारों को पुनर्प्रतिष्ठित किया जा रहा है। समाजवाद की पराजय की सही ऐतिहासिक वैज्ञानिक समझ से रिक्त बहुतेरे रचनाकारों ने गत दस वर्षों में उपन्यास या कहानी लिखकर तमाम गलत व्याख्याओं-निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है या फिर नकली कम्युनिस्टों का मजाक उड़ाने की कोशिश में सभी कम्युनिस्टों का ही मजाक उड़ा डाला है। प्रगतिशील धारा की माने जाने वाली कहानियों में हाल के वर्षों में खास तौर पर, यथार्थ-चित्रण के नाम पर, स्त्री के प्रति एक रुग्ण पुरुष-स्वामित्ववादी और यौनरसभोगी नजरिया हावी हुआ है और साथ ही, वास्तविकता लाने की आड़ में, सर्वहारा सौन्दर्य दृष्टि की खिल्ली उड़ाने वाले मध्यवर्गीय मानस का उच्छृंखल फूहड़पन भी खूब परोसा गया है। कलात्मक-साहित्यिक सृजन के परिदृश्य पर साठ के दशक में जिस निम्नपूंजीवादी विद्रोही अराजकतावाद का बोलबाला नक्सलबाड़ी किसान उभार की ऊष्मा से गतिमान हुई धारा के पूर्ववती दौर में हुआ था; उसमें फिर भी एक हद तक व्यवस्था-विरोध और व्यवस्था से मोहभंग से उपजी गति थी। आज जो अराजक प्रवृत्तियां वाम दायरे के भीतर तक सिर उठा रही हैं, ये गैरपक्षधर, ठण्डी, गतिहीन और बीमार किस्म की हैं। इन नकारात्मक पक्षों की चर्चा से यह न समझा जाये कि वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य के प्रति हमारा नजरिया निषेधवादी है। सम्भावनासम्पन्न और ईमानदार रचनाकारों की अच्छी-खासी तादाद है। बहुतेरे ऐसे हैं जो दिग्भ्रमित या निराश तो हैं, पर जिनकी निष्ठा या प्रतिबद्धता पर कोई सवाल नहीं उठाया जा सकता। लेकिन यह सच है कि जनपक्षधर साहित्य का क्रान्तिकारी तेवर ढीला पड़ा है, वैचारिक समझ की धार कुण्ठित हुई है और वैचारिक प्रदूषण की मात्रा बढ़ी है। साहित्य-कला के वैचारिक मोर्चे को मजबूत बनाकर ही इस परिदृश्य पर सार्थक हस्तक्षेप किया जा सकता है।

आज सर्वोपरि चुनौती यह है कि जनपक्षधर कला-साहित्य-संस्कृति के सामने रूपवाद और कलावाद की चुनौतियां छद्म वाम का आवरण धारण करके खड़ी हैं। कहानी-उपन्यास और कविता में शिल्प के अतिरिक्त आग्रह के तर्क आज सिर्फ अशोक वाजपेयी जैसों के मुंह से ही नहीं बल्कि नामवर सिंह के मुंह से भी इस रूप में सुनने को मिल रहे हैं कि "रूप ही अन्तर्वस्तु है।" यह मार्शल मैक्लुहान की उस उक्ति की ही पैरोडी लगती है कि "माध्यम ही संदेश है।" इतना ही नहीं, वामपंथी साहित्य-सिद्धान्तों की दुनिया में आज एक बार फिर अदोर्नो, मार्क्यूस, हाबेर्मास आदि-आदि फ्रैंकफुर्टपंथी, नव-वामपंथी, यूरोकम्युनिस्ट विचारों के नये-नये संस्करण उसी प्रकार थोक के भाव पैदा हो रहे हैं, जिस तरह पूर्वी यूरोप, पश्चिमी यूरोप, भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक देशों और तीसरी दुनिया के देशों तक में सामाजिक-जनवाद की राजनीतिक धाराएं सही वामपंथ के प्रतिनिधित्व के दावे ठोंकती हुई उभर रही हैं और आज के पूंजीवादी संकट के दौर में एक बार फिर अपने को विकल्प के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं। इनके विरुद्ध तीखे विचारधारात्मक संघर्ष के बिना जनता के सांस्कृतिक मोर्चे को सुदृढ़ आधारों पर संगठित करने का काम कदापि पूरा नहीं किया जा सकता।

यहां हमने सांस्कृतिक मोर्चे की सर्वप्रमुख विचारधारात्मक चुनौतियों और कार्यभारों में से कुछ की महज उदाहरण के तौर पर चर्चा की है। **हमारा जोर इस बात पर है कि आज धारा के विरुद्ध खड़े होकर जब हम जनपक्षधर संस्कृति की चुनौतियों की चर्चा कर रहे हैं तो सबसे पहले हमें अपने एजेण्डे पर समकालीन परिदृश्य के वैचारिक प्रश्नों को रखना होगा। सबसे पहले आज की प्रतिगामी संस्कृति के पुनरुत्थान के कारणों और उत्स को समझना होगा, शिक्षा, भाषा, सामाजिक मूल्यों, दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न, साम्प्रदायिक फासीवाद और नई-नई सांस्कृतिक परिघटनाओं के बारे में एक समझ बनानी होगी, अपने देश-काल की सामाजिकार्थिक स्थितियों की एक सही समझ बनानी होगी और तब सांस्कृतिक आन्दोलन की कार्य-दिशा और कार्यक्रम तय करना होगा। इसे ही हम आज के दौर में एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन का कार्यभार समझते हैं। चीजों को बदलने के लिए चीजों को समझना होगा और चीजों को बदलने की प्रक्रिया में खुद को बदलना होगा। आज सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हमारी तमाम सक्रियताओं के साथ अहम प्रश्नों पर 'पॉलिमिक्स' को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी।** कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'पालिमिक्स' सांस्कृतिक मोर्चे के सिपाहियों के बीच की 'पालिमिक्स' होगी, निष्क्रिय बुद्धि विलासियों, सत्ताश्रित सांस्कृतिक देवदूतों, कैरियरवादियों, मठाधीशों और किताबी कीड़ों के बीच की नहीं। **यह**

जिन्दा सवालों पर होगी, क्योंकि जैसाकि प्लेखानोव ने कहा था, जिन्दा लोग सिर्फ जिन्दा सवालों पर ही सोचते हैं।

●

उपरोक्त केन्द्रीय कार्यभार के मद्देनजर, हम समझते हैं कि आज अखिल भारतीय स्तर का एक और संगठन खड़ा करने का फौरी संकल्प लेकर चलने के बजाय संवाद, विमर्श और 'पालिमिक्स' के सांस्कृतिक मंचों-मुखपत्रों के गठन पर आम सहमति बनाना ही सही होगा और व्यावहारिक भी। सांस्कृतिक अभियान में कुछ प्रश्नों पर आम सहमति-आधारित साझेदारी बनाने के लिए आपसी मतभेद के मुद्दों को भी समझ लेना जरूरी हो जाता है।

प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, जन संस्कृति मंच, विरसम आदि आज की चुनौतियों से कारगर ढंग से क्यों नहीं जूझ पा रहे हैं या किस हद तक जूझ पा रहे हैं, किस हद तक जन-मुक्ति के सांस्कृतिक मोर्चे पर संघर्ष को धार दे पा रहे हैं? **राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा** और **जन-साहिती सांस्कृतिक समाख्या** जैसे संगठनों के बिखराव-ठहराव के मूलभूत कारण क्या थे? उपरोक्त सभी संगठनों के बीच मूलभूत मतभेद क्या हैं और अहम फौरी सवालों पर भी एकजुट साझा कार्रवाई में कौन-कौन सी सैद्धान्तिक सांगठनिक अड़चनें आड़े आती हैं? देश के अलग-अलग हिस्सों में सक्रिय छोटे-छोटे सांस्कृतिक मंच, सांस्कृतिक टोलियां और प्रगतिशील पत्रिकाएं किस हद तक प्रभावी हो पा रही हैं? पिछले दिनों 'लघु पत्रिका आन्दोलन' के रूप में जो नई पहल हुई, वह कितनी प्रभावी और सार्थक सिद्ध हुई? इन अनुभवों के समाहार और इन प्रश्नों पर खुले दिल से बातचीत और संभव हद तक संयुक्त मोर्चे की कार्रवाइयों के बाद ही आगे जैसा संभव होगा, उस रूप में जन संस्कृति का कोई सशक्त मोर्चा या संगठन बनाने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है।

सांस्कृतिक मोर्चे के सैद्धांतिक प्रश्नों पर विचार विमर्श, प्रयोग, प्रयोगों के अनुभवों के आदान-प्रदान और बहस-मुबाहसे के सिलसिले को लगातार लम्बे समय तक चलाना होगा। वर्ना हर कुछ समय के अन्तराल पर की जाने वाली "नई शुरुआतों" का सिलसिला भी एकदिन लाजिमी तौर पर पुराना लगने लगेगा। हां, इसके साथ ही यह जरूर होना चाहिए कि महत्वपूर्ण सामयिक मसलों पर जिस हद तक संभव हो, साझा कार्रवाई अवश्य संगठित की जाये और व्यापक मसलों पर भी जहां तक सहमति बने, अपनी ऊर्जा और संसाधनों को "पूल" करके साझा कार्यक्रम लिये जायें। इस सम्बन्ध में हम कुछ ठोस सुझाव रखना चाहेंगे।

1. आज के बुनियादी और केन्द्रीय विचारधारात्मक-सैद्धांतिक सांस्कृतिक प्रश्नों पर तथा व्यापक जनता के क्रान्तिकारी सांस्कृतिक आन्दोलन की आम कार्य दिशा और कार्यक्रम पर वाद-विवाद-संवाद के लिए संगोष्ठियों का सिलसिला शुरू किया जाये और उनमें प्रस्तुत पेपर्स तथा उनपर हुई बहसों को, भागीदारी करने वाले सांस्कृतिक संगठन, मंच, सांस्कृतिक टोलियां और व्यक्ति साझा प्रयासों से प्रकाशित करके संस्कृतिकर्मियों-रचनाकारों तथा बुद्धिजीवियों के व्यापक हिस्सों तक पहुंचायें। साथ ही, अभी जनपक्षधर धारा की जो पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं, उनमें भी महत्वपूर्ण वैचारिक मसलों को उठाया जाये और चल रही बहसों में हस्तक्षेप किया जाये। महत्वपूर्ण व चर्चित रचनाओं पर तथा प्रचलित धाराओं-प्रवृत्तियों पर, जनता के बीच प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों-गीतों आदि के अंतर्वस्तु और रूप पर बहस-मुबाहसे का माहौल तैयार करना होगा और पहल करनी होगी।
2. आम जनता के बीच सांस्कृतिक आन्दोलन को प्रभावी बनाने के लिए जरूरी है कि साझा सांस्कृतिक अभियान के पक्षधर संगठन, मंच और व्यक्ति अलग-अलग और साझे तौर पर भी, अध्ययन-शिविरों और सांस्कृतिक कार्यशालाओं का आयोजन करें।
3. सैद्धांतिक वैचारिक प्रश्नों पर केन्द्रीय संगोष्ठियों के सिलसिले की अगली कड़ी के तौर पर इन्हीं मसलों पर केन्द्रित एक साझा बुलेटिन के प्रकाशन के बारे में सोचा जा सकता है, पर सहमति, सक्रियता और शक्ति-विस्तार के एक निश्चित स्तर पर पहुंचकर ही ऐसा सोचा जा सकता है। हमारा विचार है कि विचारों के पर्याप्त आदान-प्रदान, आम सहमति के मुद्दों और साझा उद्देश्यों-प्राथमिकताओं के स्पष्ट निर्धारण के अभाव में ही, उसूली समझौता करने की हद तक जाकर तुरत-फुरत कुछ संगठन या मंच जैसी चीज गठित कर लेने की 'आर्गनाइजेशन इन कमाण्ड' के दृष्टिकोण के चलते ही, तथा विचार-विमर्श में जनवादी 'अप्रोच' व शैली की कमी के चलते ही सांस्कृतिक संयुक्त मोर्चा या साझा मंच गठित करने के प्रयास असफल होते रहे हैं, या ऐसे मोर्चे कलांतर में निष्प्रभावी हो जाते रहे हैं, या कुछ लोगों की जेब में चले जाते रहे हैं या फिर इनमें अवसरवादी तत्वों की घुसपैठ हो जाती रही है। इसी प्रक्रिया में अतीत के सभी संगठनों मंचों के अनुभवों पर भी बेलागलपेट बातचीत और उनके समाहार की जरूरत है। हमारे विचार से एक सांस्कृतिक संयुक्त मोर्चे को फिलहाल सांगठनिक शक्ल दे देना न तो संभव है, न ही इसकी जरूरत है। फिलहाल साझा आयोजनों व कार्रवाइयों की, अपने-अपने अनुभवों के आदान-प्रदान-समन्वय की जरूरत है और धीरे-धीरे एक साझा वैचारिक-सैद्धांतिक विमर्श के मुखपत्र की दिशा में आगे बढ़ने की जरूरत है।
4. वैकल्पिक मीडिया—जनता के मीडिया की अवधारणा पर पूरी बहस की जरूरत है। इस संबंध में हम अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करें। क्या सभी प्रगतिशील पत्रिकाओं, प्रकाशनों, मुद्रणों, अन्य सांस्कृतिक उपक्रमों और इलेक्ट्रानिक मीडिया तक के स्तर पर कोई साझा नेटवर्क खड़ा किया जा सकता है? इसके स्वरूप, संसाधन आदि पर पूरी बातचीत और जनपक्षधर संस्कृति के बोध और धारणा की एकता के बाद ही, हमारे विचार से, इसे संभव बनाया जा सकता है। इसकी प्रक्रिया लम्बी होगी, जिससे गुजरकर सिर्फ अपना मतलब साधने वाले अवसरवादी-कैरियरवादी तत्वों को भी किनारे करना होगा। पर इस दिशा में कोशिश अभी से शुरू की जानी चाहिए।
5. किसी वास्तविक साझा सांस्कृतिक अभियान के घटक वे ही संगठन, मंच, टोली या व्यक्ति हो सकते हैं जो विभिन्न सांस्कृतिक माध्यमों-उपादानों के जरिए व्यापक आम जनता के बीच सांस्कृतिक काम करते हैं। सैद्धांतिक प्रश्नों पर भी उन्हीं के बीच विमर्श की कोई सार्थकता हो सकती है। इसके लिए ठोस और कारगर तरीके व रास्ते निकाले जाने चाहिए कि आम जनता के बीच अपने सांस्कृतिक कार्यों के अनुभवों की भागीदारी की जाये और एक दूसरे के प्रयोगों से प्रत्यक्षत: भी परिचित हुआ जाये।
6. सांस्कृतिक जन-कार्रवाइयां शहरी मध्यवर्ग के बीच जरूर की जानी चाहिए, पर औद्योगिक और ग्रामीण मेहनतकश आबादी के बीच आज विभिन्न सांस्कृतिक माध्यमों को अपनाकर काम करने की बेहद जरूरत है। इस प्रक्रिया की अगली कड़ी के रूप में उनके बीच के उन्नत तत्वों को लेकर सांस्कृतिक टोलियां भी संगठित करनी होंगी। ग्रामीण मेहनतकशों के बीच से संगठित सांस्कृतिक टोलियां लोक

कला-रूपों के क्रान्तिकारी परिष्कार और प्रयोग में विशेष सहायक होंगी।

7. साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रचार को भी महानगरों में प्रतीकात्मक आयोजनों और अभिजात समारोहों तक, महज शिक्षित प्रबुद्ध मध्यवर्ग तक ही सीमित करना एक अनुष्ठानधर्मी भटकाव है। इस प्रचार कार्य को मेहनतकश आबादी तक ले जाना होगा। साम्प्रदायिक फासीवाद का कारगर प्रतिरोध मजदूर वर्ग को जागृत गोलबंद किये बिना कतई नहीं किया जा सकता।

8. देश के विभिन्न हिस्सों में ऐसी बहुतेरी सांस्कृतिक टोलियां हैं जो मजदूरों और किसानों के बीच काम कर रही हैं। इन टोलियों के कामों का बहुत अधिक महत्व है, और इस काम को आगे विस्तार देने की बहुत अधिक संभावना है तथा बहुत अधिक जरूरत भी। इस दिशा में पहली कोशिश यह की जानी चाहिए कि इन टोलियों के अनुभवों से परिचित हुआ जाये, इनके बीच अनुभवों के आदान-प्रदान और तालमेल की प्रक्रिया शुरू की जाये। व्यापक आम जनता के बीच सांस्कृतिक कार्यों में नई तकनोलॉजी और नये कला-माध्यमों के इस्तेमाल के बारे में भी सोचना और प्रयोग करना एक जरूरी काम है।

9. संस्कृतिकर्मियों और सांस्कृतिक संगठनों के विरुद्ध राज्यसत्ता की दमन-उत्पीड़न की कार्रवाइयों और साम्प्रदायिक फासीवादी ताकतों के हमलों के विरुद्ध जुझारू एकजुटता और संगठित प्रतिरोध न सिर्फ हमारी एक अपरिहार्य फौरी जरूरत है, बल्कि हमारी एकजुटता के आगे बढ़ने की एक बुनियादी शर्त है। हर ऐसी घटना का देशव्यापी, एकताबद्ध, जुझारू आन्दोलनात्मक प्रतिकार जरूरी है। साथ ही, देश के विभिन्न हिस्सों में जहां कहीं भी जनता का दमन हो, जनान्दोलनों को कुचला जाये या साम्प्रदायिक शक्तियों की कोई कार्रवाई हो, उसका भी एकजुट होकर विरोध किया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में व्यापक जनसमुदाय से सांस्कृतिक आन्दोलन का जीवन्त सम्पर्क कायम होगा।

साझा सांस्कृतिक अभियान वास्तव में तभी साझा हो सकता है जब हम बोध, धारणा और व्यवहार की साझेदारी का ठोस स्वरूप तय करें और उस दिशा में एक-एक कदम आगे बढ़ें। इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श के लिए हम अपने ये ठोस सुझाव-प्रस्ताव रख रहे हैं। आज की स्थिति, असंवाद-अविश्वास के माहौल, दूरियों और ताकत की कमी को देखते हुए, जाहिर है कि हम सभी जरूरी कदम एक साथ नहीं उठा सकते। पर प्राथमिकताएं तय करके कहीं से एक छोटी शुरुआत तो की ही जा सकती है और अवश्य की जानी चाहिए। बेशक सिर्फ सपने हों तो भी एक शुरुआत है, पर आज की शुरुआत सपनों को साकार करने की दिशा में किसी एक सार्थक पहल से होनी चाहिए। ●

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** ● जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** ● विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** ● राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** ● जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े सात) ● ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** ● विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** ● इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** ● विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज, गोरखपुर** ● शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** ● प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** ● डी. के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद ● रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** ● श्री रामधीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोती लाल नेहरू मार्ग, **इलाहाबाद** ● करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** ● प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** ● राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** ● नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** ● श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, लंका, **वाराणसी** ● डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा-2

बिहार ● एस.के. शर्मा, 282-बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा, बेगूसराय** ● समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** ● पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** ● जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेन्द्रनगर, **पटना** ● मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** ● अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** ● वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी. एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** ● रामपुकार सिंह, ग्रा. पो.भदई, जि.-**मुजफ्फरपुर** ● विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** ● श्री भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** ● लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** ● कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज** ● गोवर्धन सिंह, ग्रा. चुटिया, पो. गोदरमाना, थाना-रंका **(गढ़वा)-822125**

दिल्ली ● सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग ● बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस ● गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय ● पत्रिका मण्डप, दिल्ली वि.वि. कोआपरेटिव स्टोर्स, लि. दिल्ली विश्वविद्यालय ● पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस ● पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस ● विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग

महाराष्ट्र ● परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** ● सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** ● शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** ● सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर, जि.-**ठाणे** ● शांतनु श्रीवास्तव, सी-43, सी. एम.पी.डी., जरीपटका, **नागपुर**

हिमाचल प्रदेश ● एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा ● नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** ● राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** ● सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान ● सर्जना, सांखला प्रिंटर्स परिसर, चंदन सागर कुएं के पास, **बीकानेर** ● चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम. डी. रोड, **जयपुर**

प. बंगाल ● श्याम अविनाश, पी. एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** ● राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** ● बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** ● न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** ● जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.-करेन, जि.-**जलपाईगुड़ी** ● ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 35/डी, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश ● गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश ● जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** ● चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** ● 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक कम्पाउंड, नेपियर टाउन, **जबलपुर**

नेपाल ● विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल, लुम्बिनी** ● विशाल पुस्तक सदन, विजुवार बाजार, प्यूठान, **राप्ती अंचल** ● विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, घुटवल, **रुपनदेई**

●

''उदारीकरण'' के आठ वर्ष

आत्मघाती राह पर शासक वर्गों की विनाश-यात्रा के आठ वर्ष

अरविन्द सिंह

नयी गठबन्धन सरकार ने आर्थिक ''उदारीकरण'' के दूसरे चरण की शुरुआत कर दी है। इसके पहले कि गठबन्धन के भागीदारों की खींचतान और उठापटक का नया सिलसिला शुरू हो और राजनीतिक अस्थिरता का नया अध्याय शुरू हो, गठबन्धन की अगुवा भारतीय जनता पार्टी देशी शासक वर्गों और साम्राज्यवादियों के प्रति अपनी वफादारी निभा देना चाहती है। सबसे बड़े विपक्षी दल के रूप में कांग्रेस भी तब तक सरकार की राह में कोई रोड़ा नहीं पैदा करना चाहती, जब तक कि उन विधेयकों पर संसद का ठप्पा न लग जाये जिनका बेकरारी से देशी-विदेशी थैलीशाह इन्तजार कर रहे हैं। उस समय तक कांग्रेस भी ''जिम्मेदार विपक्ष'' की यही भूमिका निभायेगी और गठबन्धन के अन्य भागीदार भी कम से कम इस सवाल पर शासक वर्गों के इन दो प्रमुख रहनुमाओं के साथ हैं।

वाजपेयी सरकार अपने नये कार्यकाल में कितनी हड़बड़ी में है, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कैबिनेट की पहली बैठक में ही बीमा नियामक प्राधिकरण विधेयक, दूर संचार पैकेज, विदेशी मुद्रा प्रबन्ध अधिनियम (फेमा), मनी लॉड्रिंग विधेयक को संसद में पारित करने के लिए मंजूरी दे दी गयी। इसके अतिरिक्त, आर्थिक ''उदारीकरण'' के दौर के साथ ''तर्कसंगति बैठाने'' के लिए मौजूदा श्रम कानूनों में बदलाव के लिए पूर्व श्रम मंत्री रवीन्द्र वर्मा के नेतृत्व में दूसरे श्रम आयोग का गठन भी कर दिया गया है। साथ ही, वित्तीय घाटे में कमी करने के लिए ''कठोर कदम'' उठाने, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को लुभाने और कर-प्रणाली में सुधार की ''संकल्पशक्ति'' का इजहार हर दिन किसी न किसी बैठक में किया जा रहा है और ''उदारीकरण'' के समर्थक अर्थशास्त्री और नौकरशाह भी सरकार की मजबूरियों पर जनमत तैयार करने की कवायदों में जी-जान से जुट गये हैं।

वित्तीय घाटा कम करने के लिए कौन से ''कठोर कदम'' उठाये जायेंगे, इसके बारे में अब आम आदमी भी विगत वर्षों के अनुभवों से बखूबी जान गया है। चुनावी नतीजों के आने के पूर्व ही डीजल की कीमतों में चालीस प्रतिशत की बेतहाशा बढ़ोत्तरी करके सरकार अपनी ''संकल्पशक्ति'' का प्रदर्शन पहले ही कर चुकी है। और अब, उर्वरक सब्सिडी खत्म करने, बची-खुची सार्वजनिक वितरण प्रणाली के व्यवहारत: विघटन, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के शेयरों की बिक्री की प्रक्रिया और इसी के साथ छंटनी-तालाबन्दी का नया दौर पहले दौर की तबाही-बर्बादी को मीलों पीछे छोड़ देगा।

आर्थिक ''उदारीकरण'' के पहले चरण के आठ वर्षों के नतीजों पर आज न तो अकादमिक हलकों में कोई बहस है और न आम जनता किसी भ्रम का शिकार है। परिणाम इतने नग्न रूप में सा मने आये हैं कि ''उदारीकरण'' के देशी हिमायती ही नहीं विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष और संयुक्त राष्ट्रसंघ की विभिन्न संस्थाएं भी विधवा-विलाप कर रही हैं। विश्व बैंक और संयुक्त राष्ट्र संघ की ताजा मानव विकास रिपोर्टों में ''संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों'' से तीसरी दुनिया में बढ़ती गरीबों की तादाद और तीसरी दुनिया और साम्राज्यवादी विश्व के बीच बढ़ती खाई की तस्वीरें उतारी गयी हैं और विश्व के गरीब देशों और गरीब जनता की दुरवस्था पर आंसू बहाये गये हैं। लेकिन, मानवीय करुणा का यह प्रदर्शन उस समय अश्लील बनकर अपनी असलियत उजागर कर देता है, जब इस समीक्षा के निष्कर्ष सामने आते हैं। यह निष्कर्ष है—कि संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों को आधे-अधूरे ढंग से लागू किया गया। विश्व पूंजी के इन पहरेदारों की यही सीख अमृत-वचन के रूप में ग्रहण कर हमारे देश की नयी सरकार दूसरे चरण की डगर पर सरपट दौड़ने के लिए 'पिकअप' ले रही है।

कहावत है कि संकट के समय मति मारी जाती है। आज विश्व पूंजीवाद संकट में है और हमारे देश का शासक वर्ग भी संकट में है। और ऐसे में उनकी मति मारी जा चुकी है। आर्थिक ''सुधारों'' के पिछले आठ वर्षों के दौरान अर्थव्यवस्था की बीमारी दूर होने की बात तो दूर, हालत और भी बदतर दूर हुई है। सरकारी अर्थशास्त्रियों द्वारा आंकड़ों की बाजीगरी के विलक्षण प्रयासों के बाद भी इसे छुपाया नहीं जा सका है। लेकिन, मतिभ्रम का आलम यह है कि इलाज के पुराने नुस्खे की ही नयी और पहले से ज्यादा बड़ी और कड़ी खुराक दी जा रही है।

देश के शासकों की इस आत्मघाती जिद के पीछे की मजबूरियां दरअसल क्या हैं, इस पर चर्चा के पहले आइये यह चर्चा करें कि कैसे वे तमाम सब्जबाग आज मुरझाये पड़े हैं, जो आर्थिक ''सुधारों'' की शुरुआत पर शासक वर्गों ने देखे थे और जनता को दिखाये थे।

लफ्फाजी और आंकड़ों की बाजीगरी भी सच्चाई को छुपा न सकी

आर्थिक ''सुधारों'' के सूत्रधार मनमोहन सिंह ने नयी नीतियां लागू होने के ''तीन साल के भीतर ही गुल खिलाने'' की बात कही थी लेकिन तीन वर्षों के भीतर ही उन्हें इन सुधारों के साथ ''मानवीय चेहरा'' चस्पां करने की जरूरत महसूस होने लगी थी। आम जनता की बढ़ती बदहाली-तबाही के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में सुधार के लक्षण भी नहीं दीख रहे थे, लेकिन सच्चाइयों से आंखे मूंदते हुए वित्त मंत्रालय के नौकरशाह ''सुधारों'' की गुलाबी तस्वीर प्रस्तुत करते रहे। लफ्फाजियां

तालिका-एक : आर्थिक ''सुधारों'' के पहले और बाद के दौर में अर्थव्यवस्था का आम परिदृश्य

अवधि	वृद्धि की औसत वार्षिक दर (प्रतिशत में)						विदेशी कर्ज (अरब डालर)	घरेलू कर्ज (अरब रुपये)
	सकल घरेलू उत्पाद (GDP)	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन	महंगाई	रोजगार			
					संगठित क्षेत्र में	कुल		
आर्थिक ''सुधारों'' के पहले (1980-81 से 1990-91)	5.7	3.9	7.8	7.2	1.56	2.68	84	1540
आर्थिक ''सुधारों'' के बाद (1991-92 से 1998-99)	5.7	2.8	4.4	8.9	0.92	1.30	98	4555

स्रोत : भारत सरकार का **आर्थिक सवेक्षण (1998-99)** और **रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया** की वार्षिक रिपोर्ट।
नोट: अक्टूबर 1998 तक कुल विदेशी कर्ज 96 अरब डालर था। तब से दो अरब डालर और लिये गये हैं।

जारी रहीं। **1996-97 के सरकारी आर्थिक सर्वेक्षण** में यह दावा किया गया कि संरचनात्मक समायोजन के तहत किये गये ''सुधारों'' की बदौलत भारतीय अर्थव्यवस्था में एक ''जीवन्त उछाल'' और ''तरणशीलता'' आ गयी। भाजपा सरकार के पिछले कार्यकाल के दौरान ''सुधारों'' के मुद्दों पर अपने अन्तरविरोधी बयानों और लफ्फाजियों के लिए खासे चर्चित वित्त मंत्री यशवन्त सिन्हा ने चुनावपूर्व बजट पेश करते समय ''भारी उपलब्धियों'' का दावा किया तथा यह उम्मीद जतायी कि ''इन उपलब्धियों के साथ भारत 2020 तक वास्तव में एक आर्थिक महाशक्ति बन जायेगा।'' लेकिन, कुछ ही समय बाद इस लफ्फाजी से पैंतरापलट कर वित्तमंत्री महोदय **विश्व आर्थिक फोरम** के प्रबन्ध निदेशक के सुर में सुर मिलाते हुए यह करुण-विलाप करते हैं कि ''आज हम एक बार फिर 1991 जैसे संकट के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं।'' और अब अपने नये कार्यकाल में यशवन्त सिन्हा पुन: एक तरफ लगातार बढ़ते वित्तीय घाटे के प्रति चिन्ता जता रहे हैं, दूसरी तरफ ''आर्थिक सुधारों के दूसरे चरण'' की शुरुआत कर रहे हैं।

लफ्फाजियों के साथ-साथ आर्थिक ''सुधारों'' की गुलाबी तस्वीर पेश करने के लिए आंकड़ों की बाजीगरी करने में भी सरकारी अर्थशास्त्रियों ने अपनी समस्त ''सृजनशीलता'' उंड़ेल दी। लेकिन, तमाम कवायदों के बावजूद तस्वीर का रंग धूसर ही बना रहा। यहां हम विकास की पूंजीवादी अवधारणा और मानदण्डों पर चर्चा किये बगैर उन्हीं मानदण्डों और सरकारी आंकड़ों के आधार पर इन ''सुधारों'' की असलियत और आंकड़ों की बाजीगरी को उजागर करने का प्रयास करेंगे।

''संरचनात्मक समायोजन'' और आम आर्थिक परिदृश्य

विगत आठ वर्षों में अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष-विश्व बैंक के नुस्खों से आर्थिक ''सुधारों'' की जो खुराकें दी गयी हैं, उनसे अर्थव्यवस्था की मूल्य व्याधियां दूर होने की बात तो दूर, ये और भी बढ़ती गयी हैं। औद्योगिक उत्पादन के कुछेक क्षेत्रों में यदा-कदा बढ़ोत्तरी के कुछ लक्षण दिखायी भी दे जाते हैं तो अन्य क्षेत्रों में होने वाली गिरावट से समूचे औद्योगिक उत्पादन में पसरी आम मन्दी के परिदृश्य पर कोई फर्क नहीं पड़ता। इसीलिए, ''मन्दी से उबरने के संकेतों'' से पैदा होने वाली क्षणिक खुशी अगले ही पल घिघियाहटों में तब्दील हो जाती है। तमाम प्रोत्साहनों के बावजूद न तो निर्यात में कोई वृद्धि हो पायी है और न ही विदेशी कर्जों पर निर्भरता घटी है। घरेलू कर्जे भी बढ़ते ही गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश और कई सब्सिडियों में कटौतियों और बजटीय कवायदों के बावजूद वित्तीय घाटा चार प्रतिशत के जादुई अंक तक उतरने के बजाय चढ़ता गया है। कुल मिलाकर रुख उल्टा ही रहा है। छल नियोजित आंकड़ों से यदि मुद्रास्फीति किसी तरह नियंत्रण में दिखायी भी दे रही है, तो कीमतों में उछाल से इसका कोई भी लाभ आम उपभोक्ता को नहीं मिल पाता। जीवन की बुनियादी जरूरतों की कीमतों—खाद्यान्न, खाद्य तेलों, सब्जियों आदि की कीमतों में इस अवधि में हुई बढ़ोत्तरियां आम जनता से जीने के अधिकारों को भी छीनती जा रही हैं। निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ने की तमाम बातों को तथ्य बकवास साबित कर चुके हैं। आइये, उपलब्ध सरकारी आंकड़ों के आधार पर इसपर थोड़े विस्तार में चर्चा की जाये।

सकल घरेलू उत्पाद (GDP)

तालिका-एक से स्पष्ट है कि विगत आठ वर्षों में कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में गिरावट का रुख रहा है। ''सुधारों'' के पहले के दशक में जहां कृषि उत्पादन एवं औद्योगिक उत्पादन में वार्षिक वृद्धि दर औसतन क्रमश: 3.9 प्रतिशत और 7.8 प्रतिशत रही थी, वहीं बाद में यह घटकर क्रमश: 2.8 प्रतिशत और 4.4 प्रतिशत रह गयी है।

इस गिरावट के बावजूद यदि सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वृद्धि दर 5.7 प्रतिशत पर रुकी हुई है तो उसका कारण **तृतीयक क्षेत्र** अर्थात सेवा क्षेत्र में हुई वृद्धि है। देखें **तालिका-दो**।

तालिका-दो में 1991 से लेकर 1996-97 तक कारक लागत (factor cost) के आधार पर **जी डी पी** का विवरण दिया गया है। तालिका से यह एकदम स्पष्ट है कि माल-उत्पादक क्षेत्रों में, और खास तौर से कृषि क्षेत्र में, गिरावट की ही प्रकृति चल रही है। इसके विपरीत, तृतीयक क्षेत्र, यानी सेवा क्षेत्र (बैंक, बीमा, सट्टा बाजार, होटल व्यवसाय, मनोरंजन उद्योग आदि) में लगातार वृद्धि का रुख है। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में विश्व पूंजीवाद की एक प्रमुख अभिलाक्षणिकता है—तृतीयक क्षेत्र का अर्थात सेवा क्षेत्र का विस्तार और भारतीय पूंजीवादी अर्थतंत्र की यह प्रवृत्ति इसी का एक उदाहरण है। यह अर्थव्यवस्था का **अभौतिकीकरण** है, जिसके दुष्परिणाम रोजगार-सृजन और मांग-पूर्ति सन्तुलन को सर्वाधिक भुगतने पड़ेंगे।

यहीं पर, सरकारी अर्थशास्त्रियों द्वारा सकल घरेलू उत्पाद के आकलन में की गयी एक सांख्यिकीय बाजीगरी की चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने पिछले

तालिका-दो : सकल घरेलू उत्पाद का व्यापक क्षेत्रवार वितरण (प्रतिशत में)

क्षेत्र	1990-91	1991-92	1995-96	1996-97	1997-98*
प्राथमिक	32.91	32.00	27.91	26.86	24.4
द्वितीयक	28.03	27.34	29.53	29.34	27.0
तृतीयक	39.06	40.66	42.56	42.80	48.6

स्रोत : *आर्थिक सर्वेक्षण 1996-97।*

*बिजनेस स्टैण्डर्ड, 18 मई 1998 से अग्रिम अनुमान।

नोट : *प्राथमिक क्षेत्र* = कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र, *द्वितीयक क्षेत्र* = मैन्युफैक्चरिंग आदि और *तृतीयक क्षेत्र* = सेवा क्षेत्र।

दिनों विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादनों के आकलन के लिए *राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी* की एक नई श्रृंखला जारी की है। अब तक सामान्यतया उत्पादनों के आकलन के लिए जनगणना वर्ष को आधार वर्ष माना जाता था। जनगणना के मुताबिक श्रमशक्ति का जो आकलन होता था उसे प्रति श्रमिक औसत संवर्द्धित मूल्य से गुणा कर विभिन्न असंगठित क्षेत्रों के कुल उत्पादन का अन्दाज लगाया जाता था। पुरानी पद्धति का आधार वर्ष विगत जनगणना वर्ष यानी 1980-81 था। लेकिन, नई श्रृंखला में आधार वर्ष बदलकर 1993-94 कर दिया गया है। इतना ही नहीं, अब हर पांच वर्ष पर नई श्रृंखला जारी की जायेगी और श्रमशक्ति के आकलन के लिए राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा बेरोजगारी और रोजगार के सर्वेक्षणों को आधार बनाया जायेगा।

इस नई श्रृंखला में सिर्फ आधार वर्ष ही नहीं बदला गया है बल्कि कुल उत्पादन के आकलन में कई नये क्षेत्रों को जोड़ दिया गया है। जिन नयी चीजों को जोड़ा गया है, उनमें फूलों की उपज; लोगों द्वारा अपने बगीचों में लगायी गयी चीजें; जलावन के रूप में इस्तेमाल होने वाली घास-फूस और लकड़ी; कपड़ों की सिलाई; रेडियो, टीवी, केबुल मरम्मत; रेल के डिब्बों और रेल के साजो-सामान की मरम्मत; कर्मचारी राज्य बीमा निगम की सेवाएं; निजी संचार सेवाएं—जैसे पी.सी.ओ. बूथों की आमदनी और सॉफ्टवेयर, व्यावसायिक सलाहें आदि से होने वाली आमदनी शामिल है। इन चीजों से राष्ट्रीय आमदनी में कितनी बढ़ोत्तरी होगी, कोई भी औसत दिमाग आदमी इसे समझ सकता है। लेकिन, आर्थिक ''सुधारों'' की ''सफलता'' को प्रमाणित करने की यह अहमकाना कवायद करने वाले सरकारी अर्थशास्त्री शायद अपने कारनामे पर फूले नहीं समा रहे होंगे। वैसे यह कवायद भी उनकी कोई मौलिक देन नहीं है। यह अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और संयुक्त राष्ट्र संघ के नौकरशाहों द्वारा सिखायी गयी तरकीब है। पिछले कुछ अर्से से ये नौकरशाह इस पर असन्तोष जाहिर कर रहे थे कि भारत के कुल उत्पादन का आकलन वास्तविकता से 60 से 100 प्रतिशत तक कम होता है। इसी ''वास्तविक मूल्यांकन'' के लिए उपर्युक्त चीजें जोड़ी गयी हैं और आधार वर्ष को बदलकर ''सुधारों'' की ''सफलता'' प्रमाणित करने की कोशिश की गयी है।

उत्पादनों के आकलन की इसी नयी प्रणाली का उपयोग कर **आर्थिक सर्वेक्षण 1998-99** ने कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों के उत्पादन में विगत वर्ष की ऋणात्मक वृद्धि दर – 1.0 प्रतिशत की तुलना में 5.3 प्रतिशत वृद्धि दर दर्ज की है। आंकड़ों की इसी बाजीगरी से अन्य क्षेत्रों में भी वृद्धि दर 1998-99 में बढ़ी हुई दिखायी गयी है, जबकि सच्चाई यह है कि 1997-98 में मंदी की स्थिति काफी विकट थी और पुरानी विधि से आकलन करने में यह दिखायी भी देती है। लेकिन, इस कवायद के बावजूद सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर ''सुधारों'' के पहले के दौर से आगे नहीं बढ़ पाई है।

देशी-विदेशी कर्ज : विदेशी व्यापार

आर्थिक ''उदारीकरण'' की प्रक्रिया शुरू होने के बाद से आने वाली सभी सरकारें समय-समय पर देश में विदेशी मुद्रा भण्डार की स्थिति पर सन्तोष प्रकट करती रहती हैं। यह सही है कि इन आठ वर्षों में विदेशी मुद्रा भण्डार इतना कभी नहीं कम हुआ कि 1990 जैसा भुगतान सन्तुलन का संकट पैदा हो जाये। लेकिन, इस भण्डार की असलियत यह है कि ''सन्तोषजनक'' विदेशी मुद्रा भण्डार में अच्छा-खासा हिस्सा विदेशी कर्जों और अनिवासी भारतीयों की जमा रकम है। इसलिए, भुगतान सन्तुलन असन्तुलित हो जाने का खतरा हमेशा बरकरार है।

विगत आठ वर्षों में विदेशी व्यापार घाटा भी बढ़ता ही गया है। विदेशी कर्ज और देशी कर्ज भी बढ़ता ही गया, जैसाकि, **तालिका-तीन** से स्पष्ट है।

तालिका-तीन से स्पष्ट है कि विगत आठ वर्षों में उदार आयात-निर्यात नीति के तहत निर्यात प्रोत्साहित करने के अनेकानेक उपायों के बावजूद निर्यात में वृद्धि की दर में ''सुधार'' के पूर्व के वर्षों की तुलना में गिरावट आयी है। इसके विपरीत, आयात को लगभग पूर्ण प्रतिबन्धमुक्त करने से आयात में वृद्धि दर 4.5 प्रतिशत से बढ़कर 7.8 प्रतिशत हो गयी है। इसमें भी पूंजीगत मालों के आयात की तुलना में उपभोक्ता मालों के आयात में वृद्धि दर अधिक है, जो इस सरकारी दावे को झुठला देता है कि आयात में उदारीकरण से अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ेगी। स्थिति यह है कि विश्व व्यापार संगठन से वचनबद्धताओं और साम्राज्यवादी देशों के दबावों के कारण पिछले दिनों पॉमोलीन जैसे खाद्य तेलों और गेहूं आदि खाद्यान्नों के आयात का जो सिलसिला चला है, उसके कारण इन कृषि उपजों के उत्पादकों को भारी नुकसान उठाना पड़ा है। कई अर्थशास्त्री इस आशंका की ओर इंगित कर चुके हैं कि यदि खाद्यान्नों और खाद्य तेलों के आयात का यही सिलसिला रहा तो लाखों छोटे-मझोले किसान बरबाद हो जायेंगे और एक भीषण खाद्य संकट पैदा हो सकता है। यह आशंका सच भी साबित हो सकती है। उप-सहारा अफ्रीका के कई देशों की जनता इसे भुगत चुकी है।

तालिका-तीन : विदेशी व्यापार और विदेशी देनदारी की औसत वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)

अवधि	निर्यात	आयात	विदेशी व्यापार घाटा	कुल विदेशी देनदारी	रुपये की वैदेशिक कीमत
आर्थिक ''सुधारों'' के पूर्व (1980-81 से 1990-91)	8.3	4.5	0.33	16.5	-8.3
आर्थिक ''सुधारों'' के बाद (1991-92 से 1998-99)	8.0	7.8	32.3	35.8	-9.2
बढ़ोत्तरी(+)गिरावट (–)	-3.6	+73.33	+9688	+117	-10.8

बढ़ते आयात और घटते निर्यात का नतीजा व्यापार घाटे की बढ़ती दर के रूप में साफ परिलक्षित हो रहा है। तालिका से यह स्पष्ट है कि ''सुधार''-पूर्व के वर्षों की तुलना में बाद के दौर में व्यापार घाटे में बढ़ोत्तरी कितनी तेज गति से ऊपर उठी है। कुल विदेशी देनदारी में भी कमी के बजाय उठान का ही रुख है। रुपये का अवमूल्यन भी ''सुधारों'' की अवधि में बढ़ता जा रहा है। रुपये की वैदेशिक कीमत में गिरावट की दर सुधारों के पहले यदि 8.3 थी तो बाद में 9.2 प्रतिशत हो गयी है।

''उदारीकरण'' की अवधि में विदेशी और घरेलू कर्ज भी तेजी से बढ़ा है। ''सुधार'' पूर्व के दशक में जहां यह 84 अरब डालर था, वहीं आज यह 98 अरब डालर तक पहुंच चुका है। इसी तरह घरेलू कर्ज भी 1540 अरब रुपये से बढ़कर 4555 अरब रुपये तक पहुंच चुका है, अर्थात लगभग तीन गुने की बढ़ोत्तरी, (देखें, तालिका-एक) स्पष्ट है कि ऋणग्रस्तता की बीमारी भी कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है।

विदेशी पूंजी निवेश

विदेशी पूंजी निवेश को अर्थव्यवस्था की बीमारी को दूर करने का एक जरूरी नुस्खा बताते हुए उसे लुभाने के लिए सरकार ने एक-एक करके तमाम शर्तों को ढीला किया, लेकिन कुल मिलाकर विदेशी पूंजी के प्रवाह का परिमाण बेहद कम रहा। ''उदारीकरण'' के विगत आठ वर्षों का अनुभव यह है कि इस दौरान विदेशी निवेश के जितने प्रस्ताव मंजूर हुए हैं, उनका सिर्फ पांचवां हिस्सा ही वास्तविक निवेश में लग पाया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अब तक कुल 27 अरब के विदेशी पूंजी निवेश में सिर्फ 12 अरब डालर ही सीधे निवेश में लगा है, शेष लगभग 15 अरब डालर शेयर बाजार में सट्टेबाजी के रूप में निवेश में लगा है, देखें तालिका-चार। स्पष्ट है, कि विदेशी पूंजी की दिलचस्पी भारत के आधारभूत औद्योगिक क्षेत्रों के बजाय फटाफट मुनाफा कमाने में है और सरकार की चाहत दिवास्वप्न बनकर रह गयी है। देश के शेयर बाजार में जो विदेशी पूंजी लगी है, उसी की सट्टेबाज गतिविधियों के चलते शेयर सूचकांकों में उछाल और पतन के बुलबुले बनते और फटते रहते हैं। हर्षद मेहता शेयर घोटाला प्रकरण में यह चीज प्रमाणित हो चुकी है।

तालिका-चार : विदेशी निवेश का स्वरूप (करोड़ डालर)

वर्ष	सीधा निवेश	पोर्ट-फोलियो निवेश	कुल निवेश
1991-92	12.9	0.4	13.3
1992-93	31.5	24.4	55.9
1993-94	58.6	353.7	415.3
1994-95	131.4	382.4	513.8
1995-96	21.33	274.8	488.1
1996-97	269.6	331.2	600.8
1997-98	318.7	182.8	502.4
1998-99	156.2	-68.2	88.02
कुल	1183.2	1484.5	2677.7

बेरोजगारी

आर्थिक ''उदारीकरण'' के दौरान रोजगार बढ़े हैं या घटे हैं, इसका जवाब तलाशने के लिए किसी सांख्यिकीय विश्लेषण की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं है। यह एक आम अनुभव की बात है कि निजीकरण, छंटनी-तालाबन्दी और वित्तीय घाटा कम करने के लिए सरकारी खर्चों में कटौती की नीति के तहत नयी भर्तियों को कम करते जाने का जो सिलसिला चल रहा है, उसके फलस्वरूप रोजगार के अवसर निरन्तर कम होते जा रहे हैं। लेकिन, सरकारें दावा करती रही हैं कि निजी क्षेत्र में व असंगठित क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ेंगे और विदेशी पूंजी भी रोजगार के अवसर बढ़ायेगी। लेकिन उपलब्ध आंकड़े स्वयं ही इन दावों को झुठला देते हैं। हालांकि, रोजगार सम्बन्धी विस्तृत आंकड़ों का प्रकाशन सरकार ने 1966 के बाद से बन्द कर दिया है इसलिए पूरी तस्वीर तो नहीं साफ हो सकती, लेकिन जो भी आंकड़े उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर सरकारी दावों की असलियत को उजागर किया जा सकता है।

कुछ समय पहले सरकार ने चौथी आर्थिक गणना के आंकड़े जारी किये थे। इन आंकड़ों से पता चलता है कि 1990 से 1998 के बीच संगठित और असंगठित क्षेत्र के उपक्रमों के बढ़ने की औसत सालाना रफ्तार 2.33 प्रतिशत रही है जबकि 1980 से 1990 के दौरान यह 2.64 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही थी। इस तरह आर्थिक उपक्रमों की संख्या बढ़ने की रफ्तार में आर्थिक ''सुधारों'' के दौरान करीब 13 प्रतिशत की गिरावट आयी है। **तालिका-एक** से यह भी स्पष्ट है, कि इस अवधि में संगठित-असंगठित क्षेत्रों में कुल रोजगार बढ़ने की दर में भी लगभग 50 प्रतिशत की कमी हुई है। आर्थिक ''सुधारों'' के पहले यह 2.68 प्रतिशत थी, जो बाद में घटकर 1.30 प्रतिशत रह गयी है।

तालिका-पांच : 'संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम' के दौरान संगठित क्षेत्र में रोजगार (दस लाख में)

	90-91	91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97	97-98
सार्वजनिक क्षेत्र	19.1	19.2	19.3	19.4	19.5	-	-	-
निजी क्षेत्र	7.7	7.8	7.9	7.9	8.1	-	-	-
योग	26.8	27.0	27.2	27.3	27.6	-	-	-
पंजीकृत बेरोजगार	34.6	36.6	36.3	36.3	36.6	36.8	37.6	41.0

स्रोत : 'सेण्टर फॉर मॉनिटरिंग ऑफ इण्डियन इकॉनमी (सी.एम.आई.ई., जून 1998)

तालिका-पांच में दिये गये आंकड़े आर्थिक ''उदारीकरण'' की प्रक्रिया के दौरान संगठित क्षेत्र में उपलब्ध रोजगार और इसी अवधि में रोजगार दफ्तरों में पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या को दर्शाते हैं।

तालिका-पांच से स्पष्ट है कि ''संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों'' के लागू होने के विगत आठ वर्षों में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या में लगभग ठहराव की ही स्थिति है— अगर दशमलव अंकों में कुछ वृद्धि दिखायी भी दे रही है, तो वह सांख्यिकीय दृष्टि से नगण्य और इसीलिए महत्वहीन ही है। इस परिदृश्य का दूसरा पहलू यह है कि पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी है, वह भी तब, जबकि भारी बेरोजगार आबादी अभी भी पंजीयन दफ्तरों का मुंह नहीं देखती। एक अन्य अध्ययन के अनुसार जहां 1980 के दशक में सार्वजनिक क्षेत्र में 37 लाख अतिरिक्त लोगों को रोजगार मिला था, वहीं 1990 के दशक में यह संख्या घटकर मात्र 6 लाख रह गयी है। यह सार्वजनिक क्षेत्र के तमाम उपक्रमों में नयी भर्तियों पर रोक को ही प्रदर्शित कर रहा है। पूंजी सघन तकनीक के अधिकाधिक इस्तेमाल की प्रवृत्ति ने निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ने के सरकारी दावे को भी खोखला साबित कर दिया है।

भारत के असंगठित क्षेत्र के बारे में यह तथ्य उल्लेखनीय रहा है कि यह व्यापक

मजदूर आबादी की आजीविका का एक प्रमुख स्रोत ही नहीं रहा है, बल्कि यह **जी डी पी** में एक बड़ा योगदान कर्ता भी है। **केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (सी एस ओ)** के अनुसार वर्ष 1991-92 में संगठित एवं असंगठित क्षेत्रों का **जी डी पी** में योगदान क्रमश: 30 प्रतिशत और 70 प्रतिशत रहा है। लेकिन, ''उदारीकरण'' की नीतियों की मार से अब यह परिवर्तित होकर क्रमश: 37.8 प्रतिशत और 62.2 प्रतिशत रह गया है। यह आंकड़ा साफ तौर पर असंगठित क्षेत्र में रोजगार बढ़ने के सरकारी दावे को झुठला देता है।

प्रति व्यक्ति आय और उपभोग, महंगाई, गरीबी

सरकारी आंकड़ों में बताया गया है कि प्रति व्यक्ति आय और प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च, जो 1990-91 में क्रमश: रु. 2199 और रु. 1876 था, वह बढ़कर 1995-96 में क्रमश: रु. 2608 और रु. 2087 तथा 1996-97 में क्रमश: रु. 2761 और रु. 2171 हो गया। इससे यह प्रतीत होता है कि इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय रु. 563 (औसत वृद्धि दर रु. 93.66 सालाना) हो गयी तथा प्रति व्यक्ति निजी उपभोग औसत रु. 49 सालाना वृद्धि दर से कुछ अधिक ही हो गया। यह बढ़ोत्तरी भी आंकड़ों की बाजीगरी का एक नमूना है, क्योंकि इसमें निरन्तर जारी मुद्रास्फीति के फलस्वरूप हस्तान्तरित हुई भारी आमदनियां, निर्यात-प्रोत्साहन और रियायतों (रु. 12000 करोड़ प्रति वर्ष) के नाम पर कारपोरेट घरानों को खुले और छिपे तौर पर दी जाने वाली सब्सिडियां, कर मुक्त काला धन आदि की रकमें भी शामिल हैं। यदि इन्हें छोड़ भी दिया जाये तो सिर्फ संगठित क्षेत्र के 2 करोड़ 80 लाख कर्मचारियों के वेतन की सालाना वृद्धि दरों और महंगाई भत्ते ही ऊपर दर्शाये प्रति व्यक्ति औसत सालाना वृद्धि से कहीं अधिक हो जाते हैं। लेकिन यह आकलन भी सच्चाई की एक अवास्तविक तस्वीर ही प्रकट करता है। क्योंकि इस औसत से भारी अकुशल मजदूर आबादी के वेतन और उजरतों की स्थिति का कोई अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

आर्थिक सर्वेक्षण (1997-98) पृष्ठ, 41 के अनुसार 1991-92 से 1996-97 के दौरान अकुशल मजदूर की वास्तविक उजरतें चार वर्षों के लिए सकारात्मक और दो वर्षों के लिए नकारात्मक परिवर्तनों वाली रहीं। कुल मिलाकर, इस दौरान अकुशल कृषि मजदूरों की उजरतों में औसत वृद्धि दर में **''रोजगार गारण्टी योजना''** चलाने वाली भाजपा-शिवसेना गठबन्धन की महाराष्ट्र सरकार तथा 'हरित क्रान्ति' और सर्वाधिक प्रति व्यक्ति आय वाले पंजाब में तीन वर्षों में उजरत दरों में हुई ऋणात्मक वृद्धियां भी शामिल हैं।

एक अन्य आंकड़े के अनुसार भी, 1991-92 से 1998-99 के बीच खेत मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि दर पांच वर्षों में धनात्मक और दो वर्षों में ऋणात्मक रही। लेकिन, स्थिति की भयावहता का अन्दाज इससे लगता है जब हम मजदूरी में वृद्धि की तुलना इसी अवधि में महंगाई की दरों में हुई बढ़ोत्तरी से करते हैं, (देखें **तालिका-छह**)।

तालिका से स्पष्ट है कि दो वर्षों को छोड़कर महंगाई वृद्धि की दर मजदूरी में वृद्धि की दर से अधिक रही है। ये आंकड़े भी उस वास्तविक तस्वीर को नहीं उभार सकते, कि उदारीकरण की मार से शहरी और गरीब मजदूर आबादी किन भीषण जीवन स्थितियों में धकेल दी गयी है। कारखानों से छंटनी, वित्तीय घाटा कम करने के नाम पर तथाकथित लोक कल्याणकारी कार्यक्रमों के लिए खर्चों में कटौती, मुद्रास्फीति और महंगाई की मार से हर साल एक भारी आबादी उस दशा में पहुंच जा रही है जहां दो जून रोटी भी मुहाल है, जहां अन्य बुनियादी चीजों के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। नतीजतन, कुपोषण एवं आम बीमारियों से होने वाली मौतें भी बढ़ती जा रही हैं। इन्हीं नंगी सच्चाईयों को अनदेखा न कर पाने की मजबूरी के कारण विश्व बैंक को भी यह स्वीकार करना पड़ रहा है कि भारत में गरीबों की तादाद 34 करोड़ तक पहुंच चुकी है। 1980 के दशक के अन्त में यह तादाद 30 करोड़ थी।

तालिका-छह : खेत मजदूरों के लिए मंहगाई और वार्षिक मजदूरी की वार्षिक वृद्धि दर

वर्ष	महंगाई	मजदूरी
1991-92	19.3	- 6.19
1992-93	12.3	+ 5.21
1993-94	3.5	+ 5.61
1994-95	11.1	- 0.39
1995-96	7.2	+ 0.72
1996-97	10.5	+ 4.67
1997-98	3.8	+ 4.88
1998-99	8.8	-

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1998-99

शासक वर्गों की राजनीति का बदलता परिदृश्य ''उदारीकरण'' प्रक्रिया की देन

''उदारीकरण'' प्रक्रिया के विगत आठ वर्षों में देश के मेहनतकश अवाम की तबाही-बर्बादी का लेखा-जोखा देने के लिए इससे अधिक किसी सांख्यिकी विश्लेषण की जरूरत नहीं। जिन्दगी खुद अपनी कहानी कह रही है, जिसकी झलक हर संवेदनशील व्यक्ति रोज-रोज देख रहा है जब वह अपने आसपास नजर दौड़ाता है। यहां, इन विश्लेषणों का मंतव्य सरकारी दावों की असलियत उजागर करना था, यह कि आर्थिक संकटों से उबरने के जिस रामबाण नुस्खे के रूप में उदारीकरण प्रक्रिया की शुरुआत की गयी थी, वह पूरी तरह बेअसर साबित हो रहे हैं। शासक वर्गों का आर्थिक संकट दूर होने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है और यह घनीभूत होकर उनकी राजनीति में बार-बार प्रकट हो रहा है।

विगत आठ वर्षों में यह पांचवीं सरकार बनी है। नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की कांग्रेसी द्वारा ''उदारीकरण'' प्रक्रिया शुरू करने के बाद, जब से इसके नतीजे आने शुरू हुए हैं, तब से सभी चारों सरकारें गठबन्धन सरकारें बनीं। विगत तीन वर्षों में तीन लोकसभा चुनावों में लगातार तीसरी बार यह गठबन्धन सरकार अस्तित्व में आयी है। अब शासक वर्गों के सभी राजनीतिक 'थिंक टैंक' यह स्वीकार कर चुके हैं कि गठबन्धन की राजनीति को मौजूदा दौर की वास्तविकता मान लेना चाहिए। हालत यह है कि वाजपेयी सरकार, लोकसभा का कार्यकाल पांच साल तक चलाने के लिए संविधान में संशोधन का मन बना चुकी है।

शासक वर्गों की राजनीति में आया राजनीतिक अस्थिरता का यह दौर ''उदारीकरण'' की नीतियों से पैदा हुई सामाजिक जीवन की अस्थिरता की देन है। चुनावी प्रक्रिया के प्रति आम मतदाताओं की निरन्तर बढ़ती उदासीनता विगत चुनावों में एक बार फिर प्रकट हुई। कोई भी चुनावी नारा उन्हें लुभा नहीं पा रहा है, न मन्दिर-मस्जिद, न कारगिल न स्वदेशी-विदेशी का पचड़ा। यही मजबूरी संवैधानिक उपायों से लोकसभा का कार्यकाल पांच वर्ष तक सुनिश्चित करने के निर्णय तक जा पहुंची है।

गठबन्धन की राजनीति ''उदारीकरण'' के इस दौर की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक

परिघटना है, जिसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि शासक वर्गों के विभिन्न धड़ों के बीच आज इस बात पर सहमति हो चुकी है कि जनता की लूट के बंटवारे के सवाल को अब वे उदारीकरण की नीतियों के 'फ्रेमवर्क' के भीतर ही तय करेंगे। यही आम सहमति भाजपा, जो देश के इजारेदार पूंजीपति वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी है, के साथ क्षेत्रीय पूंजीपति वर्गों कुलकों-फार्मरों के राजनीतिक प्रतिनिधि मिलकर सरकार चलाने के रूप में रही है। नीतीश कुमार, करुणानिधि और चन्द्रबाबू नायडू को वाजपेयी की अगुवाई स्वीकारने में बुनियादी तौर पर कोई परेशानी नहीं है। और इसी मजबूरी में भाजपा को भी अयोध्या समान नागरिक संहिता और धारा 370 जैसे अपने प्रमुख एजेण्डे को फिलहाल हाशिये पर रखना पड़ रहा है। भाजपाई राजनीति का यह चरित्र-परिवर्तन मौजूदा दौर की ही एक अभिव्यक्ति है। चन्द्रबाबू नायडू यदि आज साम्राज्यवादी बाजार में बिकने वाले सबसे आकर्षक राजनीतिक माल हैं, तो पश्चिम बंगाल का नाम साम्राज्यवादी पूंजी के हलकों में बड़े आदर के साथ लिया जा रहा है। यह आज के दौर का ही एक प्रहसन है कि संसद में गरजने वाली ''वामपंथी'' तोपें फुलझड़ी बन गयी हैं।

आत्मघाती राह पर बढ़ते जाने की शासक वर्गों की मजबूरियां

शासक वर्गों का आर्थिक-राजनीतिक संकट आने वाले दिनों में और घनीभूत होगा। ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि ''उदारीकरण'' की नीतियां उनको आर्थिक संकटों के दुष्चक्र से बाहर नहीं निकाल सकतीं। साथ ही, राजनीतिक-संवैधानिक संकट भी एक स्थायी रूप ग्रहण कर चुका है। और इनके कुल नतीजों के रूप में सामाजिक संकटों का कौन सा तूफान दस्तक दे रहा है, यह आहट भी उन्हें मिल चुकी है।

विगत आठ वर्षों में औद्योगिक हड़तालों, बन्दों, सरकार विरोधी प्रदर्शनों, राजनीतिक भ्रष्टाचार, राजनीतिक हत्याओं, राजनीतिक-सामूहिक हिंसा, किसानों-मजदूरों की सामूहिक आत्महत्याओं, दंगों आदि की घटनाओं में बेतहाशा वृद्धि हुई है। इस बात को स्वयं गृहमंत्रालय की एक हाल की रिपोर्ट तक में यह कहकर स्वीकार किया गया है कि देश के 535 जिलों में से 210 जिले यानी 40 प्रतिशत जिले ''आन्तरिक सुरक्षा संकटों'' की चपेट में हैं (बिजनेस स्टैण्डर्ड, 14 जुलाई 1998)। इसी आहट को महसूस करते हुए उनसे निबटने की तैयारी के सिलसिले में ही गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी ''आन्तरिक सुरक्षा'' को अपनी सर्वोच्च प्राथमिकता बता रहे हैं।

लेकिन, शासक वर्ग अपने आर्थिक-राजनीतिक संकटों की कोख से पैदा होने वाले सामाजिक तूफानों से बच नहीं सकते। ''संरचनात्मक समायोजन'' के नाम पर भूमण्डलीय और राष्ट्रीय औद्योगिक एवं वित्तीय अल्पतंत्रों अर्थात बहुराष्ट्रीय निगमों और उनके कनिष्ठ भारतीय साझीदारों के आर्थिक-वित्तीय हितों की सेवा के लिए जिन नीतियों को उन्होंने लागू करना शुरू किया है उन्हें भारी मेहनतकश आबादी के आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की कीमतों पर ही लागू किया जा सकता है। इस आत्मघाती राह पर चलना उनकी इच्छा हो या न हो यह उनकी मजबूरी है, उनके सामने मौजूद यही एक विकल्प है।

ये मजबूरियां क्या हैं? **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में मार्क्स ने पूंजीवाद की बुनियादी मजबूरी का इन शब्दों में चित्रित किया है: ''वह समाज जिसने तिलिस्म जैसे ऐसे विराट उत्पादन तथा विनिमय के साधनों का सृजन किया है, ऐसे जादूगर की तरह है, जिसने अपने जादू से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, पर अब उन्हें वश में रखने में असमर्थ है।''

साम्राज्यवादी विश्व के मौजूदा ढांचागत संकट के इतिहास और इसके कारणों की विस्तृत चर्चा में जाये बगैर हम फिलहाल सिर्फ इतना रेखांकित कर देना चाहते हैं कि आज के दौर में साम्राज्यवाद का एक प्रमुख संकट यह है कि उसने अपने तिलिस्म जैसे विराट उत्पादन एवं विनिमय के साधन के रूप में वित्तीय पूंजी और उत्पादित मालों का अम्बार खड़ा कर लिया है, जिसे खपाने के लिए बाजार चाहिए। यह बाजार तीसरी दुनिया के देशों में ही मौजूद है। लेकिन, इसके लिए साम्राज्यवादी वित्तीय-आर्थिक हितों के अनुरूप तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्थाओं को खोलना यानी उन्हें ''संरचनात्मक समायोजन'' के लिए मजबूर कर देना आवश्यक था।

साम्राज्यवादी विश्व की इस स्थिति का ही दूसरा पहलू यह था कि तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्थाएं शोषण-दोहन की विश्वव्यापी होड़ में पिछड़कर पूंजी के अभाव से त्रस्त और ऋणग्रस्त हो चुकी थीं। इस तरह, दो असमान दुखियारों के संकटों ने दोनों को असमान सहमति के एक बिन्दु पर ला खड़ा किया।

साम्राज्यवादी देशों का हित-साधन करने वाली संस्थाओं (**अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष** और **विश्व बैंक**) ने तीसरी और दूसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्थाओं के ''उद्धारकर्ता'' का मुखौटा लगाकर ''संरचनात्मक समायोजन'' की नुस्खा-निर्देशित नीतियों की शर्तों पर ऋण देने की पेशकश शुरू कर दी। ऋणग्रस्त देशों के सत्ताधारी एक तरफ, अपनी मजबूरियों के चलते तो दूसरी तरफ अपनी ('एलीट' बुर्जुआवर्गीय) जरूरतों के चलते इन नीतियों को लागू करने की आत्मघाती डगर पर चल पड़े।

भारतीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अपने जन्म से ही व्याधियों से ग्रस्त थी। इसी तरुणाई में ही (1960 के दशक में ही) इसके बुढ़ापे के शुरुआती लक्षण प्रकट होने लगे थे जो परिमाणात्मक रूप से बढ़ते-बढ़ते 1980 के दशक में ढांचागत संकटों का शिकार हो गया। इसी संकट की परिणति 1990 में भुगतान सन्तुलन के संकट के रूप में मुखर रूप से सामने आयी थी। लेकिन इस ढांचागत संकट को सत्ताधारी वर्गों ने **अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष** और **विश्वबैंक** के अपने आकाओं से मंत्रप्रेरित होकर सिर्फ **राजकोषीय संकट** और **भुगतान सन्तुलन संकट** कहकर खूब प्रचारित किया और फिर उसके बाद शुरू हुआ ''संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों'' का मौजूदा दौर जिसके परिणामों का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

भारतीय शासक वर्गों ने आठ वर्षों पूर्व जो राह पकड़ी है, वह उनके लिए आत्मघाती साबित होने वाली है, इसके संकेत मुखरता से पूर्व एशियाई देशों के संकटों के रूप में भी सामने आ चुके हैं। मेक्सिको और अन्य लातिन अमेरिकी देश, उप-सहारा अफ्रीका तथा दुनिया के कई अन्य देश आज जहां खड़े हैं, भारत भी उसके कगार पर खड़ा है। लेकिन इस नियति में आंखें मूंदकर नयी सरकार भी उसी राह पर सरपट लुढ़कने की मंशा बना चुकी है। वे और कुछ कर भी नहीं सकते। यही उनकी मजबूरी है।

देशी शासकों के इन संकटों के साथ-साथ देश की आम मेहनतकश जनता के भीतर आक्रोश भी घनीभूत हो रहा है। इसके लक्षण भी प्रकट होने शुरू हो चुके हैं। लेकिन, इसी के साथ सभी क्रान्तिकारी ताकतों और जनता के पक्ष में खड़े सभी लोगों की जिम्मेदारियां भी बढ़ती जा रही हैं। आज जरूरत है, इन्हें ठीक से पहचानने और सही ढंग से निभाने की।

●

चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती (1 अक्टूबर) और माओ त्से-तुङ के जन्मदिन (26 दिसम्बर) के अवसर पर

बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता

आलोक रंजन

''चीनी जनता उठ खड़ी हुई है!''
माओ त्से-तुङ
1 अक्टूबर 1949, तिएन एन मेन चौक पर चीनी क्रान्ति की विजय और चीन लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा करते हुए

जहां तक इतिहास के पन्ने हम पलट पाते हैं, मानवता की विकास-यात्रा वर्ग-संघर्ष और क्रान्तियों का एक अटूट सिलसिला नजर आती है। जुल्म से खल्क टकराती रही और इंकलाब के आग के दरिया से गुजरकर नये युग जन्म लेते रहे। बेशक इस सफर में चढ़ाव-उतार और वक्ती तौर पर उलटाव भी आते रहे, पर हारी हुई क्रान्तियां फिर-फिर नई क्रान्तियों की जमीन बनाती रहीं और जमाना पलटता रहा। हार से अमर क्रान्तियों की चमक कभी धुंधली नहीं पड़ी और इतिहास जब आगे बढ़ चला, तब पता चला कि इंसानियत की किस्मत गढ़ने में उन क्रान्तियों ने क्या भूमिका निभाई थी!

हमारी यह बीतती हुई सदी सिर्फ साम्राज्यवादी लूट-खसोट, भयानक संहारक युद्धों और पूंजीवादी उन्माद और सनक की सदी ही नहीं रही है। यह साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों और सर्वहारा क्रान्तियों की तथा उन महान भौतिक-आत्मिक उपलब्धियों की भी सदी भी रही है, जिन्हें आम जनता तक पहुंचाने के लिए पुनः नई क्रान्तियों की एक श्रृंखला की दरकार है।

बीसवीं सदी के इतिहास की धुरी हर-हमेशा सर्वहारा वर्ग के संघर्ष ही रहे हैं। और जिन दो क्रान्तियों ने इस सदी का स्वरूप और इसका भविष्य गढ़ने में—इसकी नियति निर्धारित करने में सबसे अधिक फैसलाकुन भूमिका निभाई है, वे हैं—**1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति** और **1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति ।**

सदी के इस अन्तिम वर्ष में, एक बेहद कठिन समय में जीते हुए, हम महान चीनी क्रान्ति का अर्द्ध-शती वर्ष मना रहे हैं। अफवाहों, कुत्सा-प्रचारों और झूठ से या आज के चीन के नये पूंजीवादी शासकों के काले कारनामों से उस महान क्रान्ति की आभा मन्द नहीं पड़ी है जिसने सदियों से लूटे और कुचले जा रहे विशाल देश की सोई हुई जनता को एक प्रचण्ड चक्रवाती तूफान की भांति जगाकर खड़ा कर दिया। एशिया के जागरण की **लेनिन** की भविष्यवाणी को साकार करते हुए चीन की साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति ने एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाई। लोकयुद्धों की विजय ने उपनिवेशवाद के दौर को सदा के लिए इतिहास की कचरा पेटी के हवाले कर दिया। जनज्वार ने विश्व-स्तर पर साम्राज्यवाद को पीछे हटने और लूट की नई रणनीति विकसित करने के लिए विवश कर दिया।

तब से लेकर आज तक एक लम्बा समय बीत चुका है। सोवियत संघ और चीन में प्रगति, न्याय, समता और स्वतंत्रता के नये कीर्तिमान स्थापित करने वाली हमारी सदी की दोनों महानतम क्रान्तियां मानवता को बहुत कुछ दे चुकने के बाद पराजित हो चुकी हैं। 1976 में **माओ त्से-तुङ** की मृत्यु के बाद चीन में सत्तासीन पूंजीवादी पथगामी ''बाजार-समाजवाद'' के नाम पर पूंजीवाद को अब मुकम्मल तौर पर बहाल कर चुके हैं। इस उल्टी लहर का असर पूरी दुनिया पर हुआ है। मेहनतकश अवाम के खिलाफ दुनिया भर के पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी की ताकत और आर्थिक नीतियों से तो चौतरफा हमला बोला ही है, विचार और संस्कृति के स्तर पर भी वे हावी होकर लड़ रहे हैं। मेहनतकश जनता से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की स्मृतियों को, समतामूलक भविष्य के स्वप्नों को और समाजवादी परियोजनाओं को छीनने की हर चन्द कोशिशें की जा रही हैं। क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा पूरी तरह हावी दीख रही है। लोगों को यकीन दिलाने की कोशिश की जा रही है कि पूंजीवाद ही मानव-इतिहास के विकास की आखिरी मंजिल है।

लेकिन इस कठिन समय में भी ऐतिहासिक सच्चाई पूंजीवादी दुनिया के सिर चढ़कर बोल रही है। पूंजी के भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में श्रमजीवी वर्गों पर तरह-तरह से लूट-खसोट और तबाही-बर्बादी का जो कहर पूरी दुनिया में—और खास तौर पर गरीब मुल्कों में ढाया जा रहा है, वह

भारत में भी अब एकदम खुले रूप में दीखने लगा है। जनता को यह भरोसा दिलाना कठिन है कि चरम विषमता, अन्याय, लूटपाट और असुरक्षा से भरी यह दुनिया ही इतिहास के हजारों वर्षों की विकास-यात्रा की आखिरी मंजिल है। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ असंतोष जगह-जगह विद्रोह की शक्ल में भड़क रहा है—न सिर्फ लातिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के देशों में, बल्कि यूरोप, अमेरिका और जापान में भी छंटनी और बेरोजगारी के खिलाफ मजदूरों और छात्रों के आन्दोलन लगातार जारी हैं। **विश्व-स्तर पर वर्ग-संघर्ष एक नये उभार की ओर बढ़ रहा है। जहां सन्नाटा है, वहां और भी प्रचण्ड तूफान के आसार हैं। यदि कोई ठहराव है तो वह वैचारिक-राजनीतिक-सांगठनिक नेतृत्व के स्तर पर है।** सर्वहारा क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्तियां सभी जगह फिलहाल बिखरी हुई हैं। **एक** तो यह विगत सर्वहारा क्रान्तियों की पराजयों का प्रभाव है। **दूसरे**, विश्व पूंजी के चौतरफा हमले का फौरी नतीजा है। **तीसरे,** पूंजीवादी दुनिया के नये बदलावों का अध्ययन करके नये दौर की नई क्रान्तियों की प्रकृति और रास्ते की समझ बनाने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। जो भी हो, इस प्रक्रिया को आगे बढ़ना ही है। यह इतिहास का नियम है। सर्वहारा क्रान्तियों के नये संस्करण होंगे ही।

आज के कठिन समय में सर्वहारा विचारधारा और अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों के अनुभवों एवं उपलब्धियों से व्यापक मेहनतकश अवाम को परिचित कराना भी क्रान्तिकारी नेतृत्व की एक अहम जिम्मेदारी है। लोगों को यह बताना होगा कि रसातल के निवासियों द्वारा स्वर्ग पर धावा मारना संभव है और अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों ने इसे सिद्ध भी कर दिखाया था। चीनी क्रान्ति के अर्द्धशती वर्ष का आज हमारे लिए यही महत्व और यही प्रासंगिकता है।

''चीनी जनता उठ खड़ी हुई है,'' आज से पचास वर्ष पहले 1 अक्टूबर, 1949 को राजधानी पेइचिङ के केन्द्र में स्थित तिएन एन मेन चौक में लहराते विशाल जनसमुद्र के समक्ष इसी उद्घोष के साथ **माओ त्से-तुङ** ने **चीनी लोक गणराज्य** की स्थापना की घोषणा की थी। **आज दुनिया भर के सर्वहारा क्रान्तिकारियों का यह दायित्व है कि वे इतिहास की उस महाकाव्यात्मक समर-गाथा और शौर्यपूर्ण विजय को न सिर्फ याद करें बल्कि अकूत कुर्बानियों से हासिल इस महान क्रान्ति की शिक्षाओं को आत्मसात् करें, इनसे व्यापक श्रमजीवी जनगण को परिचित करायें और नई क्रान्तियों के लिए आवश्यक प्रेरणा तथा जरूरी सबक लें।**

एक महान क्रान्ति की रचना-प्रक्रिया : जन्म से लेकर विजय तक

चीन एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक साम्राज्यवादी प्रभुत्व और बन्दरबांट का शिकार रहा। पहले से ही मध्यकालीन सामन्ती उत्पीड़न से तबाह और टूटी हुई किसान जनता से साम्राज्यवादी ताकतों ने खून की आखिरी बूंद तक निचोड़ लेने की कोशिश की। 1840 के दशक में ब्रिटेन ने अफीम युद्ध इसलिए छेड़ा कि चीनी अफीम का व्यापार जारी रखें। लाखों चीनी अफीमची हो गये और ब्रिटेन के व्यापारियों-बैंकरों की थैलियां मोटी होती रहीं। साम्राज्यवादियों द्वारा लादी गई असमान सन्धियों और देश के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष-परोक्ष साम्राज्यवादी प्रभुत्व के चलते चीन की स्वतंत्रता-सम्प्रभुता बस नाम मात्र की ही रह गई थी। देश एक अर्द्धउपनिवेश बन गया था।

डा. सुन यात-सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति ने सामन्ती राजतंत्र का तख्ता तो पलट दिया पर यह क्रान्ति अधूरी रही। साम्राज्यवादी षड्यंत्र ने चीन को अलग-अलग युद्ध-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई ''राज्यों'' में बांट दिया। चीन के किसान बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। शहरी व्यापारिक और औद्योगिक अर्थव्यवस्था नौकरशाह-दलाल पूंजीपतियों के माध्यम से सीधे साम्राज्यवाद के मातहत थी।

मई, 1919 का महीना चीन के इतिहास का एक नया प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। चीन के छात्रों-युवाओं की भारी आबादी चीन पर विदेशी प्रभुत्व—विशेषकर जापानी प्रभुत्व का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई। **'4 मई आन्दोलन'** नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन ने ठहरे हुए चीनी समाज को एकदम आलोड़ित कर दिया। चीन के राजनीतिक-सांस्कृतिक जगत में उथल-पुथल मच गई। क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से प्रभावित छात्रों के बीच से आगे बढ़कर कई युवाओं ने बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति में अग्रणी एवं नेतृत्वकारी भूमिका निभाई।

4 मई आन्दोलन के आसपास ही चीनी क्रान्ति के भावी नेता, युवा माओ त्से-तुङ पहली बार मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। जुलाई, 1919 में उन्होंने हुनान से एक पत्रिका निकालनी शुरू की और 1920 की गर्मियों में क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसाइटी संगठित की। 1920 की शरद में उन्होंने च्याङशा में कम्युनिस्ट ग्रुप कायम किये।

1920 तक, मुख्यत: 1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति के प्रेरणादायी एवं वैचारिक प्रभाव में, चीनी क्रान्तिकारियों का एक प्रमुख और अग्रणी हिस्सा इस नतीजे पर पहुंच चुका था कि क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए एक कम्युनिस्ट पार्टी का गठन किया जाना चाहिए और फिर उसके नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ा जाना चाहिए। जुलाई, 1921 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। शुरुआती कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रान्ति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में गलत धारणाओं के चलते चीनी कम्युनिस्टों को एक के बाद एक कई हारों का सामना करना पड़ा। क्रान्तिकारी सेनाएं प्रतिक्रियावादी सेनाओं से घिर गईं और उनका अन्त करीब लगने लगा। इस कठिन स्थिति से क्रान्ति को उबारकर आगे बढ़ाने में माओ ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। उस समय से लेकर 1949 में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होने तक, और फिर आगे समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति के कठिन वर्ग संघर्ष और अनूठे प्रयोगों भरे दौर में, 1976 तक, मृत्युपर्यन्त माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता को नेतृत्व दिया। यही नहीं, चीन की जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के दौर के प्रयोगों—विशेषकर 1966-76 की **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए माओ त्से-तुङ को **मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन** और **स्तालिन** के बाद अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के पांचवे शिक्षक और नेता का दर्जा दिया गया। **इतिहास में माओ त्से-तुङ का यह स्थान न सिर्फ हमेशा सुरक्षित रहेगा, बल्कि आने वाली सदी की नई सर्वहारा क्रान्तियां दुनिया के मेहनतकशों को माओ की महान अर्थवत्ता के नये-नये पहलुओं से परिचित करायेंगी।**

माओ त्से-तुङ ने पहली बार यह स्थापना दी कि चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक

देश में किसान क्रान्ति की मुख्य ताकत होंगे। सर्वहारा वर्ग की भूमिका यहां नेतृत्वकारी होगी। उन्होंने **कम्युनिस्ट पार्टी, लाल सेना** और **संयुक्त मोर्चा** को **नवजनवादी क्रान्ति** के तीन चमत्कारी हथियारों की संज्ञा दी। रूसी क्रान्ति के सशस्त्र आम बगावत के रास्ते से अलग माओ ने **दीर्घकालिक लोकयुद्ध** के क्रान्ति मार्ग का राजनीतिक एवं सैनिक सिद्धान्त कठिन क्रान्तिकारी संघर्षों के दौरान विकसित किया। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति देहातों में लाल आधारों का निर्माण करके, शहरों को घेरकर और इस प्रकार अंतत: पूरे देश में राजनीतिक सत्ता को जीतकर ही विजयी हो सकती है। और अपनी इस प्रस्थापना को उन्होंने व्यवहार में भी सिद्ध कर दिखाया।

1927 में शहरों में प्रतिक्रियावादियों द्वारा लगातार पीछा किये जाने के बाद और च्याङ काइ-शेक की कुओमिन्ताङ पार्टी के प्रतिक्रान्तिकारियों द्वारा कार्यकर्ताओं के कई कत्लेआमों के बाद चीन के कम्युनिस्ट विशाल देहाती क्षेत्रों में जाकर फैल गये। किसानों को संगठित करके उन्होंने सशक्त लाल सेना और आधार इलाकों का निर्माण किया। बीस वर्षों के दौरान उन्होंने तीन कठिन और महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी युद्ध (**भूमि क्रान्ति,** जापान-विरोधी **प्रतिरोध युद्ध** और अंत में कुओमिन्ताङ- शासकों के विरुद्ध निर्णायक **गृहयुद्ध**) लड़े।

भूमि क्रान्ति के कठिनतम दौर में प्रतिक्रान्तिकारी सेना की भारी शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने उस ऐतिहासिक **'लम्बे अभियान'** की शुरुआत की, जिसकी अतुलनीय शौर्य-गाथा पर दुनिया दंग रह गई। अक्टूबर, 1934 में शुरू हुए इस महा अभियान के दौरान लाल सेना ने प्रतिदिन शत्रुओं से लोहा लेते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रांतों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुंचने तक बचे रहे। पर यह अकूत कुर्बानी रंग लाई। 'लम्बे अभियान' ने क्रान्ति के अग्निमुखी बीज पूरे देश के किसानों में बो दिये। माओ की भविष्यवाणी को चरितार्थ करती हुई करोड़ों किसान जनता एक प्रचण्ड, अदम्य तूफान की तरह उठ खड़ी हुई। जापानी साम्राज्यवादियों को धूल चटाने के साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित च्याङ काइ शेक को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 को (ताइवान, हाङकाङ और मकाओ को छोड़कर) पूरे चीन को लाल कर देने का सपना साकार हो गया।

करोड़ों किसान एक प्रचण्ड तूफान की तरह, एक बवंडर की तरह उठ खड़े होंगे; यह इतनी तेज और जबर्दस्त ताकत होगी कि दुनिया की कोई बड़ी से बड़ी शक्ति भी इसे रोक नहीं पाएगी। वे सदियों से उन्हें जकड़ी हुई बेड़ियों को चकनाचूर करके मुक्ति की राह पर बढ़ चलेंगे। वे सभी साम्राज्यवादियों, युद्ध सरदारों, भ्रष्ट अधिकारियों, स्थानीय तानाशाहों और दुष्ट अभिजातों को बुहार कर उनकी कब्रों में धकेल देंगे। —माओ त्से-तुङ

1949 के बाद : चीनी क्रान्ति की उत्तरकथा—एक और नये लम्बे अभियान की शुरुआत

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और नवउपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों को प्रेरणा और दिशा देने में 1949 की चीनी जनवादी क्रान्ति ने महती भूमिका निभाई। कोरिया, वियतनाम आदि देशों में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न जनवादी क्रान्तियों का रास्ता मूलत: चीनी क्रान्ति का ही रास्ता था। अफ्रीकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों ने भी चीनी रास्ते से बहुमूल्य सबक लेकर उपनिवेशवाद को पराजित करने में सफलता पाई।

चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद माओ ने कहा था, **''देशव्यापी स्तर पर जीत हासिल करना दस हजार *ली* लम्बे अभियान का पहला कदम मात्र है। चीनी क्रान्ति महान है, लेकिन क्रान्ति के बाद का रास्ता तथा कार्य अधिक महान एवं अधिक कठिन है।''**

इन शब्दों में क्रान्ति का स्वागत करते हुए माओ ने एक बेहद पिछड़े देश को समाजवाद के प्रकाश स्तम्भ और विश्व क्रान्ति के आधार-क्षेत्र में रूपान्तरित कर देने के लिए चीनी के सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता को तैयार किया। लोक युद्ध के लम्बे वर्षों और आधार क्षेत्रों में व्यवस्था-संचालन के अनुभवों ने इस नई यात्रा में काफी मदद की। **मानव इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर भूमि के पुनर्वितरण** और विदेशी तथा दलाल पूंजीपतियों के कारखानों एवं पूंजी के राष्ट्रीकरण के साथ-साथ स्त्रियों को पूरी समानता देने सहित सामाजिक जीवन में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। करोड़ों-करोड़ सोई हुई आबादी की असीम सर्जनात्मकता और पहलकदमी निर्बन्ध हो गई और बिना विदेशी मदद या पूंजी के, आम लोगों की पहलकदमी के आधार पर निर्माण एवं विकास की ऐसी व्यापक एवं विराट परियोजनाओं को अंजाम दिया गया जो लोकयुद्ध के लम्बे दौर से किसी भी मायने में कम शौर्यपूर्ण नहीं थीं।

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के साथ ही माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी और जनता समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में—एक ऐसी आत्मनिर्भर समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में जुट गई जो विश्व साम्राज्यवादी बाजार की दमघोंटू और

विकलांग बना देने वाली जकड़बंदी से मुक्त हो। और जल्दी ही दुनिया ने यह चमत्कार भी घटित होते देखा। पचास के दशक में चीन की मेहनतकश आबादी के श्रम को प्रकृति के आगे एक अप्रतिरोध्य विराट शक्ति के रूप में सृजनशील और उत्पादक बनाकर अकाल, भुखमरी, बीमारियों अशिक्षा और पिछड़ेपन के लिए प्रसिद्ध देश का कायापलट कर दिया गया। दस वर्षों के भीतर बेरोजगारी का खात्मा हो गया। गांवों से लेकर शहरों तक स्त्रियों की भारी आबादी चूल्हे-चौकठ से बाहर आकर कम्यूनों में सामाजिक उत्पादन से लेकर प्रबंधन एवं राजनीति तक के कामों में शिरकत करने लगी। स्वास्थ्य और शिक्षा की सेवाएं सर्वसुलभ हो गईं। वेश्यावृत्ति, नशाखोरी, जुआ, बाल मजदूरी, भुखमरी आदि का नामोनिशान तक मिट गया। तूफानी नदियों को बांधकर विनाशकारी बाढ़ों को समाप्त कर दिया गया और नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई सुविधाओं का तेज विस्तार किया गया। उत्पादन-टीमों, ब्रिगेडों और कम्यूनों ने दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपजाऊ सीढ़ीदार खेत बना डाले और सभी तरह की ऊसर-बंजर धरती को अन्नपूर्णा बना दिया गया। सड़कों-रेलमार्गों-पुलों का अभूतपूर्व तेज गति से विकास हुआ। 1960 तक चीन बिजली और लोहा सहित तमाम बुनियादी और ढांचागत उद्योगों का अपना ताना-बाना खड़ा कर चुका था। चीन की यात्रा करने वाले पश्चिमी बुद्धिजीवियों-पत्रकारों ने इन चमत्कारी उपलब्धियों को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया, यहां तक कि कम्युनिज्म से नफरत करने वालों ने भी। 1958 में **'महान अग्रवर्ती छलांग'** के बाद कृषि के सामूहिकीकरण ने और अधिक तेज गति पकड़ी। **कम्यूनों के निर्माण ने समाजवादी निर्माण का एक नया पथ आलोकित किया।**

एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि माओ के नेतृत्व में चीन की समाजवादी क्रान्ति ने विकास का जो मार्ग पकड़ा, उसमें गांव और शहर, कृषि और उद्योग के विकास पर समान बल दिया और इन दोनों के बीच के अन्तर को समाप्त करने पर लगातार ध्यान दिया गया। समाजवादी निर्माण के रूसी अनुभव की खूबियों के साथ-साथ कमियों से भी सीखते हुए माओ ने उद्योगों के विकास के लिए कृषि से पूंजी उगाहने के बजाय कृषि के विकास को औद्योगिक विकास का आधार बनाया और समाजवादी क्रान्ति के दौर के नये, मजबूत मजदूर-किसान संश्रय की आधारशिला रखी।

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि चीन में समाजवादी निर्माण के केन्द्रीय कारक हर हमेशा मशीन या तकनीक को नहीं बल्कि जनता को माना गया। यही कारण था कि रूस में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद जब हर तरह की सोवियत सहायता का करार तोड़कर ख्रुश्चेव-गिरोह ने विश्वासघात किया तो भी चीन में समाजवादी निर्माण-कार्य जनता की श्रमशक्ति और सर्जनात्मकता के बूते पर लगातार जारी रहा।

एक तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि माओ त्से-तुङ ने सर्वहारा अधिनायकत्व के अतिकेन्द्रीकृत रूप के बजाय जनता की चेतना उन्नत होते जाने के साथ-साथ निर्णय की प्रक्रिया में उसकी भागीदारी बढ़ाते हुए सर्वहारा सत्ता के जनाधार को लगातार विस्तारित करने पर जोर दिया। ग्रास रूट स्तर पर कम्यून उत्पादक जनता को शासन सूत्र सम्हालना सिखाने की पाठशाला और प्रयोगशाला बन गये। साथ ही, कारखानों और अन्य उपक्रमों में एक सदस्यीय कमेटियों के जरिए विशेषज्ञों और नौकरशाहों के मैनेजमेण्ट का स्थान मजदूरों की क्रान्तिकारी कमेटियों ने ले लिया। समाजवादी उत्पादक उपक्रमों के नये मॉडल—कृषि के क्षेत्र में ताचाई और उद्योग के क्षेत्र में ताचिङ—के निर्माण हुए जिन्होंने उत्पादन के नये कीर्तिमान स्थापित किये।

चीनी क्रान्ति की एक ऐतिहासिक विशिष्टता यह थी कि माओ त्से-तुङ ने अर्थनीति पर राजनीति की सर्वोपरिता पर हमेशा जोर दिया। उन्होंने बार-बार जोर दिया कि समाजवादी संक्रमण की कुंजीभूत कड़ी भी वर्ग-संघर्ष ही है, क्योंकि समाजवाद के पूरे दौर में पुराने बुर्जुआ वर्ग मौजूद रहते हैं और अभी भी मौजूद तमाम आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विभेदों के दरारों-कोनों-अतरों के बीच से, पुराने सांस्कृतिक-सामाजिक ढांचों के अवशेषों के बीच से नये बुर्जुआ तत्व भी पैदा होते रहते हैं। यदि इनके विरुद्ध चौतरफा वर्ग-संघर्ष चलाये बिना सिर्फ तकनीकी-भौतिक प्रगति व उत्पादन वृद्धि पर ही जोर दिया गया तो नया बुर्जुआ वर्ग मजबूत होकर सत्ता पर काबिज हो जायेगा और समाजवादी विकास को पूंजीवादी विकास में तब्दील कर देगा।

माओ इस नतीजे पर एक दिन में नहीं पहुंचे। एक तो उन्हें अपने देश में 1949 के बाद से ही पार्टी के भीतर ऐसे गुट के विरुद्ध लगातार संघर्ष करना पड़ा था जो जनवादी क्रान्ति के बाद समाजवादी रूपान्तरण को आगे बढ़ाने के बजाय किसी न किसी तरह से विकास को पूंजीवादी दिशा में मोड़ देना चाहते थे। ऐसे लोग **ल्यू शाओ-ची, देङ सियाओ-पिङ** आदि थे, जो समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की सच्चाई से इनकार करते हुए केवल उत्पादक शक्तियों के विकास की बात करते थे। ये लोग जनता के बजाय तकनीक को, नौकरशाही प्रबंधन को और सोवियत सहायता को विकास की बुनियादी शर्त मानते थे। ये लोग कम्यूनों के निर्माण तथा समाजवादी शिक्षा एवं संस्कृति के निर्माण के विभिन्न आन्दोलनों का अंदर ही अंदर विरोध करते थे। उद्योगों के विकास के लिए कृषि से पूंजी उगाहकर गांव और शहर का अंतर बढ़ाने के साथ ही ये लोग मध्य वर्ग को खुश रखने के नाम पर वेतनों की असमानता तथा मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अंतर को कम नहीं करना चाहते थे तथा अनेक तरह से माल-उत्पादन और बाजार तंत्र के आधार को सिकोड़ते जाने के बजाय उसे बनाये रखने की पैरवी करते थे।

अपने देश और अपनी पार्टी के भीतर ऐसे पूंजीवादी पथगामियों से संघर्ष करने के साथ ही माओ ने सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय और ख्रुश्चेव के नेतृत्व में नई पूंजीवादी सत्ता की स्थापना का भी गहन विश्लेषण किया और इसे समझने के बाद उन्होंने रूसी पार्टी के खिलाफ **'महान बहस'** चलाकर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रति अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का तो निर्वाह किया ही, अपने देश में भी समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बारे में वे ऐतिहासिक महत्व वाले नतीजों की दिशा में आगे बढ़ चले। इसी का नतीजा थी—**1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जो न केवल चीनी क्रान्ति की यात्रा का बल्कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति की यात्रा का अब तक का अग्रतम मील का पत्थर है।**

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को जारी रखने की आम दिशा और उसके मार्ग की जो आम रूपरेखा प्रस्तुत की वह पूरी दुनिया के सभी देशों के लिए तबतक प्रासंगिक रहेगी जबतक कि मानवता कम्युनिज्म की मंजिल में प्रविष्ट नहीं हो जाती।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इस बात को और अधिक ठोस रूप में स्पष्ट किया गया कि समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद रहते हैं और वर्ग-संघर्ष लगातार जटिल और विकट रूप में जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग को धीरे-धीरे आगे

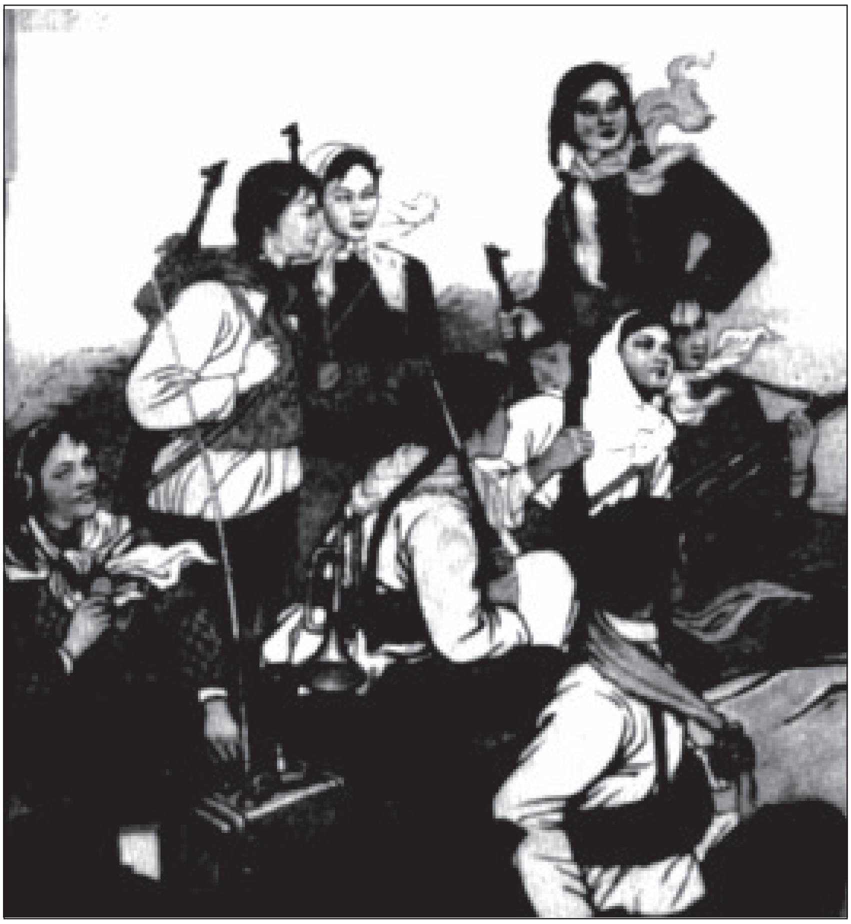

चीन की स्त्रियों के रूप में कम्युनिस्टों के पास वंचित इंसानों की विश्व की सबसे विशाल आबादी में से एक थी। और चूंकि उन्होंने इन स्त्रियों के दिल तक पहुंचने की कुंजी पा ली थी, इसलिए उन्हें च्याङ काइ-शेक पर विजय की भी एक कुंजी मिल गई।
—जैक बेल्डेन : चाइना शेक्स दि वर्ल्ड

बढ़कर फिर से सत्ता हथिया लेने से रोकने के लिए उसपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना होगा और उसके खिलाफ क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा जो सामान्य गति से चलते-चलते बीच-बीच में प्रचण्ड तूफान का—आर-पार की लड़ाई की शक्ल लेता रहेगा। इन तूफानों के दौरान व्यापक जनता सर्वहारा क्रान्तिकारियों की अगुवाई में आगे बढ़कर पार्टी और राज्य के भीतर पनपे बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को नष्ट करती रहेगी और आगे के उन्नत स्तर के संघर्ष व समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी व राज्य को तैयार करती रहेगी। पूंजीवादी पुनर्स्थापना के भौतिक अधिकार के समूल नाश के लिए बुर्जुआ अधिकारों, भौतिक प्रोत्साहन (लालच देकर काम कराना) और हर तरह की असमानता को कम करते जाना तथा माल-उत्पादन को क्रमशः समाप्त करते जाने के साथ ही माओ ने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, सामाजिक आचार-व्यवहार-संस्था-संस्कार आदि अधिरचना (ऊपरी ढांचा) के सभी अंगों के सतत् क्रान्तिकारीकरण को अपरिहार्य बताया।

चीन में 1966 से 1976 तक जारी सांस्कृतिक क्रान्ति ने न केवल चीन में समाजवाद के विकास को ऊंची छलांगें दीं, बल्कि पूरी दुनिया के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को संशोधनवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नई प्रेरणा, नई युयुत्सा (लड़ने की चाहत), नई ऊर्जा और नई दिशा देने का काम किया। गौरतलब बात है कि आज तमाम बिखराव- ठहराव के बावजूद पूरी दुनिया में जिन हजारों कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों ने सर्वहारा क्रान्ति की मशालें जलाये रखी हैं, इनमें से अधिकांश सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रभाव में, संशोधनवादी पार्टियों के नेतृत्व से लड़कर आज से 25-30 वर्षों पूर्व अस्तित्व में आये थे।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, **वर्ग-संघर्ष, उत्पादन के लिए संघर्ष** और **वैज्ञानिक प्रयोग**—इन तीन महान आन्दोलनों ने जन-समुदाय को झकझोरकर उसे सर्जनात्मकता और उत्साह का हिमालय पर्वत और प्रशान्त महासागर बना दिया। उत्पादन के ऐसे उपक्रम और उत्पादन-वृद्धि की ऐसी दर दुनिया ने देखी, जो पहले कभी नहीं देखी-सुनी गई थी। साथ ही समता, न्याय और समाजवादी मूल्यों के भी सर्वथा नये स्तर व रूप अस्तित्व में आये। 1970 के दशक में जब आर्थिक संकट के झकोरे पूंजीवादी दुनिया के शिखर से लेकर रसातल तक को झिंझोड़ रहे थे, उस समय चीनी अर्थव्यवस्था मंदी, मुद्रास्फीति, मंहगाई आदि से पूरी तरह अछूती थी और चीन दुनिया का एकमात्र ऐसा देश था जो आन्तरिक और विदेशी कर्जों से पूरी तरह मुक्त था।

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद चीन में समाजवादी क्रान्ति की यात्रा 27 वर्षों तक जारी रही। 1976 में, सांस्कृतिक क्रान्ति के दस वर्षों के युगान्तरकारी प्रयोग के बावजूद, माओ की मृत्यु के बाद वहां सर्वहारा क्रान्तिकारी पराजित हो गये और सत्तासीन पूंजीवादी पथगामियों ने समाजवाद की समस्त प्रगति को आधार बनाकर पूंजीवादी विकास को तेज गति से आगे बढ़ाया। प्रति व्यक्ति औसत आय, सकल घरेलू उत्पाद, औद्योगिक विकास-दर, पूंजी-निवेश आदि बुर्जुआ मानदण्डों से आज भी चीनी अर्थव्यवस्था दुनिया में सबसे अधिक तेज गति से विकसित हो रही है, पर व्यापक मेहनतकश जनता के लिए यह विकास नहीं, विनाश है। पिछले 23 वर्षों के भीतर चीन में धनी-गरीब के बीच की खाई भी अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। बेरोजगारों की संख्या कई करोड़ हो चुकी है। कम्यूनों को तोड़ दिया गया है। निजी स्वामित्व की अनेक रूपों में बहाली जारी है। विदेशी पूंजी और संस्कृति के लिए देश के दरवाजों को एकदम खोल दिया गया है और चीनी जनता के श्रम से मुनाफा निचोड़कर पश्चिम अपने संकट का बोझ हल्का कर रहा है। आज के चीन में तमाम पुरानी सामाजिक बुराइयां वापस लौट आई हैं, जैसे वेश्यावृत्ति, भीख मांगना, घूसखोरी, चोरी, तरह-तरह के भ्रष्टाचार और नारी-विरोधी अपराध। स्त्रियों को आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों से अलग करके फिर घर की चारदिवारी में कैद किया जा रहा है या उनसे बहुत कम तनख्वाह में काम कराये जा रहे हैं।

ग्रामीण इलाकों में कन्या-शिशुओं और भ्रूणों की हत्या भी की जा रही हैं। कहावत है कि जब प्रेत आयेगा तो श्मशान के सभी साथियों को साथ लायेगा। पूंजीवादी विकास इन बुराइयों के साथ ही होगा, चाहे वह ''बाजार समाजवाद'' के नाम पर ही क्यों न हो!

चीन में क्रान्ति की यह हार चीनी जनता और पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग के लिए एक भारी धक्का तो है, पर यह इतिहास का अंत नहीं है। इतिहास का रास्ता ही कुछ ऐसा होता है—चढ़ावों-उतारों से भरा हुआ। अक्सर ऐसा होता रहा है कि रास्ता खोजने वाली महान क्रान्तियां हारती रही हैं और आगे की मुकम्मिल विजयी क्रान्तियों के लिए आधार तैयार करती रही हैं। आज की संकटग्रस्त, आक्रामक और मेहनतकश अवाम पर कहर बरपा करने वाली साम्राज्यवादी दुनिया फिर सर्वहारा वर्ग को आमंत्रण दे रही है कि वह उस पर टूट पड़े और इस बार उसकी कब्र जरा गहरी खोदे। सर्वहारा क्रान्तियों के नये चक्र के लिए—इक्कीसवीं सदी के सर्वहारा योद्धाओं के लिए बीसवीं सदी की दोनों महानतम क्रान्तियों—सोवियत क्रान्ति और चीनी क्रान्ति की शिक्षाएं बहुमूल्य होंगी, ये शिक्षाएं उनका हथियार होंगी।

चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना क्रान्ति को लगातार जारी रखने की माओ की शिक्षा को ही एक बार फिर सत्यापित करती है।

तीसरी दुनिया के देशों में नई सर्वहारा क्रान्तियों के स्वरूप और रास्ते का सवाल तथा चीनी लोक जनवादी क्रान्ति के अनुभवों की प्रासंगिकता

1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर इसकी विरासत, अवदानों और शिक्षा की चर्चा करते हुए हमने इस निबन्ध में 1949 के बाद की उस यात्रा की भी संक्षिप्त चर्चा की है जो समाजवादी क्रान्ति के रूप में 1976 तक जारी रही। ऐसा इसलिए कि चीनी क्रान्ति की 1949 के पहले की यात्रा को 1949 के बाद की यात्रा से काटकर अलग नहीं किया जा सकता। 1949 में राज्यसत्ता हासिल करने तक की यात्रा चीनी क्रान्ति की उपलब्धि का पूर्वपक्ष था और उसके बाद की यात्रा उसका उत्तर-पक्ष।

समाजवादी संक्रमण के दौरान चीन में जो युगान्तरकारी प्रयोग हुए और खासकर संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के सम्बन्ध में जो अनुभव अर्जित हुए, वे विश्व सर्वहारा के लिए बहुमूल्य खजाना हैं, यह निर्विवाद है। लेकिन भारत और तीसरी दुनिया के देशों में विगत लगभग आधी सदी के दौरान शासक वर्ग और उनकी राज्यसत्ता तथा शोषण-उत्पीड़न के तौर-तरीकों और सामाजिक- राजनीतिक ढांचे में जो महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, उन्हें देखते हुए यह सवाल उठता है कि **क्या आज की साम्राज्यवादी दुनिया की ''कमजोर कड़ियों'' में सम्भावित भावी सर्वहारा क्रान्तियों के लिए चीन की 1949 तक की नई जनवादी क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और क्रान्ति के रास्ते से कोई सबक नहीं निकलता? क्या भावी सर्वहारा क्रान्तियों के लिए, सीखने की दृष्टि से 1949 की नई जनवादी क्रान्ति अप्रासंगिक हो चुकी है?**

हमारी दृष्टि में ऐसा नहीं है। यह सही है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की आधी सदी में दुनिया में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए हैं। अलग-अलग देशों की विशिष्टता को छोड़कर यदि विकास की आम दिशा की संक्षिप्त चर्चा करें तो चन्द बदलावों को सूत्रवत् रेखांकित किया जा सकता है। उपनिवेशवाद और (कुछ थोड़े से देशों को छोड़कर) नवउपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद तीसरी दुनिया के देशों में जो बुर्जुआ वर्ग सत्तासीन हुआ, उसने कहीं एकदम क्रमिक प्रतिक्रियावादी ढंग से, तो कहीं थोड़े ''रैडिकल'' ढंग से सामन्ती-अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को समाप्त करके उनकी जगह पूंजीवादी भूमि-सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं और गांवों को राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय बाजार का अंग बना दिया है। फलत: गांवों में (सामन्ती अवशेषों के कुछ इलाकों को छोड़कर) भी विभिन्न रूपों में पूंजी और श्रम के अन्तरविरोध ही बुनियादी अन्तरविरोध हैं। सत्तासीन देशी पूंजीपति वर्ग सभी पिछड़े देशों में साम्राज्यवादी शोषण को बनाये रखने में सहायक बना रहा। शुरुआती दौर में, वह एक हद तक अपनी सीमित आजादी के आधार का विस्तार करने में सफल रहा, पर साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर में उसने भूमण्डलीकृत पूंजी के लिए अर्थव्यवस्था के दरवाजों को पूरी तरह खोल दिया है और पूरी तरह से साम्राज्यवादियों का 'जूनियर पार्टनर' बन गया है। आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद पूंजीपतियों के किसी भी हिस्से की भूमिका आज क्रान्तिकारी नहीं है। यानी तीसरी दुनिया के अधिकांश देश आज मूलत: साम्राज्यवाद- पूंजीवाद विरोधी क्रान्ति—एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में खड़े हैं। धनी किसान और राष्ट्रीय पूंजीपति अब क्रान्ति के मित्र नहीं रह गये हैं। क्रान्ति का संयुक्त मोर्चा तीन वर्गों का ही बन रहा है। दूसरी बात यह कि पूंजीवादी विकास ने केन्द्रीय राज्यसत्ता की पहुंच को सुदूर क्षेत्रों तक इतना विस्तारित कर दिया है कि दीर्घकालिक लोकयुद्ध के जरिए—गांवों में आधार-क्षेत्र बनाकर और गांवों से शहरों को घेरने की सामरिक नीति भी आज सम्भव नहीं है। आज की स्थिति में क्रान्ति का रास्ता आम बगावत का ही हो सकता है।

फिर भी चीन की नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति-रणकौशल और दीर्घकालिक लोकयुद्ध की प्रासंगिकता एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिकी देशों की नई समाजवादी क्रान्तियों के लिए अभी भी काफी हद तक बनी हुई है। **इसका बुनियादी कारण यह है कि** विकसित पूंजीवादी देशों की समाजवादी क्रान्तियों की अपेक्षा पिछड़े पूंजीवादी देशों की समाजवादी क्रान्तियों में किसान आबादी और गांवों की भूमिका बहुत अधिक होगी। इन देशों में आबादी का बहुलांश अभी भी गांवों में रहता है और गांवों में कृषि सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा के साथ-साथ मध्यम किसानों की आबादी काफी है, जो पूंजीवादी तबाही के चलते क्रान्ति का साथ तो देंगे पर सामूहिकीकरण के नारे को हिचकिचाते हुए धीरे-धीरे ही अपनायेंगे। शुरू में वे कृषि सहकारिता के प्रोग्राम को ही स्वीकार करेंगे। यही नहीं, ऐसे देशों के कई ग्रामीण क्षेत्रों में शुरू में जमीन का वितरण भी करना पड़ेगा। इस भारी किसान आबादी को सर्वहारा क्रान्ति के साथ खड़ा करने की समस्या अमेरिका-यूरोप में तो नहीं है, पर तीसरी दुनिया के देशों में है और इस हद तक चीनी क्रान्ति के अनुभव इन देशों की समाजवादी क्रान्तियों के लिए उपयोगी बने रहेंगे। मध्यम किसान को साथ लेने और मुख्यत: गरीब किसानों व खेतिहर सर्वहारा पर निर्भर करने की नीति अपनाने में, तथा मजदूर-किसान संश्रय बनाने में रणनीतिक नारों की भिन्नता के बावजूद चीनी क्रान्ति के अनुभव आज भी उपयोगी हैं।

इसी प्रकार, यह तो सही है कि आज पिछड़े देशों में भी क्रान्ति का रास्ता आम बगावत का रास्ता होगा और गांवों में मुक्त क्षेत्र बनाने की समर-नीति आज कारगर नहीं हो सकती। लेकिन पिछड़े देशों की क्रान्तियों में अभी भी महज शहरी आम बगावतें कारगर नहीं हो सकतीं। गांवों का महत्व अभी भी बना

हुआ है। क्रान्तिकारी शक्तियों को किसानों में व्यापक समर्थन-आधार तैयार करना पड़ेगा और मुक्त क्षेत्र तो नहीं, लेकिन सीमित स्तर पर छापामार कार्रवाइयों के इलाके विकसित करने पड़ेंगे। साथ ही, तीसरी दुनिया के बहुराष्ट्रीय देशों में परिधि की जिन राष्ट्रीयताओं के मुक्ति के संघर्षों का भविष्य समाजवादी क्रान्ति के साथ जुड़ चुका है, उन्हें अपने सशस्त्र संघर्ष विकसित करने में चीनी दीर्घकालिक लोकयुद्ध से अभी भी काफी कुछ चीजें सीखनी और अपनानी होंगी। यह अपने आप में काफी विस्तृत और उपयोगी चर्चा है, पर इस लेख की सीमा में यहां इतना ही उल्लेख सम्भव है।

चीनी क्रान्ति की कुछ बहुमूल्य शिक्षाएं

क्रान्ति की मंजिल और मार्ग की विशिष्टताओं की चर्चा छोड़ भी दें, तो चीनी नवजनवादी क्रान्ति के इतिहास की कुछ ऐसी आम शिक्षाएं हैं, जिनकी प्रासंगिकता भावी सर्वहारा क्रान्तियों और सर्वहारा क्रान्तिकारियों की भावी पीढ़ियों के लिए हर-हमेशा बनी रहेगी।

(1) चीनी क्रान्ति के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता की पहली कुंजी यह थी कि उसने हर-हमेशा क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू किया।** चीनी क्रान्ति के नेता माओ ने वहां के कम्युनिस्टों को हमेशा जनता पर भरोसा करने, जनता से सीखने, जनता की रोजमर्रा की जिन्दगी और संघर्षों से एकरूप होकर फिर उसका राजनीतिक शिक्षक और नेता बनने तथा जीवनपर्यन्त जनता की सेवा करने की स्पिरिट को बनाये रखने की शिक्षा दी। माओ का समूचा लेखन ऐसी शिक्षाओं से भरा पड़ा है। एक ओर पुस्तक-पूजा और दुस्साहसवाद तथा दूसरी ओर बौद्ध भिक्षुओं की तरह घण्टा डोलाने की रुटीनी कार्रवाइयों और जनता की पिछड़ी चेतना के पिछलग्गू बनकर संशोधनवाद के गर्त में जा गिरने के खिलाफ माओ क्रान्तिकारियों को हमेशा ही चेताते रहते थे।

जनता की असीम क्रान्तिकारी क्षमता और सर्जनात्मकता में जिस भरोसे ने 1949 के पूर्व 'लम्बे अभियान' और येनान के आधार-क्षेत्र के प्रयोगों को सम्भव बनाया, उसी के चलते 1949 के बाद कम्यूनों का निर्माण और 'महान अग्रवर्ती छलांग' और फिर 'सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के महान प्रयोग सम्भव हो सके। तकनीकी कुशलता, बाहरी मदद, अनुभवी नेतृत्व या बेहतर योजना के बजाय माओ ने हर प्रयोग की सफलता की बुनियादी गारण्टी जनता की सर्जनात्मकता और पहलकदमी को जागृत करने को माना।

पार्टी और (1949 के बाद) राज्य मशीनरी में माओ ने जब जनवाद के आधार और केन्द्रीयता को नेतृत्वकारी शक्ति बताते हुए इनके द्वंद्वात्मक सम्बन्धों का नया निरूपण प्रस्तुत किया और नीचे से लेकर ऊपर तक, विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में जब इसे प्रयोग में उतारने की कोशिश की तो इसके पीछे भी उनकी जनदिशा-सम्बन्धी वही सोच काम कर रही थी जिस पर वे जीवनपर्यन्त अविचल रहे।

(2) चीनी क्रान्ति के इतिहास में चीनी पार्टी और उसके नेतृत्व की एक दूसरी विशिष्टता जो सीखने के नजरिये से महत्वपूर्ण है वह यह कि **उन्होंने ठोस विश्लेषण और ठोस कामों में भौतिकवादी द्वंद्ववादी पद्धति को सही ढंग से लागू किया।** अक्सर ऐसा होता है कि बुर्जुआ शिक्षा व तर्क प्रणाली के प्रभाव और मध्यमवर्गीय भटकाव के चलते कम्युनिस्टों के लिए द्वंद्ववाद तोतारटन्त बन जाता है पर जब अमल की बात आती है तो वे चीजों की द्वंद्ववादी नहीं बल्कि अनुभवसिद्ध आलोचना प्रस्तुत करते हैं तथा कार्यभार निकालते और

गरज उठो, ओ चीन!

जिस समय अमेरिका के साम्राज्यवादी हुक्मरान अपने सभी पश्चिमी भाई-बिरादरों की मदद से चीन की विजयोन्मुख क्रान्ति को कुचल देने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किये हुए थे, ठीक उसी समय एक अमेरिकी अश्वेत कवि ने यह कविता लिखकर चीन की क्रान्तिकारी जनता के साथ अपनी एकजुटता जाहिर की थी। गायक पॉल रॉबसन की आवाज की तरह लैंग्स्टन ह्यूज की कलम भी अमेरिकी शासकों के मुंह पर हरदम सच्चाई उगलती रही। धमकियों, आतंक, यातना और लालच के द्वारा उसे आखिरी सांस तक खामोश नहीं किया जा सका।— सम्पादक

उन्होंने तुम्हें ठोकरें लगाईं हर रोज
रेडियोफोन के द्वारा, केबुलग्राम के द्वारा,
तुम्हारे बंदरगाह में खड़ी गनबोटों के द्वारा,
मलक्का बेंतों के द्वारा।
सोचा था उन्होंने तुम एक पालतू शेर हो।
एक उनींदे, आसान, पालतू बूढ़े शेर !
हा ! हा !
हा ऽऽऽ ! .... हा !
हंसो, शंघाई के जहाजी माल घाट के
नन्हे कुली छोकरे, हंसो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो, सियान-कियाङ की पहाड़ियों के लाल
जनरलो, हंसो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो, विदेशियों के कारखानों में खटने वाले
गुलाम बच्चो !
पालतू शेर नहीं हो तुम !
हंसो—और गरज उठो, चीन !
यह आग उगलने का समय है !
अपना मुंह खोलो, पूरब के पुराने अजदहे
निगल जाने के लिए याङत्सी में तैर रही
गनबोटों को !
निगल जाओ अपने आसमान में उड़ते
विदेशी जहाजों को !
खा जाओ गोलियों को, पटाखों के
प्राचीन निर्माता—
और अपने दुश्मनों के मुंह पर उगल दो
आजादी !
पूरब की जंजीरों को तोड़ डालो,
नन्हे कुली छोकरे !
पूरब की जंजीरों को तोड़ डालो, लाल जनरलो !
अनुदानों के लौह-द्वारों को तोड़ डालो !
ध्वस्त कर डालो मिशनरी-गृहों के
पुण्य-द्वारों को !
जिम क्रो के वाई.एम.सी.ए. के घूमते दरवाजों
को तोड़ डालो !
कुचल दो जमीन, रोटी और आजादी के
दुश्मनों को !
उठो और गरज उठो, चीन !
तुम जानते हो तुम क्या चाहते हो !
इसे पाने का बस एक ही रास्ता है
—इसे ले लेना !
गरज उठो, ओ चीन !

—लैंग्स्टन ह्यूज

लागू करते समय ''सामान्य बुद्धि'' (कामन सेन्स) से ही काम चलाते हुए आधिभौतिकता के दलदल में जा गिरते हैं। माओ ने वर्ग-विश्लेषण करते समय या क्रान्ति का कार्यभार निरूपित करते समय ही नहीं, क्रान्तिकारी जीवन की दैनन्दिन कार्रवाइयों में भी द्वंद्ववाद को लागू करने की व्यावहारिक शिक्षा पर जो जोर दिया, वह चीनी क्रान्ति की सफलता की एक बुनियादी गारण्टी सिद्ध हुई।

(3) चीनी क्रान्ति और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के महान नेता और शिक्षक माओ त्से-तुङ ने कार्य प्रणाली सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण शिक्षा पर हमेशा ही बहुत अधिक जोर दिया जो मूलत: उनकी त्रुटिहीन भौतिकवादी विश्वदृष्टि का ही अमली रूप था। **उनकी यह बुनियादी शिक्षा थी—ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण।** किसी भी क्षेत्र में, किसी भी मोर्चे पर, किसी भी दौर में हमारे कामों की शुरुआत कहां से होनी चाहिए?—**निस्संदेह जांच-पड़ताल से**—माओ का कहना था! ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण पर इसी जोर के चलते, एक बेहद पिछड़े देश में अपेक्षतया कमजोर बुनियाद पर शुरुआत करके भी चीन की पार्टी ने अपने देश की क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते की अपनी समझ विकसित की और 1949 में नई जनवादी क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न करके पूरी दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों को राह दिखाई। ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण पर जोर के चलते चीन की पार्टी समाजवाद की समस्याओं को समझने और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त एवं व्यवहार तक पहुंचने में सफल हो सकी।

इस प्रसंग के महत्व को एक तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना चीन की कम्युनिस्ट पार्टी से एक वर्ष पहले ही हो चुकी थी। इसके नेता एम.एन. राय मार्क्सवादी दर्शन के ''बड़े विद्वान'' थे। शिक्षा और विकास की दृष्टि से भारत का शिक्षित मध्यवर्ग भी चीन से आगे था और औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की ताकत भी यहां से चीन से अधिक थी। लेकिन 1933 में जाकर भारतीय पार्टी की पहली केन्द्रीय कमेटी गठित हुई, तबतक एक सुनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर चीन की पार्टी लोकयुद्ध की शुरुआत कर चुकी थी। चीन की पार्टी ने 1949 में क्रान्ति सम्पन्न कर ली जबकि भारत की पार्टी के पास 1951 तक क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम ही नहीं था। 1951 में रूस की पार्टी के नेताओं से वार्ता के बाद जारी नीति वक्तव्य को ही कार्यक्रम का आधार बनाया गया और सच पूछें तो आज भी वही कार्यक्रम किंचित हेरफेर के साथ भारत की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों का कार्यक्रम है। 1951 के पहले भारत के कम्युनिस्ट ठोस राह सुझाने के लिए भी हमेशा अंतरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुंह जोहते रहे और दायें-बायें बाजू के भटकावों के बीच झूलते रहे, जबकि चीनी पार्टी के नेतृत्व ने इण्टरनेशनल और रूस की पार्टी का अन्तरराष्ट्रीय एवं विचारधारात्मक नेतृत्व मानते हुए अपने देश की ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर, गलतियां करते हुए भी, चीनी क्रान्ति की अपनी समझ स्वयं विकसित की और यहां तक कि कई बार तीसरे इण्टरनेशनल के नेतृत्व के सुझावों को भी नहीं माना।

दरअसल ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करके क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते की समझ विकसित करने के लिए क्रान्ति के विज्ञान के सतत् गहन अध्ययन और सामाजिक-आर्थिक जीवन-स्थितियों के अध्ययन और प्रयोग के अन्तहीन चक्र को लगातार जारी रखने की ''जहमत'' उठानी पड़ती है। मध्यमवर्गीय जल्दबाजी का तकाजा यह होता है कि अतीत की किसी महान क्रान्ति से, या किसी महान पार्टी या नेता से, या अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से क्रान्ति के कार्यक्रम का बना-बनाया खांचा (फ्रेम) या नुस्खा ही उधार ले लिया जाये। भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में आज भी यह दुष्प्रवृत्ति मौजूद है, जहां अधिकांश ग्रुप माओ का वफादार शिष्य होने के नाम पर चीनी लोक जनवादी क्रान्ति के प्रोग्राम के खांचे को उधार लेकर उसमें आज के भारत की परिस्थितियों की ठूंस-ठांस करने की कोशिश करते रहते हैं तथा विगत आधी सदी के अहम बदलावों की अनदेखी करते हुए लकीर की फकीरी करते रहते हैं। ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करके राह निकालने के लिए वैज्ञानिक साहस की दरकार होती है और इस मायने में हमें माओ का योग्य शिष्य होने की कोशिश करनी चाहिए। अन्धानुकरण या परीक्षा में नकल सबसे अयोग्य विद्यार्थी ही करते हैं।

(4) 1921 से 1949 तक ही नहीं, बल्कि 1976 तक **चीन की क्रान्ति और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास लगातार दो लाइनों के संघर्ष का इतिहास रहा है।** शुरू से लेकर अंत तक माओ के नेतृत्व में जारी सही लाइन को कभी दक्षिणपंथी तो कभी अतिवामपंथी भटकावों से लड़ते रहना पड़ा। इन संघर्षों के बीच ही सही लाइन तपी-मंजी और निखरी। चीनी क्रान्ति के इतिहास में ऐसे दस बड़े और निर्णायक दो लाइनों के संघर्षों का उल्लेख आता है। पार्टी में लाइनों का संघर्ष वस्तुत: समाज में जारी वर्ग संघर्ष की ही अभिव्यक्ति और प्रतिफलन है और यह उतना ही अपरिहार्य है जितना कि वर्ग संघर्ष। यदि किसी पार्टी में दो लाइनों का संघर्ष अनुपस्थित है तो इसका मतलब है कि उस पार्टी की लाइन और चरित्र क्रमश: कलुषित होते हुए विजातीय बनता जा रहा है। इसलिए लेनिन ने दो लाइनों के संघर्ष को पार्टी की सजीवता का बुनियादी कारक और लक्षण बताया था। चीन की पार्टी दो लाइनों के संघर्ष से गुजरते हुए लगातार अपने सर्वहारा चरित्र की हिफाजत कर सकी थी और इसीलिए इस सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति को अंजाम दे सकी थी। यह बहुमूल्य सबक दुनिया भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को हर-हमेशा याद रखना चाहिए।

●

चीनी क्रान्ति जैसी किसी महान क्रान्ति की सभी शिक्षाओं को या उसकी अर्थवत्ता एवं महत्ता को न तो किसी एक छोटे निबन्ध में समेटा जा सकता है और न ही इसकी आवश्यकता है। हम जिस देश और काल में जी रहे होते हैं, उसी की जरूरतों के हिसाब से इतिहास के खजाने को खंगालते हैं और अतीत की क्रान्तियों की विरासत से जरूरी शिक्षा लेते हैं। महान चीनी लोक जनवादी क्रान्ति की पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर, हमने यहां कोशिश की है कि अपनी उस महान विरासत को मेहनतकश जनता और युवा क्रान्तिकारियों की नई पीढ़ी को एक संक्षिप्त सी झलक देने की कोशिश करें, जो पराजय की कठिन दिनों में भूलती जा रही है और पूंजीवादी बुद्धिजीवी जिसपर लगातार झूठ और कुत्सा-प्रचार की धूल-राख फेंक रहे हैं। साथ ही उस महाकाव्यात्मक शौर्यगाथा से प्रेरणा लेकर अपने संकल्पों को मजबूत करने के साथ-साथ हमने उस महान वैज्ञानिक प्रयोग से आगे की क्रान्तियों के लिए मिलने वाली सर्वाधिक बुनियादी और महत्वपूर्ण शिक्षाओं की (अपनी समझ से) भी यहां संक्षिप्त चर्चा की है।

(***नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल*** से साभार)

सोवियत समाजवादी क्रान्ति की 82वीं वर्षगांठ (7 नवम्बर) के अवसर पर

बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर

जार्ज थामसन

आधुनिक समाज में वर्ग-सम्बन्ध

1917 की **रूसी क्रान्ति** और 1949 की **चीनी क्रान्ति** एक ही ऐतिहासिक प्रक्रिया में क्रमशः घटने वाली दो घटनाएं थीं। इनके बीच के सम्बन्धों को समझने के लिए जरूरी है कि हम दोनों को इस समूची प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखें।

अपनी प्रबन्धात्मक कृति, '*अन्तरविरोध के बारे में*' में **माओ त्से-तुङ** ने लिखा :

> किसी चीज के विकास की प्रक्रिया में बुनियादी अन्तरविरोध और इस बुनियादी अन्तरविरोध द्वारा निर्धारित इस प्रक्रिया का सारतत्व तब तक खत्म नहीं होता, जबकि कि यह प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती; लेकिन एक दीर्घकालिक प्रक्रिया की परिस्थितियां आमतौर पर प्रत्येक चरण में भिन्न-भिन्न होती हैं। इसका कारण यह है कि, यद्यपि किसी चीज के विकास की प्रक्रिया में बुनियादी अन्तरविरोध की प्रकृति और उस प्रक्रिया के सारतत्व में कोई बदलाव नहीं होता है, फिर भी बुनियादी अन्तरविरोध इस लम्बी प्रक्रिया में जैसे-जैसे एक चरण से दूसरे चरण में प्रवेश करता जाता है, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक तीखा होता जाता है। इसके अतिरिक्त, इस बुनियादी अन्तरविरोध द्वारा निर्धारित या प्रभावित होने वाले तमाम बड़े या छोटे अन्तरविरोधों में से कुछ ऐसे होते हैं जो तीखे हो जाते हैं, कुछ, अस्थायी तौर पर या आंशिक रूप से हल हो जाते हैं या मन्द पड़ जाते हैं, और कुछ नये पैदा भी हो जाते हैं, मतलब यह कि यह प्रक्रिया चरणों में चलती है। यदि जनता किसी चीज के विकास की इस प्रक्रिया के चरणों पर ध्यान न दे, तो वह उसके अन्तरविरोधों को ठीक ढंग से हल नहीं कर सकती (सेलेक्टेड वर्क्स, 1.325)
>
> मानव इतिहास में, वर्गों के बीच शत्रुता वर्गों के संघर्ष की एक खास अभिव्यक्ति के रूप में मौजूद रहती है। शोषक और शोषित वर्गों के बीच के ही अन्तरविरोध को लें। ऐसे अन्तरविरोधी वर्ग एक ही समाज में साथ-साथ लम्बे समय तक मौजूद रह सकते हैं, चाहे वह दास समाज हो, सामन्ती समाज हो या पूंजीवादी समाज हो, लेकिन जब इन दो वर्गों के बीच का यह अन्तरविरोध एक निश्चित चरण पर पहुंच जाता है तब यह एक खुली शत्रुता का रूप ले लेता है और क्रान्ति में परिवर्तित हो जाता है। (सेलेक्टेड वर्क्स 1.343)

पूंजीवादी समाज माल-उत्पादन के विकास पर टिका होता है। यही इसकी विकास प्रक्रिया का सारतत्व है। इसका विकास इसके भीतर निहित बुनियादी अन्तरविरोध, यानी उत्पादन के सामाजिक चरित्र और स्वामित्व के निजी चरित्र के बीच के अन्तरविरोध द्वारा निर्धारित होता है। यह अन्तरविरोध सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त होता है।

सामन्ती समाज एक सरल किसानी अर्थव्यवस्था के आधार पर विकसित होता है। भूमि का सबसे बढ़िया भाग सामन्ती जमींदारों के कब्जे में होता है जिनके लिए किसान या भूदास खेती करते हैं, जिनके पास अपने उपकरण तो होते हैं पर वे जो कुछ पैदा करते हैं उसका एक अंश जमींदारों को सौंप देने के लिए मजबूर होते हैं। इन वर्गों के बीच का अन्तरविरोध ही सामन्ती समाज का प्रधान अन्तरविरोध होता है। जब माल उत्पादन विकसित होता जाता है तब सामन्ती समाज के भीतर दो वर्ग पैदा हो जाते हैं—एक बुर्जुआ या पूंजीपति वर्ग, जो व्यापार और मैन्युफैक्चर से जुड़ा होता है, तथा दूसरा सर्वहारा वर्ग, जो ज्यादातर किसानों के कंगालीकरण से पैदा होता है, जिसके पास अपनी श्रम शक्ति के अलावा और कुछ नहीं होता, और उसे ही वह उजरत के बदले पूंजीपतियों को बेचता है। अतः बुर्जुआ वर्ग के सामने उसके दो दुश्मन होते हैं, एक सामन्ती जमींदार जो माल-उत्पादन के विकास में बाधा बनते हैं, और दूसरा सर्वहारा वर्ग, जिसके श्रम का वह (यानी बर्जुआ वर्ग –अनु.) शोषण करता है। इस प्रकार बुर्जुआ वर्ग की प्रकृति का दोहरा चरित्र होता है—सामन्तवादियों के विरुद्ध क्रान्तिकारी और सर्वहारा के विरुद्ध प्रति-क्रान्तिकारी। यह बुर्जुआ वर्ग सामन्ती समाज के अंतिम चरण में किसानों और सर्वहारा वर्ग का हरावल बन जाता है तथा उनके सहयोग से सामन्ती राज्य को उखाड़ फेंकता है और स्वयं सत्ताधारी वर्ग बन जाता है। यही बुर्जुआ क्रान्ति है।

पूंजीवादी समाज में माल-उत्पादन सारे सामन्ती बंधनों से मुक्त हो जाता है। सामन्ती जमींदार तो बुर्जुआ वर्ग में समाहित हो जाते हैं, जबकि किसान समुदाय ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग (फार्मरों) और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग (खेत मजदूरों) में विभेदीकृत हो जाता है। अब प्रमुख अन्तरविरोध बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच हो जाता है।

पूंजीवादी समाज दो मुख्य चरणों से होकर विकास करता है—औद्योगिक पूंजीवाद और एकाधिकारी पूंजीवाद या साम्राज्यवाद। दोनों ही चरणों में माल-उत्पादन का और विकास होता है तथा बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच शत्रुता और तीखी हो जाती है। पहले चरण में, जो कि मुक्त प्रतियोगिता और औपनिवेशिक विस्तार पर आधारित होता है, नये अन्तरविरोध पैदा हो जाते हैं—बड़े बुर्जुआ वर्ग और निम्न बुर्जुआ वर्ग के बीच, तथा पूंजीवाद और औपनिवेशिक जनता के बीच। ये ही परिस्थितियां दूसरे चरण को जन्म देती हैं, जिसमें मुक्त प्रतियोगिता एकाधिकार में तब्दील हो जाती है। इस चरण में सारे के सारे प्रमुख अन्तरविरोध तीखे हो जाते हैं—सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच, साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक जनता के बीच, तथा प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच का आपसी अन्तरविरोध—जो साम्राज्यवादी युद्धों को जन्म देता है। इस चरण में सर्वहारा वर्ग किसान समुदायों के सहयोग से अपने-अपने देश में सत्ता पर कब्जा करता है और सत्ताधारी वर्ग बन जाता है। यही सर्वहारा क्रान्ति है।

आधुनिक यूरोप की प्रमुख बुर्जुआ क्रान्तियां **अंग्रेजी** (1649), **फ्रांसीसी**

(1789), **जर्मन** (1848) और **रूसी** (1905-1917) क्रान्तियां रही हैं। इनमें से सिर्फ पहली दो क्रान्तियां ही इस अर्थ में पूर्ण रहीं कि इनमें बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता पर कब्जा किया और सत्ताधारी वर्ग के रूप में स्थापित हुआ। यदि हम इन क्रान्तियों की जांच-पड़ताल करें तो पता चलेगा कि इनमें से हरेक क्रान्ति में, अपनी पूर्ववर्ती क्रान्ति की तुलना में, अन्तरविरोध और गहरे होते गये, जिसका कारण पूंजीवाद का असमान विकास था, जिसके चलते क्रान्ति के चरित्र में भी क्रमश: बदलाव होता गया। इस प्रकार, 1649 में सर्वहारा वर्ग ने सिर्फ एक मामूली भूमिका ही अदा की। 1789 में यह सक्रिय तो हुआ फिर भी अभी निम्न बुर्जुआ वर्ग पर ही निर्भर रहा। 1848 में यह इतना सक्रिय और स्वतंत्र रहा कि बुर्जुआ वर्ग ने डर के मारे सामन्ती जमींदारों के आगे घुटने टेक दिया, और इस प्रकार क्रान्ति अधूरी ही रह गयी। 1905 में भी यही बात हुई, बस फर्क सिर्फ इतना रहा कि अब की बार सर्वहारा वर्ग इतना मजबूत था कि कुछ ही वर्षों बाद इसने बलपूर्वक बुर्जुआ क्रान्ति करने में सफलता प्राप्त कर ली और उसे पूरा करते और आगे बढ़ाते हुए सर्वहारा क्रान्ति में तब्दील कर दिया।

1905 की शुरुआत में, बुर्जुआ क्रान्ति में भाग लेने के विचार से ही नाक-भौं सिकोड़ने वाले निम्न-बुर्जुआ समाजवादियों का प्रतिवाद करते हुए **लेनिन** ने लिखा :

> सर्वहारा के लिए एक बुर्जुआ समाज में राजनीतिक आजादी और एक जनवादी गणतंत्र के लिए संघर्ष बुर्जुआ व्यवस्था को उखाड़ फेंकने वाली सामाजिक क्रान्ति के संघर्ष में आवश्यक चरणों में से सिर्फ एक चरण भर है। लेकिन अनिवार्यत: इन भिन्न-भिन्न चरणों के बीच स्पष्टत: अन्तर करने, और जिन परिस्थितियों में ये चरण अभिव्यक्त होते हैं उनकी गम्भीर जांच-पड़ताल करने का कतई यह मतलब नहीं है कि अपने अंतिम लक्ष्य को अनन्त काल तक स्थगित करते रहा जाये या आगे बढ़ने की रफ्तार को पहले ही धीमा कर दिया जाये। बल्कि इसके विपरीत, आगे बढ़ने की रफ्तार को तेज करने और यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र अंतिम लक्ष्य हासिल कर लेने के उद्देश्य से ही यह आवश्यक है कि आधुनिक समाज में वर्ग-सम्बन्धों को समझा जाये। (कलेक्टेड वर्क्स, 8.24)

रूसी क्रान्ति

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप की बुर्जुआ क्रान्तियां ज्यादातर पूरी हो चुकी थीं। सामन्तवाद का खात्मा किया जा चुका था और पूंजीवाद साम्राज्यवाद के चरण में प्रवेश कर रहा था। लेकिन रूस अभी भी अर्द्ध-सामन्ती ही था।

रूस में औद्योगिक पूंजीवाद के विकास की शुरुआत 1861 के **किसानी सुधार** से मानी जा सकती है। यह उस जारशाही निरंकुश तंत्र से नये मैन्युफैक्चरिंग बुर्जुआ वर्ग द्वारा हासिल की गयी एक रियायत थी जो सामन्ती जमींदारों का प्रतिनिधित्व करता था। परन्तु भूदासता को खत्म करने में इसका प्रभाव इसी रूप में पड़ा कि जमींदार अपने उन तमाम सामन्ती विशेषाधिकारों को बनाये रखने में सफल रहे, और उनका इस्तेमाल किसानों का और अधिक शोषण करने में करते रहे (कलेक्टेड वर्क्स, 17.121)। खेती तकनीकी रूप से पिछड़ी ही बनी रही। जगह-जगह अकाल पड़ते रहे। बहुतेरे किसान बर्बाद होकर गांव छोड़ दिये और रेलवे में काम करने या शहरों में उद्योगों के लिए सस्ता श्रम मुहैया करने चले गये (कलेक्टेड वर्क्स, 2.99-100) नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं का कहीं नामोनिशान तक न था (कलेक्टेड वर्क्स, 17.121)।

किसानी सुधार के बाद एक अति तीव्र औद्योगिक विकास का काल आया :

> 1861 के बाद रूस में पूंजीवाद इतनी तेज गति से विकसित हुआ कि कुछेक दशकों में ही इसने ऐसी तब्दीली कर डाली जो यूरोप के कुछ कहीं अधिक पुराने देशों में सदियों में ही सम्भव हो सकी थी। (कलेक्टेड वर्क्स, 17.121)

परन्तु, जहां किसान 'मध्ययुगीनता के असंख्य अवशेषों के साथ-साथ पूंजीवाद के जुए तले' भी पिस रहे थे, वहीं, पूंजीवाद के विरोध में, एक तरफ दमनकारी और भ्रष्ट निरंकुशशाही थी, जो अभी भी पूंजीवाद के विकास में बाधा बनी हुई थी, और दूसरी तरफ, **मार्क्सवादी** सिद्धान्त के ज्ञान से लैस एक ओजस्वी सर्वहारा वर्ग था, जो 1789 और 1848 की क्रान्तियों के साथ-साथ 1871 की **पेरिस कम्यून** की क्रान्ति के सबकों को भी अपने में जज्ब किये हुए था। (कलेक्टेड वर्क्स, 19.540)

ये ही अन्तरविरोध 1905 की क्रान्ति में प्रकट हुए। अगर उस वक्त बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग एवं किसानों का हरावल बन गया होता तो वह इतना ताकतवर बन जाता कि **जार** को उखाड़ फेंकता और एक बुर्जुआ जनवादी गणतंत्र कायम कर होता। परन्तु वह ऐसा करने से अचकचा गया, क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग से डरा हुआ था :

> सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच की शत्रुता उससे कहीं अधिक गहरी है जो 1789, 1848, या 1871 में थी; इसीलिए बुर्जुआ वर्ग *सर्वहारा* क्रान्ति से ज्यादा भयभीत रहेगा और कहीं अधिक आसानी से प्रतिक्रियावाद की गोद में चला जायेगा (कलेक्टेड वर्क्स, 8.258, तथा 11.372, 12.335 भी)

इसके अनुरूप ही, बुर्जुआ वर्ग ने अपने क्रान्तिकारी लक्ष्य को तिलांजलि दे दी और निरंकुशशाही से जा मिला। इस तरह सामन्ती विशेषाधिकार और पूंजीवादी उद्यम के बीच का अन्तरविरोध बिना हल हुए ही रह गया। (कलेक्टेड वर्क्स 13.442) इस बीच पश्चिमी जगत के एकाधिकारी पूंजीपति, जो पहले से ही रूसी उद्योग में पूंजी निवेश करने लगे थे, **जार** का समर्थन करते रहे, कारण कि वे भी सर्वहारा वर्ग से डरे हुए थे :

> अन्तरराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग खरबों का कर्ज एक स्पष्टत: दिवालिया हो चुके **जार** को दे रहा है, जिसका कारण यही नहीं है कि वह अन्य सभी सूदखोर महाजनों की भांति, भारी मुनाफे बटोर लेने की संभावना से ललचाया हुआ है, बल्कि उसे रूस में क्रान्ति पर पुराने शासन की विजय में ही अपना निहित स्वार्थ नजर आ रहा है, कारण कि इस क्रान्ति का हरावल सर्वहारा वर्ग है। (कलेक्टेड वर्क्स, 13.434)

1905 के अनुभव से **लेनिन** ने निष्कर्ष निकाला कि 'हमारे देश में *बुर्जुआ वर्ग की विजय के रूप में* बुर्जुआ क्रान्ति की विजय असंभव है'। (कलेक्टेड वर्क्स 15.56) इसके मद्देनजर ही, उन्होंने क्रान्ति होने की संभावना को दो चरणों में रखा : एक सर्वहारा वर्ग और किसानों का क्रान्तिकारी-जनवादी अधिनायकत्व, और दूसरा गरीब किसानों से समर्थित सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व; पहले चरण में, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति सामन्तवाद के अवशेषों को समाप्त करके पूरी होती; और दूसरे चरण में समाजवाद के लिए संघर्ष शुरू हो जाता। इस ढंग से इन दो चरणों में क्रान्ति को वर्गीकृत करके पहले चरण में, सर्वहारा वर्ग सभी किसानों का समर्थन हासिल कर लेता और दूसरे चरण के लिए गरीब किसानों के समर्थन की निरन्तरता को सुनिश्चित कर लेता। लेकिन जहां **लेनिन** ने इन दो चरणों में क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर दिया, वहीं इस बात को भी रेखांकित किया कि वास्तविक संघर्ष में ये दोनों चरण एक ही में गुंथे हुए भी हो सकते हैं, और कि तब ऐसी स्थिति में सर्वहारा वर्ग को बिना रुके पहले चरण से दूसरे चरण में प्रस्थान कर जाने के लिए तैयार रहना होगा :

> दुनिया की प्रत्येक चीज की भांति ही, सर्वहारा वर्ग और किसानों के क्रान्तिकारी-जनवादी अधिनायकत्व का भी एक अतीत

और एक भविष्य है। इसका अतीत है निरंकुशशाही, भूदासता, राजशाही और विशेषाधिकार। इस अतीत के विरुद्ध संघर्ष में... सर्वहारा वर्ग और किसानों की 'एक ही इच्छा' संभव है, कारण कि उनके हित एक ही हैं।

इसका भविष्य है निजी सम्पत्ति के विरुद्ध संघर्ष, मालिकों के विरुद्ध उजरती मजदूरी करने वालों का संघर्ष, और समाजवाद के लिए संघर्ष। यहां पर एक इच्छा का होना असंभव है। यहां हमारा रास्ता निरंकुशशाही से गणतंत्र की ओर नहीं, बल्कि एक निम्न बुर्जुआ जनवादी गणतंत्र से समाजवाद की ओर जाने का होगा। बेशक, वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियों में, अतीत के तत्व भविष्य के तत्वों के साथ गुंथे हुए होते हैं, दो रास्ते एक दूसरे को काटते हैं....। हम सभी बुर्जुआ क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति को एक दूसरे के विरोध में रखते हैं; हम सभी इन दोनों के बीच स्पष्टत: विभेद करने पर जोर देते हैं। लेकिन, क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि इतिहास के घटनाक्रम में, इन दो क्रान्तियों के अलग-अलग, विशिष्ट तत्व एक दूसरे से गुंथे हुए होते हैं? (कलेक्टेड वर्क्स, 9.84-5)

जनवादी क्रान्ति से हमें फौरन, और खास तौर से अपनी ताकत के हिसाब से—यानी वर्ग चेतन, संगठित सर्वहारा वर्ग की ताकत के हिसाब से—समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना शुरू कर देना होगा। हमें बिना रुके क्रान्ति करनी है। हम आधे रास्ते में ही नहीं रुक जायेंगे। (कलेक्टेड वर्क्स, 9.236-7)

साम्राज्यवादी युद्ध के ढाई वर्ष बाद, फरवरी 1917 में, रूस के मजदूर, किसान और सैनिक बगावत पर उतर आये थे, तथा शांति, जमीन और रोटी की मांग करने लगे थे। एकदम अलग-थलग पड़ चुके और अपनी साख खो चुके जारशाही निरंकुश तंत्र ने एक अलग से शांति-संधि करने के लिए जर्मनी से गुपचुप वार्ता शुरू कर दी थी। फिर तो रूस को युद्ध में फंसाये रखने पर आमादा ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव में बुर्जुआ नेताओं ने **जार** को गद्दी छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया और एक जनवादी गणतंत्र की घोषणा कर दी। लेकिन यह कार्रवाई उन्होंने अपनी ताकत से नहीं, बल्कि कमजोरी के चलते की थी। और जल्द ही यह स्पष्ट भी हो गया कि जनता की मांग पूरी करने का उनका कोई इरादा न था। **लेनिन** ने महसूस किया कि जो कुछ हासिल हुआ है उसे यदि हाथ से निकल नहीं जाने देना है तो, यह आवश्यक है कि फौरन क्रान्ति के दूसरे चरण की ओर बढ़ा जाये:

सवाल यह है कि आगे बढ़ा जाये या पीछे लौटा जाये। क्रान्ति में कोई भी चुपचाप खड़ा नहीं रह सकता....। गरीब किसानों द्वारा समर्थित क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के हाथ में सत्ता के हस्तांतरण का मतलब होगा मानवजाति के अबतक के ज्ञात इतिहास में अभूतपूर्व रूप से सबसे सुनिश्चित और कम से कम पीड़ादायी रूपों में शान्ति हेतु एक क्रान्तिकारी संघर्ष की दिशा में संक्रमण, एक ऐसी स्थिति की ओर संक्रमण जिसमें क्रान्तिकारी मजदूरों की सत्ता और विजय रूस में तथा सारी दुनिया में सुनिश्चित हो जायेगी। (कलेक्टेड वर्क्स, 25.28)

इसके एक वर्ष बाद, **अक्टूबर क्रान्ति** पर, पीछे की ओर एक नजर डालते हुए, **लेनिन** ने लिखा :

क्रान्ति के घटनाक्रम ने हमारी सोच की सच्चाई को पुष्ट कर दिया है। इसमें *पहली* बात तो यह हुई कि 'सभी के सभी' किसान राजशाही, जमींदारों और मध्ययुगीनता के खिलाफ रहे। (और इस हद तक यह क्रान्ति बुर्जुआ, बुर्जुआ-जनवादी क्रान्ति रही), *इसके बाद* दूसरी बात यह हुई कि गरीब किसान, अर्द्ध-सर्वहारा और सभी शोषित लोग धनी किसानों, कुलकों और मुनाफाखोरों समेत पूंजीवाद के खिलाफ हो गये, और इस हद तक यह क्रान्ति एक समाजवादी क्रान्ति बन गयी। लेकिन इन पहली और दूसरी क्रान्तियों के बीच, सर्वहारा वर्ग की तैयारी के स्तर और उसके साथ गरीब किसानों की एकता के स्तर के अलावा एक कृत्रिम **चीनी दीवार** खड़ी करने की कोशिश करने, या उन दोनों को *अन्य किसी भी चीज* से एक दूसरे से अलग करने का मतलब **मार्क्सवाद** को विकृत करना ही होगा...। (कलेक्टेड वर्क्स, 28.300)

चीनी क्रान्ति

1940 में **माओ त्से-तुङ** ने लिखा :

पहले साम्राज्यवादी युद्ध और पहली विजयी समाजवादी क्रान्ति, **अक्टूबर क्रान्ति** ने विश्व-इतिहास के पूरी घटना-क्रम को बदल दिया है और एक नये युग का सूत्रपात कर दिया है। यह एक ऐसा युग है जिसमें विश्व-पूंजीवादी मोर्चा धरती के एक भाग (दुनिया के छठवें भाग) में ध्वस्त हो चुका है और सर्वत्र इसकी पतनशीलता उजागर हो चुकी है; जिसमें शेष पूंजीवादी भाग अपने उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों पर अब पहले से कहीं अधिक निर्भरता बनाये बगैर जिन्दा नहीं रह सकते; जिसमें अब एक समाजवादी राज्य कायम हो चुका है, जिसने सभी उपनिवेशों और अर्द्ध उपनिवेशों के मुक्ति आंदोलनों में अपना सक्रिय सहयोग देने की घोषणा कर दी है...। इस युग में, साम्राज्यवाद के विरुद्ध, अर्थात, अन्तरराष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग या अन्तरराष्ट्रीय पूंजीवाद के खिलाफ किसी भी उपनिवेश या अर्द्ध उपनिवेश में होने वाली क्रान्ति अब बुर्जुआ जनवादी विश्व क्रान्ति की पुरानी कोटि में नहीं, बल्कि नयी कोटि में आयेगी। अब यह पुरानी बुर्जुआ या पूंजीवादी विश्व क्रान्ति का हिस्सा न रहकर, नयी विश्व क्रान्ति, सर्वहारा समाजवादी विश्व क्रान्ति का हिस्सा होगी। (कलेक्टेड वर्क्स, 2.343-4)

इस सदी के आरम्भ में चीन एक अर्द्ध सामन्ती-अर्द्ध औपनिवेशिक देश था, जिसमें किसान समुदाय सामन्ती जमींदारों और न तमाम औपनिवेशिक शक्तियों के शोषण के शिकार थे, जिन्होंने बन्दरगाहों पर कब्जा कर रखा था, बैंकों पर अधिकार कर रखा था, और पूरे देश को लूटने के लिए एक वाणिज्यिक नेटवर्क स्थापित कर रखा था। इसमें उनकी मदद धनी व्यापारी, सूदखोर महाजन और वे धन्ना सेठ करते थे जो बड़े बुर्जुआ वर्ग—दलाल या नौकरशाह पूंजीपतियों में आते थे। ये ही दोनों वर्ग—सामन्ती जमींदार और दलाल पूंजीपति वर्ग—मिलकर चीन में साम्राज्यवादी उत्पीड़न के सामाजिक आधार निर्मित किये हुए थे।

इन दो शोषक वर्गों और जन समुदायों के बीच मध्यम या राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग की स्थिति थी। इसमें औद्योगिक पूंजीपति आते थे जिनके देशी उद्योग स्थापित करने के प्रयासों में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद बाधा बने हुए थे। इस दृष्टि से वे जनता की पक्षधरता तो करते थे, परन्तु इसके साथ ही वे स्वयं शोषक भी थे, जो सर्वहारा वर्ग से डरते थे, और इसी लिए वे डावांडोल बने रहते थे।

सुसंगत रूप से सामन्तवाद-विरोधी और साम्राज्यवाद-विरोधी तो एकमात्र किसान समुदाय और सर्वहारा वर्ग ही थे। किसानों में भारी बहुसंख्यक आबादी गरीब किसानों, यानी ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्ध सर्वहारा की थी। औद्योगिक सर्वहारा वर्ग छोटा ही था, हालांकि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद और खासतौर से **अक्टूबर क्रान्ति** के बाद, इसकी संख्या और प्रभाव में तेजी से वृद्धि हुई थी। इस प्रकार, क्रान्तिकारी आन्दोलन की मुख्य शक्ति किसान थे, और नेतृत्व सर्वहारा वर्ग का था।

केवल सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत ही गरीब और मध्यम किसान अपनी मुक्ति पा सकते हैं, और गरीब एवं मध्यम किसानों के साथ एक मजबूत गठबंधन कायम करके ही सर्वहारा वर्ग क्रान्ति को विजय की मंजिल तक ले जा सकता है। (कलेक्टेड वर्क्स, 2.324)

वर्तमान सदी के दौरान सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ कई क्रान्तिकारी जनउभार उठ खड़े हुए थे, परन्तु उनमें से कोई भी सफल न हो सका था;

सही कहा जाये तो, चीन में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के खिलाफ बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की शुरुआत **डा. सुनयात सेन** ने की थी, जो पचास वर्षों से भी अधिक समय से चलती चली आ रही है...। क्या **डा. सुनयात सेन** द्वारा शुरू की गयी क्रान्ति सफल नहीं रही? क्या इसने बादशाह का बोरिया-बिस्तर नहीं बंधवा दिया? लेकिन यह इस अर्थ में असफल ही रही कि, भले ही इसने बादशाह का बोरिया-बिस्तर बंधवा दिया, फिर भी चीन साम्राज्यवादी और सामन्ती उत्पीड़न का शिकार बना रहा, और इस प्रकार साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी क्रान्तिकारी कार्यभार अधूरा ही बना रहा। (कलेक्टेड वर्क्स, 2.243)

जो बुर्जुआ-जनवादी क्रान्ति **क्वाङतुङ** में शुरू हुई थी वह उस वक्त अधूरी ही रह गयी जब दलाल और जमींदार वर्गों ने नेतृत्व हड़प लिया और तत्काल उसे प्रतिक्रान्ति के रास्ते की तरफ मोड़ दिया। (कलेक्टेड वर्क्स, 1.63)

इन असफलताओं से साबित हो गया कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के लक्ष्य बुर्जुआ नेतृत्व में नहीं हासिल किये जा सकते थे। इसी को दृष्टिगत रखकर **अध्यक्ष माओ** ने कहा कि बुर्जुआ क्रान्ति, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग समेत, अन्य सभी वर्गों के सहयोग से सर्वहारा वर्ग द्वारा की जानी चाहिए। यह एक नये प्रकार की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति थी, जिसे उन्होंने पुराने प्रकार की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति से भिन्नता दर्शाने के लिए, 'नई जनवादी' क्रान्ति नाम दिया। 1939 में उन्होंने लिखा :

वर्तमान चरण में चीनी क्रान्ति का चरित्र वस्तुत: क्या है? क्या यह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति है या सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति? जाहिर है कि यह सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति नहीं, बल्कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति है....।

लेकिन, वर्तमान समय के चीन में, यह बुर्जुआ-जनवादी क्रान्ति अब उस पहले वाली सामान्य किस्म की नहीं रह गयी है, जो पुरानी पड़ चुकी है, बल्कि यह एक नई और विशेष किस्म की क्रान्ति है। हम इसे नई जनवादी किस्म की क्रान्ति कहते हैं, जो चीन के साथ-साथ अन्य सभी औपनिवेशिक एवं अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में भी विकसित हो रही है। यह नई जनवादी क्रान्ति विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का ही हिस्सा है, क्योंकि यह पूरे फैसलाकुन ढंग से साम्राज्यवाद, अर्थात, अन्तरराष्ट्रीय पूंजीवाद के विरोध में है...। यह नई जनवादी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनता के व्यापक समुदायों की एक साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति है। चीनी समाज सिर्फ एक ऐसी ही क्रान्ति के जरिये समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ सकता है। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। (कलेक्टेड वर्क्स, 2.326-7)।

यह जनवादी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति के लिए आवश्यक तैयारी है, और समाजवादी क्रान्ति इस जनवादी क्रान्ति की अपरिहार्य परिणति। (कलेक्टेड वर्क्स, 2.331)।

इस ढंग से चीन में जनता के जनवादी अधिनायकत्व का विकास हुआ, जो बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्ण करते हुए तथा सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत करते हुए 1949 में स्थापित हुआ। चीनी जनता का जनवादी अधिनायकत्व एक नये रूप में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व है जो **अक्टूबर** क्रान्ति द्वारा शुरू किये गये नये युग में एक अर्द्ध-औपनिवेशिक देश में मौजूद परिस्थितियों के अनुरूप है। यह सोवियत सर्वहारा अधिनायकत्व के रूप से भी इस अर्थ में मेल खाता है कि यह भी मजदूर-किसान संश्रय पर यानी कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के संश्रय पर आधारित है; लेकिन यह सोवियत सर्वहारा अधिनायकत्व के रूप से इस अर्थ में भिन्न भी है कि यह संश्रय अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक आधार वाला है, जिसमें समूचा किसान समुदाय और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग तक शामिल हैं। वैसे सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का अन्तरविरोध तो अपनी प्रकृति में ही शत्रुतापूर्ण होता है, जो सर्वहारा क्रान्ति हो जाने के बाद भी बरकरार रहता है, लेकिन चीन में इसे इस ढंग से संचालित किया गया कि राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग ने 1949 की नयी जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। यह सिर्फ इसी कारण संभव हो पाया कि सर्वहारा वर्ग को चीन की ठोस परिस्थितियों में **माओ त्से-तुङ** द्वारा लागू किये गये चरणबद्ध ढंग से की जाने वाली सतत क्रान्ति के लिए निरूपित किये गये **लेनिन** के सिद्धान्त से मार्गदर्शन मिला हुआ था।

सन्दर्भ

लेनिन : *कलेक्टेड वर्क्स*

कलेक्टेड वर्क्स 2.95-121, ड्राफ्ट एण्ड एक्सप्लेनेशन ऑफ ए प्रोग्राम फार दि सोशल डिमाक्रेटिक पार्टी, 1895-96,

कलेक्टेड वर्क्स 8.21-28, दि ऑटोक्रेसी एण्ड दि प्रोलितारियत 1/1905,

कलेक्टेड वर्क्स 8.257/59, ए रिवोल्यूशन आफ दि 1789 ऑर दि 1848 टाइप, 4/1905

कलेक्टेड वर्क्स 9.15-140, टू टैक्टिक्स आफ सोशल डिमाक्रेसी, 7/1905

कलेक्टेड वर्क्स 9.230-39, सोशल डेमाक्रेसी'ज एटीट्यूड्स टुअर्ड्स दि पीजेण्ट मूवमेण्ट, 10/1905

कलेक्टेड वर्क्स 13.432-8, डिबेट आन द एक्सटेंशन आफ द ड्यूमाज बजटरी पावर्स, 2/1908

कलेक्टेड वर्क्स 13.440-46, पालिटिकल नोट्स, 2/1908

कलेक्टेड वर्क्स 15.50/62, दि असेसमेण्ट आफ दि रशियन रिवोल्यूशन, 4/1908

कलेक्टेड वर्क्स 17.119-28, दि पेजेण्ट रिफार्म एण्ड दि प्रोलितारियन रिवोल्यूशन, 3/1911

कलेक्टेड वर्क्स 18.143-49, ए कैम्पेरिजन आफ दि स्तोलीपिन एण्ड नरोदनिक एग्रेरियन प्रोग्राम्स, 7/1912

कलेक्टेड वर्क्स 25.17-28, आन दि एटीट्यूड्स टुअर्डस दि प्रोविजनल गर्वनमेण्ट 6/1917

कलेक्टेड वर्क्स 28.229-325, दि प्रोलितारियन रिवोल्यूशन एण्ड दि रेनेगेड काउत्स्की, 12/1918

माओ त्से-तुङ : *सेलेक्टेड वर्क्स*

सेलेक्टेड वर्क्स 1.63-72, व्हाई इज दैट रेड पोलिटिकल पावर कैन एक्जिस्ट इन चाइना, 10/1928

सेलेक्टेड वर्क्स 1.311-47, ऑन काण्ट्रेडिक्शन 8/1937

सेलेक्टेड वर्क्स 2.241-48, द ओरियन्टेशन आफ द यूथ मूवमेण्ट, 5/1939

सेलेक्टेड वर्क्स 2.305-34, द चाइनीज रिवोल्यूशन एण्ड द चाइनीज कम्युनिस्ट पार्टी, 12/1939

सेलेक्टेड वर्क्स 2. 339-84, ऑन न्यू डिमाक्रेसी, 1/1940

– स्रोत : *ब्रॉडशीट* 7, 7 जुलाई 1970

कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए

(चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की 49 वीं वर्षगांठ के यादगार समारोह के अवसर पर सम्पादकीय)

***रेनमिन रिबाओ, हाङ्की, और जिएफाङ्जुन बाओ* द्वारा**

एक ऐसे वक्त में, जबकि सारी दुनिया की जनता अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्व एक नये जन उभार में उठ खड़ी हुई है, जबकि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति विजय हासिल करती हुई आगे बढ़ रही है, और जबकि पार्टी को सुदृढ़ बनाने और सुगठित करने का अभियान निरन्तर गहरे पैठता जा रहा है, पार्टी के सारे के सारे कामरेड और समस्त चीनी जनता चीन की महान, गौरवशाली और सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी की 49वीं वर्षगांठ पूरी गर्मजोशी के साथ मना रहे हैं।

क्रान्तिकारी तूफान के तकरीबन आधी सदी के दरम्यान, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी जिसका प्रशिक्षण और नेतृत्व स्वयं हमारे महान नेता माओ ने किया है, देश के भीतर और बाहर, दुश्मनों के खिलाफ दीर्घकालिक संघर्ष चला चुकी है, और जनसमुदायों को हथियारबन्द करके राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने और सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ बनाने में एक से एक बड़ी विजयें हासिल कर चुकी हैं। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी जिस गौरवशाली संघर्ष के पथ पर चलती आयी है उसे स्पष्ट हो चुका है कि उसे पूरे देश के मजदूर वर्ग और क्रातिकारी जनता के नेतृत्व का कोर, तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद, सामाजिक-साम्राज्यवाद द्वारा प्रस्तुत आधुनिक संशोधनवाद और सभी प्रकार के प्रतिक्रियावाद के विरुद्व संघर्ष में हमारे समय के अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग की एक शॉक देने वाली शक्ति कहना सर्वथा उचित ही है।

अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं : ''पार्टी संगठन में सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व सम्मिलित होने चाहिए, —इसे वर्ग-शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में सर्वहारा वर्ग और क्रान्तिकारी जनसमुदायों का नेतृत्च करने की क्षमता वाला एक ओजस्वी हरावल संगठन होना चाहिए।'' पार्टी को सुदृढ़ बनाने और सुगठित करने के अभियान का खासतौर से मतलब यह है कि सर्वहारा वर्ग के अपने हरावल को सुगठित और सुदढ़ करते रहा जाय, **पुरानेपन की केंचुल उतार फेंकी जाय और पुनर्नवा होते रहा जाय,** सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति को जारी रखते हुए पार्टी संगठनों को, सभी स्तरों पर संघर्ष के गढ़ों के रूप में मजबूत बनाया जाय, और इसके साथ ही पार्टी सदस्यों के व्यापक समुदायों को, सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति को जारी रखने हेतु, अग्रणी तत्वों के रूप में निखारते रहा जाय।

सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्वों के लिए कसौटियां क्या हैं? ये पांच आवश्यकताएं हैं जिन्हें अध्यक्ष माओ ने स्पष्ट किया है और जिन्हें नौंवी पार्टी कांग्रेस द्वारा अपनाये गये नये पार्टी संविधान में शर्तबद्ध किया गया है, जिनका पार्टी सदस्यों द्वारा अनुपालन अनिवार्य है।

पहली आवश्यकता: मार्क्सवाद-लेनिनवाद -माओ त्से-तुङ विचारधारा को जिन्दादिली से पढ़ो-समझो और लागू करो। इसका सम्बन्ध अपनी सोच को निर्देशित करने, और राजनीतिक दिशा देने से हैं। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं: **''कार्यकर्ताओं को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की कुछ समझ हासिल करने के लिए शिक्षित होना चाहिए, यह और भी बेहतर होगा कि वे इसी ज्यादा से ज्यादा समझें। कहने का मतलब यह कि वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के रास्ते पर चलें, न कि संशोधनवाद के रास्ते पर।''** इस प्रकार मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा का जिन्दादिली से अध्ययन और प्रयोग करके ही सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व परिपक्वता हासिल कर सकते हैं। नये पार्टी सदस्यों और पार्टी में शामिल होने की इच्छा रखने वाले सक्रिय कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा का अध्ययन करें, तथा पुराने पार्टी सदस्यों को भी ऐसा करना चाहिए, सभी स्तरों के नेतृत्वकारी कैडरों को, इसका खासतौर से सचेत और मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। और वे जो भी अध्ययन करें, उसका व्यवहार में इस्तेमाल करें। मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा का सार क्रांति करना है, वर्ग-संघर्ष चलाना और सर्वहारा अधिनायकत्व लागू करना है। जिन्दादिली से अध्ययन और उसे लागू करने का हमारा मतलब है सिद्धान्त को व्यवहार से जोड़ना, अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्ति की लाइन और समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के दौरान उनकी विशिष्ट नीतियों पर दृढ़तापूर्वक अमल करना तथा वर्ग शत्रु, ''वाम'' और दक्षिण विचलनों, एवं गैर-सर्वहारा विचारधारा की मानसिकता के विरूद्व संघर्ष के लिए साहसी बनना।

दूसरी आवश्यकता : चीन और दुनिया की विशाल बहुसंख्यक आबादी के हितों के लिए काम करना। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं : **''हमें निश्चय ही विशाल बहुसंख्यक आबादी के लिए, चीन की विशाल बहुसंख्यक आबादी के हितों के लिए तथा दुनिया की विशाल बहुसंख्यक आबादी के हितों के लिए काम करना होगा, हमें निश्चय ही थोड़े से व्यक्तियों के लिए, शोषक वर्गों के लिए , बुर्जुआ वर्ग के लिए या जमींदारों, धनी किसानों, प्रतिक्रान्तिकारियों, बुरे तत्वों या दक्षिणपंथियों के लिए काम नहीं करना है।''** विशाल, बहुसंख्यक आबादी के हितों के लिए काम करने हेतु, कम्युनिस्टों को निश्चय ही वर्ग-संघर्ष चलाना होगा, अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके शिकारी कुत्तों को उखाड़ फेंकना होगा, तथा अपनी ताकत का एक-एक कतरा और यहां तक कि अपनी जिन्दगियां भी बुर्जुआ वर्ग और अन्य सभी शोषक वर्गों को उखाड़ फेंकने एवं मानवजाति को मुक्त करने के काम में लगानी होंगी। कुछेक ऐसे भी हैं जो जनता की सेवा करने की डींग तो हांकते हैं, पर वास्त्व में वे सिर्फ अपने छोटे-छोटे मजबूत गढ़ों, उनके छोटे-छोटे समूहों और स्वयं अपने लिए ही काम करते हैं। ऐसे व्यक्ति सच्चे कम्युनिस्ट नहीं है और उन्हें एक नेतृत्वकारी निकाय का नेतृत्व करने की बात तो दूर, उसमें बैठने तक की भी इजाजत नहीं दी जानी चाहिए।

तीसरी आवश्यकता : भारी बहुमत को अपने साथ लाने में समर्थ बनो, और इसमें उन लोगों को भी शामिल करो जिन्होंने गलती से उस भारी बहुमत का विरोध किया था, परन्तु जो अब ईमानदारी से अपनी गलतियां सुधार रहे हैं , लेकिन, इसके साथ-साथ कैरियरवादियों, षडयंत्रकारियों एवं दो-मुंहों से चौकसी बरतना भी जरूरी है, ताकि बुरे तत्वों को किसी भी स्तर पर पार्टी और सरकार का नेतृत्व हड़पने से रोका जा सके और इस बात की गारण्टी की जा सके कि पार्टी और

(शेष पृष्ठ 45 पर)

चीन के संसद-भक्त का दिवालियापन

('पीपुल्स डेली' में 12 अगस्त, 1967 को पुर्नमुद्रित। यह आलेख संयुक्त रूप से *वेन हुई पाओ, चिएह फाङ डेली* और *पार्टी ब्रांच लाइफ* के सम्पादक-मंडलों द्वारा तैयार किया गया था।)

सर्वहारा वर्ग सत्ता पर कब्जा सशस्त्र संघर्ष के जरिए करे या ''संसदीय रास्ता'' अपनाते हुए करे, यही मार्क्सवाद-लेनिनवाद और संशोधनवाद के बीच का बुनियादी फर्क है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का समूचा इतिहास हमें यही बतलाता है कि सारे के सारे संशोधनवादी ,चाहे वे बड़े रहे हों या छोटे, ''संसद के भक्त'' रहे हैं। बिना किसी अपवाद के, उन सभी के सभी ने इस बात से इंकार ही किया है बलपूर्वक क्रान्ति सर्वहारा क्रांति का सार्वभौमिक नियम है, और उन सभी के सभी ने बुर्जुआ संसद को एक स्टाक एक्सचेन्ज के रूप में ही लिया है, चाहे वे इसके तहत सर्वहारा वर्ग के बुनियादी हितों को बेच डालने का ही सौदा क्यों न करते रहे हों। उन्होंने अपने आप को मजदूर वर्ग के सबसे घृणित गद्दारों में तब्दील कर लिया है।

चीन में उनका सबसे विलक्षण प्रतिनिधि सत्ता पर आसीन पार्टी का शीर्षस्थ व्यक्ति है जो पूंजीवादी रास्ता अपनाये हुए है।[1] वह चीन में और इस समय दुनिया में सबसे बड़ा ''संसद -भक्त'' रहा है।

1945 में, जापान के विरुद्ध प्रतिरोध-युद्ध में विजय हासिल कर लेने के बाद, समूची चीनी जनता के सामने जो सवाल तीखे रूप से उठ खड़ा हुआ था, वह था, ''चीन किधर जाये''?

''क्या वह सर्वहारा के नेतृत्व के अन्तर्गत व्यापक जनसमुदायों का एक नव-जनवादी देश बने? या बड़े जमीदारों और बड़े बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत एक अर्द्ध-औपनिवेशक और अर्द्ध-सामंती देश ही बना रहे? यह एक अत्यन्त जटिल संघर्ष का मामला है।'' यह सर्वाधिक तीखा संघर्ष एक ऐसा युद्ध है जो चीन के सामने उपस्थित दो नियतियों और दो भविष्यों के बीच चुनाव करने में निर्णायक भूमिका अदा करने वाला है।

गृहयुद्ध का खतरा

जापान के विरुद्ध प्रतिरोध युद्ध में अंतिम विजय हासिल कर लेने पर, हमारे महान नेता अध्यक्ष माओ ने संकेत किया था: ''इस बात को गम्भीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है कि गृह युद्ध का खतरा अत्यन्त गम्भीर है, क्योंकि चाङ काइ-शेक की नीति पहले ही से तय हो चुकी है। चाङ काई शेक की नीति ही गृह युद्ध की है। और तब विजय की उपलब्धियों को बचाने की खातिर, ''हमारी नीति एक-एक इंच जमीन के लिए लड़ते हुए उसे ईंट का जवाब पत्थर से देने की होगी।''

मुख्य रूप से यही वह महत्वपूर्ण घड़ी थी जब चीन का खुश्चेव वर्तमान स्थिति की समस्याओं पर रिपोर्ट के साथ सामने आया। इस रिपोर्ट में उसे निर्लज्जतापूर्वक अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन का विरोध किया, ''शांति और जनवाद के एक नये चरण'' का वाहियात, और प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया और ''संसदीय रास्ते'' का यह कहकर ढोल पीटा कि ''चीनी क्रान्ति में संघर्ष का मुख्य रूप शांतिपूर्ण और संसदीय बन चुका है, और कि अब यह कानूनी जनसंघर्ष और संसदीय संघर्ष ही होगा।'' उसने यह भी कहा कि ''अब पार्टी की समूची गतिविधि बदल जायेगी, हमारे सभी संगठनों को इस बदली हुई धारणा का कायल होना होगा कि अब शस्त्रहीन संघर्ष ही प्रभावी होगा । अब हमें प्रचार करने, भाषण देने और चुनाव अभियान चलाने में सक्षम होना होगा, ताकि लोग हमें वोट दे सकें ।''

चीन के खुश्चेव का ''संसदीय रास्ता''

संक्षेप में कहें तो, वह कानूनी संघर्ष चलाना, और ''संसदीय रास्ता'' अपनाना चाहता था।

यही वह भयानक कार्यक्रम था जिसे चीन के खुश्चेव ने चीन में ''संसदीय रास्ता'' अपनाये जाने की अपनी निष्फल कोशिश में तैयार किया था। वर्ग और राष्ट्र को घुटने टेक देने के लिए प्रोत्साहित करने वाले एक गद्दार के रूप में उसकी विशेषताओं का यह एक और पर्दाफाश है। लेकिन क्या जब चीन के इस खुश्चेव ने इस तरह का दावा किया, तब चीन में ''शांति और जनवाद का एक नया चरण'' आया। नहीं, बिल्कुल नहीं।

उसी समय की बात है जब, एक तरफ चीन का यह खुश्चेव ''संसदीय रास्ते'' के भोले सपने देख रहा था, और, दूसरी तरफ, चाङ काइ-शेक अपनी तलवार, तेज कर रहा था, और गृहयुद्ध की चाह लिए शांति वार्ताएं भी चला रहा था। वह मोर्चे पर भारी संख्या में फौजें भेजने के लिए अमेरिकी विमानों और युद्धक जहाजों का इस्तेमाल कर रहा था। पूरे राष्ट्रीय पैमाने पर गृहयुद्ध का भारी खतरा मंडरा रहा था, जो क्षणमात्र की सूचना पर कभी भी फूट सकता था। चाङ काई-शेक की यह प्रतिक्रान्तिकारी कार्रवाई उस चीनी खुश्चेव के मुंह पर एक तमाचा थी जो संसदीय रास्ते का बासी राग अलापे जा रहा था।

फिर संसद है क्या? पूंजीवादी देशों में संसद बुर्जुआ शासन का महज एक आभूषण या पर्दा भर है। बुर्जुआ राज्य उपकरण का मुख्य स्तम्भ संसद नहीं, बल्कि सशस्त्र सेना है। बुर्जुआ वर्ग संसदीय प्रणाली जारी रखे या उसे खत्म कर दे, या संसद को वह कितना अधिकार दे, यह हमेशा बुर्जुआ शासन की जरूरतों से तय होता है।

जब तक बुर्जुआ वर्ग शक्तिशाली राज्य -उपकरण पर काबिज है, तब तक ''संसदीय रास्ते'' से शांतिपूर्वक समाजवाद में संक्रमण का ख्वाब पालना एक दुश्चक्रीय धोखाधड़ी ही पालना है। आज की दुनिया में हमें उन समाजवादी देशों के महज दुखद सबक ही देखने को मिले हैं जो चुपचाप पूंजीवादी देश तो बन गये हैं परन्तु एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला है जिसमें किसी देश ने शंतिपूर्ण ढंग से समाजवाद में संक्रमण किया हो।

बेशक, कुछ खास दशाओं में सर्वहारा वर्ग द्वारा संसदीय मंच का इस्तेमाल बुर्जुआ समाज के सड़ते -बजबजाते घावों को उघाड़ने और जनसमुदायों को क्रांतिकारी ताकत बटोरने की शिक्षा देने के लिए किया जा सकता है, ताकि सशस्त्र सेना के बल पर राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने की

1. सत्ता पर आसीन पार्टी का यह शीर्षस्थ व्यक्ति जो पूंजीवादी रास्ता अपना रहा था—चीन का खुश्चेव—ल्यू शाओ-ची था ।

तैयारियां पूरी की जा सकें। लेकिन यह नितान्त असम्भव है कि संसदीय संघर्ष हिंसक क्रान्ति का स्थान ले ले।

बुर्जुआ वर्ग की ओर पलायन

लेनिन ने बहुत स्पष्ट कहा था : ''वर्ग संघर्ष को संसदीय संघर्ष तक सीमित कर देना, या संसदीय संघर्ष को एक ऐसा उच्चतम और निर्णायक रूप बना देना कि संघर्ष के बाकी सभी रूप उसी के मातहत हो जायें, वस्तुत: सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की ओर पलायन ही है।''

अत: चीन के ख्रुश्चेव द्वारा बहुप्रचारित 'कानूनी जनसंघर्ष और ''संसदीय संघर्ष'' विशुद्ध रूप से ''वस्तुत सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग की ओर पलायन ही है।''

पूंजीवादी देशों में ''संसदीय रास्ता'' एक अंधी गली है। और अर्द्ध-औपनिवेशिक चीन में तो, खासतौर से, जापान के विरुद्ध प्रतिरोध युद्ध में विजय हासिल कर लेने के बाद वाले चीन में, ''संसदीय रास्ता'' तो और भी असंभव था ।

बहुत पहले, अध्यक्ष माओ ने चाङ काइ-शेक के शासन वाले पुराने चीन के बारे में कहा था : कि ''आन्तरिक तौर पर इसमें कोई जनवाद नहीं, बल्कि सामन्ती उत्पीड़न ही है और कि अपने बाहरी सम्बन्धों की दृष्टि से इसकी कोई राष्ट्रीय स्वतंत्रता नहीं, बल्कि यह साम्राज्य द्वारा उत्पीड़ित होता है । तब इसका मतलब यह है कि हमारे पास कोई संसद नहीं जिसका इस्तेमाल कर सकें और कोई अधिकार नहीं कि मजदूरों की हड़ताल संगठित कर सकें। बुनियादी तौर पर, यहां कम्युनिस्ट पार्टी का काम जनविद्रोह और युद्ध छेड़ने से पहले लम्बे समय तक कानूनी संघर्ष चलाते रहने नहीं है, और न ही पहले बड़े शहरों पर और फिर उसके बाद देहाती क्षेत्र पर कब्जा करना है, बल्कि इसके ठीक उल्टे करना है।''

सशस्त्र प्रतिक्रान्ति का विरोध करने के लिए सशस्त्र क्रांन्ति

चीनी क्रान्ति की विजय का वस्तुगत नियम सशस्त्र प्रतिक्रान्ति का विरोध करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति करना था। चीनी क्रान्ति की विजय का यही एकमात्र रास्ता था।

लेकिन जापान के विरुद्ध प्रतिरोध-युद्ध में विजय हासिल कर लेने के बाद, चीन के ख्रुश्चेव ने इस वस्तुगत नियम को ही नकार देने की गुस्ताखी की। इस पर हम यह सवाल उठाना चाहेंगे :

क्या यह कहा जा सकता है कि जापान के विरुद्ध प्रतिरोध युद्ध में विजय हासिल कर लेने के बाद चीनी क्रान्ति की अभिलाक्षणिक विशिष्टताएं लुप्त हो गयीं? क्या उसके बाद से चीनी क्रान्ति का वस्तुगत नियम कार्यशील नहीं रहा?

क्या यह कहा जा सकता है कि चाङ काइ-शेक के नेतृत्व में कसाइयों का गिरोह, जो 'बिना पलक झपकाये हत्यायें किया करता था, जापान के विरुद्ध प्रतिरोध युद्ध में विजय हासिल कर लेने के बाद शांति और जनवाद का फरश्ता बन गया?

क्या यह कहा जा सकता है कि चाङ काई-शेक का बटमार युद्ध जो पूरी तरह हथियारबंद था सिर्फ भाषण देने और संसद में कुछ वोट जीत लेने भर से ही शांति और जनवाद ला सकता था? जब चाङ काई-शेक अपनी तलवारें तेज कर रहा था, अपनी राइफलें साफ कर रहा था और हम लोगों को मार डालने की तैयारियां कर रहा था, तब अगर हम लोगों ने चीन के इस ख्रुश्चेव के ''संसदीय रास्ते'' का अनुसरण किया होता और वोट की बदौलत शहरों में दाखिल होने की कोशिश की होती तो हम जनवाद क्रान्ति की बुनियादी कामयाबी कभी नहीं हासिल कर सके होते, और तब हम चाङ काई शेक के शहरों में दाखिल होने में कभी कामयाब नहीं हुए होते, बल्कि उल्टे हुआ यह होता कि इसके बजाय हम खुद अपने ही शहर गंवा दिये होते, लाखों-लाख लोग मार डाले गये होते और चीनी क्रान्ति का भविष्य अंधेरे में जा चुका होता।

चीन का ख्रुश्चेव जहां ''संसदीय रास्ते'' की वकालत कर रहा था, वहीं खुले तौर पर यह दृष्टिकोण रख रहा था कि ''सेना का भी पुनर्गठन किया जाना चाहिए। जिसके पीछे इसका इरादा यह था कि हमारी सेना को ही पुनर्गठित करके 'नेशनल आर्मी, नेशनल डिफेंस आर्मी, सिक्यूरिटी ट्रुप्स और सेल्फ डिफेंस फोर्सेस की इकाइयों में तब्दील कर दिया जाये ''वह चाहता था कि सेना के ''पार्टी संगठनों को समाप्त कर दिया जाए'', सशस्त्र सेनाओं पर (कम्युनिस्ट पार्टी के) प्रत्यक्ष नेतृत्व और नियंत्रण को हटा दिया जाये और उन्हें (यानी सशस्त्र सेनाओं को-अनु.) राष्ट्रीय प्रतिरक्षा मंत्रालय के एकीकृत नियंत्रण के अधीन कर दिया जाय'' यहां तक कि चीनी ख्रुश्चेव यह भी कहने की गुस्ताखी कर रहा था कि इस तरह के ''समझौते'' से ''सेना की प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आयेगा, बल्कि इससे सेना को कानूनी मान्यता मिल जायेगी—यह एक सार्थक और लाभदायक सौदा होगा।''

गद्दार का तर्क

यह पूरी तरह से एक गद्दार का तर्क है।

वास्तव में, इस तरह का ''समझौता'' दुश्मन की कैद में गलती स्वीकार कर लेने की निशानदेही करने के बराबर है। इस तरह की ''कानूनी मान्यता'' हासिल करने का एकमात्र अर्थ यही होता कि चाङ काइ-शेक के कानून और कुओ मिन-ताङ के कानून के अनुसार वैधता प्राप्त हो जाती। इस प्रकार के ''एकीकरण'' का मतलब होता कम्युनिस्ट पार्टी को कुओ मिन-ताङ के भीतर ''शामिल'' कर देना।

''इससे सेना की प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आयेगा'' यह कहना एक गद्दार का ही वाक्छल हो सकता है। हम पूछना चाहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अभाव में यह किसकी सेना होती? बन्दूकें किसको निशाना बनातीं? एक बार यदि सेना की प्रकृति बदल गयी, तो इसकी नालों का रुख भी बदल जायेगा। सेना के बगैर तो कोई क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्रान्ति में जीत हासिल करने की तो बात ही दूर है।

पूरे दस वर्ष तक, यानी 1936 से 1946 तक के दरम्यान, चीनी ख्रुश्चेव ने सैनिक सत्ता को कुओ मिन-ताङ के हवाले कर दिये जाने की धारणा को कभी नहीं छोड़ा। 1936 में मई के शुरू-शुरू में,जब वह अभी नार्थ चाइना ब्यूरो में ही ड्वाइट एरिया के काम का इंचार्ज था उसने एक प्रतिक्रियावादी बुर्जआ जर्नल में , ताओ शुङ के नकली नाम से, ''कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित एक पत्र'' लिखा। इस अनर्थकारी आलेख में जनता की सशस्त्र सेनाओं को कुओ मिन-ताङ के हवाले कर दिये जाने तथा उसी प्रणाली और उसकी संगठन के साथ एक एकीकृत सेना गठित करने की वकालत की गयी थी। यह पूरी तरह से वाङ-मिङ के समर्पणवाद के अनुरूप बात थी। यदि हम चीन के ख्रुश्चेव की 1946 में कही गयी बात की तुलना उसकी 1936 में कही गयी बात से करें तो हम देखेंगे कि इन दोनों बातों में एकमात्र फर्क सिर्फ यही है कि वह सेना को (कुओ मिन-ताङ के हवाले -अनु) सौंप दिये जाने तथा इस काम को और भी मुकम्मल तौर पर किये जाने के प्रति पहले से कहीं अधिक कटिबद्ध हो गया था । ऐसा महज अमेरिकी और चाङ के प्रतिक्रियावादियों का समर्थन हासिल करने की गरज से ही किया गया था, ताकि कुओ मिन-ताङ सरकार में एक अच्छा-खासा सरकारी ओहदा हासिल कर लिया जाय, जिसके लिए चीन के ख्रुश्चेव ने जनता की सशस्त्र सेनाओं के साथ गद्दारी करने की जल्दी में एक ऐसा समय चुना था जब वर्ग संघर्ष सबसे तीखे रूप में चल रहा था। सचमुच उसे शर्मो हया की कोई परवाह नहीं थीं।

संसद में सीटों के लिए हथियारों का सौदा

वैसे संसद में कुछेक सीटें हासिल कर लेने तथा उप प्रधानमंत्री या मंत्री का पद पा जाने की लालच में, दुश्मन को हथियार देने का सौदा, अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में, चीनी ख्रुश्चेव का कोई अपना आविष्कार नहीं है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, थोरेज ने हथियारों का सौदा किया, तोगलियाती ने बन्दूकें दीं, और यूनानी कम्युनिस्ट पार्टी ने एथेन्स के लगभग पूरी तरह से अपने कब्जे में बने रखने के बावजूद, अपनी बन्दूकों का सौदा किया। और नतीजा? जब बन्दूकें दे दी गयीं, तब ''कानूनी मान्यता'' भी खत्म कर दी गयी, भारी संख्या में में सच्चे क्रान्तिकारियों की हत्याएं की गयीं, और क्रान्तिकारी शहीदों का लहू दुश्मन के प्याले की शराब बन गया। आखिर यह किस तरह का ''लाभदायक'' सौदा था? यह स्पष्टत: क्रान्ति के मकसद को ही औने-पौने बेच देना और जनता के हितों के साथ एक पैशाचिक विश्वासघात था।

लेनिन ने कहा था ''सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग का हथियारबंद होना आधुनिक पूंजीवादी समाज के सबसे बड़े बुनियादी और प्रमुख तथ्यों में से एक है । और इस तथ्य के बावजूद, सामाजिक जनवादियों से ''निशस्त्रीकरण'' की अपेक्षा की जा रही है। यह तो पूरी तरह से वर्ग संघर्ष के दृष्टिकोण को, तथा क्रान्ति की समूची सोच को, ही तिलांजलि दे देने के बराबर है। ''चीन का ख्रुश्चेव ठीक ऐसा ही पुराना अवसरवादी है जो क्रान्ति की समूची सोच को तिलांजलि दे रहा है।''

ईंट का जवाब पत्थर से

उस वक्त, एक मात्र हमारे महान नेता अध्यक्ष माओ ही थे जो अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की इस उल्टी संशोधनवादी धारा के खिलाफ मजबूती से डटे हुए थ। ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए , उन्होंने कहा : ''जनता के हथियारों, हरेक बन्दूक और हरेक गोली का उसके पास रहना जरूरी है, उसका सौदा कतई नहीं होना चाहिए।'' यही चीनी क्रान्ति और कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनुभव का समाहार है, जो एक भारी वैश्विक महत्व की रणनीतिक अवधारणा है, दक्षिणपंथी समर्पणवाद के खिलाफ एक अक्लमंदी की नीति है, और चीनी क्रान्ति एवं वैश्विक क्रान्ति की पूर्ण विजय की बुनियादी गारण्टी है।

चीन के खुश्चेव ने ''संसदीय राष्ट्र की जो वकालत की थी और जिस उतावलेपन के साथ हथियारों के बलबूते राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने का विरोध किया, उसका कारण यह था कि वह क्रान्ति और युद्ध तथा मौत के जबड़ों से डर गया था, उसकी दिलचस्पी, कुल मिलाकर तरक्की पाते रहने, और मजे से अपनी तिजोरियां भरते रहने में ही रह गयी थी । अगर ऐसा आदमी जेल चला जाय, तो वह निश्चय ही दुश्मन का मुखबिर बन जायेगा और क्रान्ति के साथ विश्वासघात कर देगा, वह प्रचण्ड क्रान्ति को देखकर डर के मारे थर-थर कांपने लगेगा और कानूनी संघर्ष की चीख पुकार मचाने लगेगा। अमेरिकी साम्राज्यवाद और स्वेच्छाचारी एवं जनता के गद्दार चाङ काइ-शेक का मकसद कम्युनिस्ट पार्टी को भंग और मटियामेट कर डालना, सर्वहारा क्रान्ति को खत्म कर देना तथा अमेरिका और चाङ काई-शेक की गुटबन्दी के हाथों में प्रतिक्रियावादी शासन को बनाये रखना था, और चीन के खुश्चेव की कुत्सित एवं विश्वासघात से भरी हुई गतिविधियों ने पूरी तरह से इसी मकसद को पूरा करने का ही काम किया है।

एक दूसरी दलील

''संसदीय रास्ते'' की अपनी बेबाक विज्ञापनबाजी में ,चीन के ख्रुश्चेव ने एक दूसरी दलील भी अपनायी । उसके अनुसार यह दलील उस समय के चीन की ''ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व दशाओं'' की उपज थी। इन दशाओं को इस तरह से बयान किया गया : तीन देश (ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ) चीन के जनवादी आन्दोलन की मदद कर रहे थे, चीन की तीन राजनीतिक पार्टियां (कुओ मिन-ताङ, कम्युनिस्ट पार्टी और डेमोक्रेटिक लीग) चीन में जनवाद लाने के पक्ष में परस्पर सहयोग कर रही थीं, और चीन के तीन प्रमुख वर्ग (मेहनतकश जनता, मध्यमार्गी बुर्जुआ वर्ग के मध्यमार्गी एवं बड़े बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा) चीन में जनवाद की मांग कर रहे थे। इस तरह, वह (यानी चीनी खुश्चेव—ल्यू शाओ-ची –अनु.) मुख्यत: इसी दलील के बलबूते ''संसदीय रास्ता'' अख्तियार करना चाह रहा था।

कितनी बेतुकी बात है यह। चीन के इस खुश्चेव की कलम-घिसाई में अमेरिकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादी महात्मा बुद्ध बन गये थे और इतना आगे बढ़ गये थे कि चीन के ''जनवादी आन्दोलन'' में मदद करने लगे थे। लेकिन क्या यह सच था? नहीं, उस वक्त अमेरिकी साम्राज्यवाद की तयशुदा नीति तो यह थी कि गृहयुद्ध से निपटने के लिए चाङ काइ-शेक की मदद की जाये और चीन को अमेरिकी पर निर्भर बना दिया जाये। दरअसल अमेरिकी सरकार चीन में जनवाद की पैरोकारी वाला साइन बोर्ड लगाकर, हर सम्भव तरीके से चाङ काइ-शेक की सैनिक ताकत को ही और मजबूती प्रदान कर रही थी, और चाङ काइ-शेक जनता का सामूहिक संहार किये जाने की नीति के तहत चीनी जनता की क्रान्ति को दबाने का ही काम कर रही थी। लेकिन जब उसने (यानी चीनी ख्रुश्चेव ने –अनु.) अमेरिकी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चीन के जनवादी आन्दोलन में मदद करने वाला बताया तो क्या चीन का यह ख्रुश्चेव एक दुश्मन को गले नहीं लगा रहा था और तब क्या वह पूरी तरह और खुल्लमखुल्ला अमेरिकी साम्राज्यवाद के पक्ष मे नहीं खड़ा था?

तीन राजनीतिक पार्टियां परस्पर सहयोग कर रही थीं । और तीन वर्ग चीन में जनवाद की मांग कर रहे थे। यह तो और भी बेतुकी बात थी। वस्तुत: बड़े बुर्जुआ वर्ग और मेहनतकश जनता की कोई एक साझा मांग तो कतई नहीं थी। जनता के मामलों में कार्यवाही करते हुए सत्ता और लाभ का एक-एक कतरा निचोड़ लेना ही कुओ मिन-ताङ और चाङ काई-शेक का सिद्धान्त था। अगस्त 1945 में, अध्यक्ष माओ ने 'चाङ काइ-शेक के प्रवक्ता के एक वक्तव्य के बारे में' नामक अपने निबन्ध में यह स्पष्ट तौर पर इंगित किया कि चाङ काई-शेक जनता का दुश्मन है। लेकिन इसके छ: महीने बाद ही, चीन का खुश्चेव खुले तौर पर जनता के दुश्मन की तरफ जा खड़ा हुआ, चाङ काई-शेक के बारे में कही गयी इस दो टूक बात को उलट दिया, जनता को ही दुश्मन मान लिया और उस खून के प्यासे कसाई को फरिश्ता समझ बैठा जो ''शांति और जनवाद को आगे बढ़ा रहा था''। इस प्रकार, क्या वह खुले तौर पर चाङ काइ-शेक के ही एक प्रवक्ता के रूप में नहीं काम कर रहा था?

एशियाई जनता के साथ विश्वासघात

चीनी क्रान्ति के व्यवहार ने चीन के खुश्चेव के सपने को पूरी तरह चकनाचूर कर दिया है। उसके सारे वाहियात विचारों को कूड़ेदान के हवाले करते हुए, चीनी जनता ने, अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में, तीन वर्षों के अपने बहादुराना

संघर्ष के जरिए, कुओ मिन-ताङ के प्रतिक्रियावादी शासन को अन्ततः उखाड़ ही फेंका, मुक्ति युद्ध में महान जीत हासिल की और चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना कर डाली।

इस नये चीन की स्थापना के बाद भी चीन के ख्रुश्चेव की महत्वाकांक्षा कम नहीं हुई, और अभी भी वह अपने समर्पणवादी सिद्धान्त की विज्ञापनबाजी करता रहा तथा उसे दुनिया भर में प्रचारित-प्रसारित करने की व्यर्थ कोशिश में लगा रहा। 1962 में उसकी मंशा यह थी कि बर्मा की कम्युनिस्ट पार्टी ''अपने हथियारों को दफन कर दे, अपनी सेना को 'डिफेन्स फोर्सेज' (ने विन की प्रतिक्रियावादी सेना) में समाहित कर दे, और समाजवाद के निर्माण में ने विन का सहयोग करे।'' जब उसने अप्रैल 1963 में इण्डोनेशिया की यात्रा की , तो उस दौरान उसने बड़ी बेशर्मी से ''नासाकोम'' के रास्ते की जोर-शोर से हिमायत की और एक अनौपचारिक बातचीत में उसने इस तरह की वाहियात टिप्पणियां की कि इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी के लिए ''यह अच्छा रहेगा'' कि सरकार में ज्यादा से ज्यादा पार्टी सदस्य मंत्री के पदों पर आसीन हों, ताकि वे देश में शासन करने का ज्यादा से ज्यादा अनुभव हासिल कर सकें।''

चीन के ख्रुश्चेव का चीनी जनता के प्रति, एशिया की जनता के प्रति और सारी दुनिया की जनता के प्रति यह गंभीर विश्वासघात है। यह चीनी ख्रुश्चेव चीनी जनता और पूरी दुनिया की जनता का एक मुश्तरका दुश्मन है।

अब चीन में ''संसद के भक्त'' पूरी तरह से दिवालिया हो चुके हैं। अब दुनिया के सारे के सारे संसद भक्त चाहे बड़े हों या छोटे, हर जगह दुत्कारे जा रहे हैं । जैसे-जैसे वक्त गुजरता जा रहा है, अध्यक्ष माओ का यह महान सत्य सारी दुनिया के सर्वहारा वर्ग, उत्पीड़ित जनता और उत्पीड़ित राष्ट्रों में घर करता जा रहा है कि ''राजनीतिक सत्ता बन्दूक की नली से पैदा होती है'' सशस्त्र संघर्ष की लपटें प्रचंड रूप से बर्मा, भारत, दक्षिणपूर्व एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका और अन्य भागों में भी उठने लगी हैं। अब लोग पुरानी दुनिया की आलोचना बन्दूकों से कर रहे हैं। यही चीन के ख्रुश्चेव की भी सबसे सशक्त आलोचना है। आइए, हम माओ त्से-तुङ विचारधारा के महान लाल परचम को और ऊंचा उठायें, चीन के इस ''संसद भक्त'' एवं उसके द्वारा प्रचारित समर्पणवादी बकवास की तिलमिला देने वाली आलोचना करें, उसे रद्द करें और पूरी तरह से अमान्य कर दें, तथा उसे इतिहास के कूड़ेदान में फेंक डालें।

कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए

(पृष्ठ 41 का शेष)

सरकार का नेतृत्व हमेशा मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के ही हाथों में बना रहे। सर्वहारा के अधिनायकत्व को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से कुल मिलाकर लुब्बे-लुबाब बात यही है कि आबादी को लामबन्द करना तथा बुरे तत्वों को किसी भी स्तर पर पार्टी और सरकार का नेतृत्व हड़पने से रोकना जरूरी है। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं : ''जरूरी है कि जनता के समुदायों को साथ लिया जाय, कैडरों के समुदायों को साथ लिया जाय, और दोनों में से 95 प्रतिशत को अपने साथ कर लिया जाय।'' कम्युनिस्टों को, और खासतौर से, पार्टी के नेतृत्वकारी कैडरों को निश्चय ही सर्वहारा वर्ग की व्यापक मानसिकता से लैस होना चाहिए, और संकीर्णमना नहीं होना चाहिए। उन्हें सामान्य हित को ही ध्यान में रखना चाहिए और पूरी स्थिति पर नजर रखनी चाहिए। उन्हें यह जरूर समझना चाहिए कि ''लोग बदल सकते हैं,'' ''जो गलती कर चुके हैं उन्हें इस ढंग से कायल करना चाहिए। उन्हें यह जरूर समझना चाहिए कि वे अपने तौर-तरीकों में सुधार लायें और इस तरह उन्हें अपनी गलतियां सुधारने में मदद देनी चाहिए। अगर किसी व्यक्ति ने ईमानदारी से अपनी गलतियां सुधार ली है, तो हमें हरदम उसकी आलोचना ही नहीं करते रहना चाहिए।''

चौथी आवश्यकता : जब मसले उठ खड़े हो तो जनसमुदायों से परामर्श करें। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं : ''कम्युनिस्टों की कार्यशैली जनवादी होनी चाहिए, न कि पितृसत्तात्मक''। जब मसले उठ खड़े हों, तो कामरेडों से परामर्श करो, पूरी बहस करो, भिन्न विचारों को भी गौर से सुनो और यहां तक कि उन्हें भी अपनी बात कहने दो जो असहमति का दृष्टिकोण रखते हैं। कहने का मतलब यह है कि हमें इस व्यवहार का कायल होना चाहिए कि ''सभी लोगों को अपनी बातें कहने दो'' और इस व्यवहार का विरोध करना चाहिए कि मैं ''जो कहता हूं वही सही है।'' बैठक में हां कहकर फिर अपनी बात से मुकर कर ना मत कहो।'' कम्युनिस्टों को जनसमुदायों के जिज्ञासु शिष्य होने चाहिए, ''जनसमुदायों के साथ जुड़ना चाहिए और जनसमुदायों से, जनसमुदायों को'' के सिद्धान्त पर दृढ़ता से कायम रहना चाहिए। यह बात पार्टी कैडरों के लिए और भी जरूरी है कि वे जनसमुदायों के साथ गहरे ताल्लुकात कायम करें, शोध और अध्ययन करें, विलक्षण रूप से टिपिकल उदाहरणों को गहराई से समझें तथा पूरे काम को मद्देनजर रखते हुए बढ़िया से बढ़िया काम करें। जनसमुदाय बहुतेरे ऐसे मसले पेश करते रहते हैं जिन्हें हम नहीं समझते, हमें उनसे जरूर सीखना चाहिए और उनके अनुभवों को लोकप्रिय बनाना चाहिए।

पांचवीं आवश्यकता : आलोचना और आत्मालोचना करने में निर्भीक बनो। यह हमारी पार्टी की एक बढ़िया परम्परा है। केवल आलोचना और आत्मालोचना के जरिये ही कम्युनिस्ट अपने आपको निखार और सुधार सकते हैं। अध्यक्ष माओ कहते हैं : ''मत समझो कि हमेशा तुम्हीं सही रहोगे, कि अकेले तुम्हारे ही पास सारी सच्चाइयां हैं। मत सोचो कि अकेले तुम्हीं सब कुछ कर सकते हो जब कि बाकी कुछ नहीं कर सकते कि तुम्हारे बिना यह धरती घूमना बन्द कर देगी। ''कम्युनिस्टों को चाहिए कि इस पार्टी सुदृढ़ीकरण अभियान के दौरान और बाद में यानी दोनों ही सूरतों में, अपने दिमाग जनसमुदायों के लिए खुले रखें, और उनकी टीका टिप्पणियों का स्वागत करें।'' अगर किसी व्यक्ति ने कोई गलती की है लेकिन आत्मालोचना कर ली है, दूसरों द्वारा भी उसकी आलोचना की जा चुकी है और उसने अपनी गलतियां सुधार ली हैं, तब वह एक बढ़िया कामरेड है।

इन पांच आवश्यकताओं को, जिनका अनुपालन करना पार्टी सदस्यों के लिए जरूरी है, संक्षेप में, इस प्रकार सूत्रित किया जा सकता है: **पहला,** मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा और अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन के प्रति निष्ठावान बनना, **दूसरा**, जनसमुदायों पर आस्था रखना और उन पर भरोसा करना, और **तीसरा**, स्वयं अपने प्रति एक सही दृष्टिकोण रखना। इन तीन आवश्यकताओं को पूरा करना अपने विश्व-दृष्टिकोण को पुन: संस्कारित करने और पूरी विचारधारात्मक निष्ठा के साथ पार्टी में शामिल होने के लिए सर्वोपरि रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण अख्तियार करके और उपर्युक्त पांच आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु सख्ती से अपने आपको तैयार करके ही पार्टी सदस्य सर्वहारा वर्ग के नाम के अनुरूप अग्रणी तत्व बन सकते हैं। ऐसे तत्वों की संख्या जितनी ही अधिक होगी, हमारे पार्टी संगठन उतने ही बेहतर संघर्ष के गढ़ों की भूमिका अदा कर सकेंगे और तभी हम सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में क्रान्ति को जारी रखने के अपने महान ऐतिहासिक कार्यभार को विजयी भाव से पूरा करने में समर्थ हो सकेंगे।

●

मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में

वी. एन. वोलोशिनोव

मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध की समस्या मार्क्सवाद की बुनियादी समस्याओं में से एक है जो तमाम महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भाषा के दर्शन के सवालों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है और जो इन सवालों के समाधान के जरिये या यहां तक कि इन पर कुछ पर्याप्त और गहराई से महज विचार-विमर्श के जरिये भी, काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

जब सवाल को इस रूप में पेश किया जाता है कि मूलाधार किस तरह विचारधारा को निर्धारित करता है तब इसका जवाब इस रूप में दिया जाता है : *कारण-कार्य सम्बन्ध के जरिये,* जो काफी हद तक सच तो है, फिर भी इस तरह का जवाब निहायत आमफहम और इसीलिए अस्पष्ट ही है।

यदि कारण-कार्य-सम्बन्ध का आशय यांत्रिक कारण-कार्य-सम्बन्ध से ही है (जैसाकि प्राकृतिक वैज्ञानिक चिन्तन के प्रत्यक्षवादी प्रतिनिधियों द्वारा समझा और परिभाषित किया जाता रहा है और अभी भी किया जाता है), तब तो यह आशय अनिवार्यत: गलत और स्वयं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की मूल स्थापनाओं के विरुद्ध ही है।

यांत्रिक कारण-कार्य-सम्बन्ध की कोटियों के इस्तेमाल का दायरा वस्तुत: बेहद तंग है, और यहां तक कि स्वयं प्राकृतिक विज्ञानों के भीतर जहां इन विज्ञानों के बुनियादी सिद्धान्तों के ऊपर द्वंद्वात्मकता की पकड़ कहीं और गहरी ही होती जाती है, वहां यह दायरा लगातार और भी तंग होता जाता है। फिर तो जहां तक ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी समस्याओं और विचारधाराओं के सांगोपांग अध्ययन का सवाल है, इसके लिए कारण-कार्य-सम्बन्ध की ऐसी बेजान कोटि को इस्तेमाल लायक सोचना ही बेकार है।

मूलाधार और उसके विचारधारात्मक सन्दर्भ की एकता और समग्रता से विच्छिन्न किसी अलग-थलग तथ्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में कोई भी संज्ञानात्मक मूल्य काम नहीं आता। अत: सर्वोपरि तौर पर यह आवश्यक है कि *किसी भी दिये गये विचारधारात्मक परिवर्तन का अर्थ उसके अनुरूप विचारधारा के सन्दर्भ में ही* निर्धारित किया जाये, जिसमें इस बात को मद्देनजर रखना जरूरी है कि विचारधारा का प्रत्येक क्षेत्र एक एकीकृत समग्र होता है जो मूलाधार में परिवर्तन लाने के लिए अपनी समूची बुनावट के साथ प्रतिक्रिया करता है। इसीलिए जरूरी है कि किसी भी व्याख्या में अन्त:क्रिया करने वाले क्षेत्रों के बीच की *सभी गुणात्मक विभिन्नताएं* सन्निहित रहें, तथा उन सभी विविध अवस्थाओं की छानबीन भी शामिल रहे जिनसे होकर कोई परिवर्तन आगे बढ़ता है। सिर्फ ऐसी सूरत में ही ऐसा विश्लेषण किया जा सकता है जो चीजों के भिन्न-भिन्न स्तरों से सम्बन्ध रखने वाले दो बाहरी तथ्यों के महज बाहरी सहमेल को ही नहीं दर्शायेगा, बल्कि समाज के वास्तविक द्वंद्वात्मक सृजन की प्रक्रिया को, एक ऐसी प्रक्रिया को दर्शायेगा जो मूलाधार से उत्पन्न होती है और अधिरचनाओं में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है।

यदि विचारधारात्मक परिघटना के अध्ययन में सांकेतिक विचारधारात्मक उपादान की विशिष्ट प्रकृति को नजरंदाज कर दिया जाये, तो ऐसा अध्ययन सरलीकरण का शिकार हो जाता है। ऐसे में या तो सिर्फ इसका तर्क-बुद्धिपरक पक्ष, उसका अन्तर्वस्तु पक्ष ही उल्लिखित और व्याख्यायित हो पाता है (मसलन, किसी कलात्मक बिम्ब का महज प्रत्यक्ष, सन्दर्भात्मक बोध, जैसे '**रूदिन** एक फालतू आदमी' की तरह), और तब यही पक्ष मूलाधार से सहसम्बन्धित हो जाता है (जैसे, कुलीन वर्ग पतित हो रहा है, अत: साहित्य में 'फालतू आदमी' आ जाता है), या, इसके विपरीत, विचारधारात्मक परिघटना का महज बाहरी, तकनीकी पक्ष काढ़कर अलग कर लिया जाता है (जो, उदाहरण के तौर पर, भवन-निर्माण सम्बन्धी किसी तकनीकी कुशलता या रंग-रोगन सामग्रियों के रसायन विज्ञान की भांति हो जाता है) और फिर तो इसी पक्ष को उत्पादन के तकनोलाजिकीय स्तर से सीधे निष्कर्षित कर लिया जाता है।

मूलाधार से विचारधारा को निष्कर्षित करने के ये दोनों ही तरीके विचारधारात्मक परिघटना के असली सारतत्व को छोड़ देते हैं। ऐसे में भले ही स्थापित की गयी संगति सही हो, भले ही यह सही हो कि कुलीन वर्ग के आर्थिक ढांचे के ध्वस्त हो जाने पर साहित्य में 'फालतू आदमी' जरूर प्रकट हुआ था, फिर भी इसमें पहली बात यह है कि इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि सम्बन्धित आर्थिक ध्वंस एक उपन्यास के पन्नों पर 'फालतू आदमी' उकेरने का यांत्रिक रूप से कारण बन जाता है (ऐसे दावे का बेतुकापन अपने-आप में ही पूरी तरह स्पष्ट है); और दूसरी बात यह है कि स्थापित की गयी संगति अपने-आप में तब तक किसी भी संज्ञानात्मक मूल्य से रहित ही बनी रहती है जब तक उपन्यास के कलात्मक रचना-विधान में 'फालतू आदमी' की विशिष्ट भूमिका और समूचे सामाजिक जीवन में उपन्यास की विशिष्ट भूमिका—यानी ये दोनों ही भूमिकाएं स्पष्ट नहीं हो जातीं।

यह बात निश्चित तौर पर स्पष्ट रहनी चाहिए कि आर्थिक गतिविधियों के परिवर्तनों और उपन्यास में 'फालतू आदमी' के निरूपण के बीच तय किया जाने वाला रास्ता लम्बा, बहुत लम्बा होता है जो ढेर सारे गुणात्मक रूप से भिन्न क्षेत्रों से होकर गुजरता है, और इनमें से प्रत्येक क्षेत्र के नियमों का अपना एक विशिष्ट सेट तथा अपनी विशिष्ट अभिलाक्षणिकताएं होती हैं। और यह बात भी निश्चित तौर पर स्पष्ट रहनी चाहिए कि 'फालतू आदमी' उपन्यास में किसी भी तरह से उपन्यास के दूसरे तत्वों से स्वतंत्र और असम्बद्ध नहीं प्रकट हुआ, बल्कि, इसके विपरीत, पूरा का पूरा उपन्यास ही, एक एकमुश्त आंगिक एकता के तौर पर, स्वयं अपने विशिष्ट नियमों के तहत, पुनस्संरचना की प्रक्रिया से होकर गुजरा और कि, इसके फलस्वरूप, उपन्यास के अन्य सारे तत्व—उसकी बुनावट, शैली आदि—भी पुनस्संरचना की प्रक्रिया से होकर गुजरे। और यह भी है कि उपन्यास की यह आंगिक पुनस्संरचना प्रक्रिया साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों के घनिष्ठ सम्बन्ध में ही सम्पन्न हुई।

इस प्रकार मूलाधार और अधिरचनाओं के अन्तर्सम्बन्ध की समस्या एक असाधारण जटिलता ली हुई समस्या है जिसके सर्जनात्मक उपचार के लिए भारी मात्रा में प्रारम्भिक तथ्य-सामग्रियों की दरकार होती है, जिसको शब्द के उपादान के जरिये एक महत्वपूर्ण स्तर तक निरूपित किया जा सकता है।

अब यदि इस समस्या को हम अपने सरोकार

के नजरिये से देखें, तो इस समस्या का सारतत्व इस रूप में दिखायी देता है कि *कैसे* वास्तविक अस्तित्व (मूलाधार) संकेत को निर्धारित करता है और *कैसे* संकेत अस्तित्व को उसकी उत्पत्ति-प्रक्रिया में प्रतिबिम्बित और परावर्तित करता है।

एक विचारधारात्मक संकेत के रूप में शब्दों के गुण* वही होते हैं जो शब्द को, इस पूरी समस्या को उसके बुनियादी अर्थ में समझने के लिए, सबसे उपयुक्त बनाते हैं। इस लिहाज से, शब्द के बारे में उसके संकेत की शुद्धता का उतना महत्व नहीं है जितना कि उसकी *सामाजिक सर्वव्यापकता* का। शब्द शब्दश: लोगों के बीच प्रत्येक क्रिया या सम्पर्क में सन्निहित होता है—काम-धंधे के साहचर्य में, विचारधारात्मक आदान-प्रदान में, सामान्य जीवन के सांयोगिक सम्पर्कों में, राजनीतिक सम्बन्धों में, और ऐसे ही अन्य तमाम क्रिया-कलापों में। सामाजिक सम्पर्क के सभी क्षेत्रों में व्याप्त असंख्य विचारधारात्मक सूत्र शब्दों में ही अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं। अत: यह कहना तर्कसंगत होगा कि शब्द *सामाजिक परिवर्तनों* का सबसे संवेदनशील *सूचक* है, और इतना ही नहीं, यह उन सामाजिक परिवर्तनों का भी सबसे संवेदनशील सूचक है जो अभी विकास की प्रक्रिया में होते हैं, जो अभी निश्चित शक्ल नहीं अख्तियार किये होते हैं और न ही अभी पहले से नियमित रूप से चली आ रहीं और पूरी तरह से परिभाषित विचारधारात्मक प्रणालियों में समायोजित हुए होते हैं। वस्तुत: शब्द ही तो वह माध्यम है जिसमें उन धीमे मात्रात्मक परिवर्तनों की अभिवृद्धि होती रहती है जो अभी एक नयी विचारधारात्मक क्षमता की हैसियत नहीं प्राप्त किये होते हैं, और न ही एक नया और पूर्णरूपेण, विचारधारात्मक रूप धारण कर पाये होते हैं। इस प्रकार शब्द सामाजिक परिवर्तन की सभी अल्पकालिक, सूक्ष्म और क्षणिक प्रावस्थाओं को भी व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं।

जिसे 'सामाजिक मनोविज्ञान' कहा गया है और जिसे ही *प्लेखानोव* के सिद्धान्त के अनुसार एवं अधिकतर मार्क्सवादियों द्वारा, संकीर्ण अर्थ में (जैसे विज्ञान, कला आदि में) सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और विचारधारा के बीच संक्रमणकालीन कड़ी के रूप में माना जाता है, वह अपने वास्तविक, भौतिक अस्तित्व में, *मौखिक अंत:क्रिया* ही है। मौखिक सम्प्रेषण और अन्त: क्रिया (सामान्य तौर पर सांकेतिक सम्प्रेषण और अन्त:क्रिया) की इस वास्तविक प्रक्रिया से यदि सामाजिक मनोविज्ञान को रहित कर दिया जाये तो वह एक आध्यात्मिक या मिथकीय अवधारणा—जैसे 'समष्टिगत आत्मा' या 'समष्टिगत आन्तरिक मनश्चेतना', 'जनता की आत्मा' आदि—के ढोंग में तब्दील हो जाता है।

सामाजिक मनोविज्ञान वास्तव में कहीं भीतर (सम्प्रेषणशील व्यक्तियों की 'आत्माओं' में) नहीं, बल्कि पूरी तरह से उनके *बगैर*—शब्द में, इंगिति में, कर्म में स्थित है। इसमें कुछ भी अनभिव्यक्त नहीं छूटा होता, इसमें 'भीतरी' कुछ भी नहीं—यह पूर्णत: बाहरी रूप में होता है, जो पूर्णत: सम्प्रेषणात्मक आदान-प्रदान में व्यक्त होता है, पूर्णत: भौतिक उपादान में, और सर्वोपरि रूप से, शब्द के भौतिक उपादान में, स्वीकार किया जाता है।

उत्पादन सम्बन्ध और इन सम्बन्धों द्वारा गठित सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था जनता के बीच, श्रम-कार्य में, राजनीतिक जीवन में, और विचारधारात्मक सर्जना के क्षेत्र में, मौखिक सम्पर्कों तथा उनके मौखिक सम्प्रेषण के सभी रूपों के समूचे विस्तार का निर्धारण करती है। और इसी मौखिक सम्प्रेषण की दशाओं, रूपों और प्रकारों से वक्तृता-प्रदर्शनों के केवल रूप ही नहीं, बल्कि उनकी विषय-वस्तुएं भी व्युत्पन्न होती हैं।

सामाजिक मनोविज्ञान प्रथमत: और सर्वप्रमुख रूप से नानाविध *वक्तृता-प्रदर्शनों* द्वारा रचित एक परिवेश है जो विचारधारात्मक सर्जना के सभी चिरस्थायी रूपों और प्रकारों जैसे अनौपचारिक बहसों, नाट्य या संगीत समारोहों या विविध प्रकार के सामाजिक समारोहों में विचारों के आदान-प्रदान, एकदम संयोगवश हुए शाब्दिक आदान-प्रदान, किसी के जीवन और दैनन्दिन अस्तित्व में घटी घटनाओं के प्रति उसकी मौखिक प्रतिक्रिया के ढंग, व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने को तथा समाज में अपनी अवस्थिति को जानने-समझने का अपने मन में अख्तियार किये जाने वाले शाब्दिक तरीकों आदि को अपने में समाहित और समोये होती है। सामाजिक मनोविज्ञान प्राथमिक तौर पर 'मौखिक उद्गार' के, तथा भीतरी और बाहरी किस्म की छोटी-छोटी *वक्तृता-प्रजातियों* के व्यापक तौर पर विविध रूपों में विद्यमान होता है—ये सभी ऐसी बातें हैं जो अभी भी अध्ययन किये जाने के लिहाज से पूरी तरह अछूती ही बनी हुई हैं। बेशक ये सारे के सारे वक्तृता-प्रदर्शन दूसरे प्रकार की सांकेतिक अभिव्यक्तियों और संकेत-विनिमयों जैसे स्वांग, इंगिति, अभिनय आदि से भी जुड़े होते हैं।

वक्तृता-विनिमय के ये सभी रूप उस सामाजिक स्थिति की दशाओं के अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध में कार्यशील होते हैं जिसमें ये उत्पन्न हुए होते हैं और उस सामाजिक परिवेश में होने वाली सभी हलचलों के प्रति असाधारण संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हैं। और यहीं पर, इस मौखिक रूप वाले भौतिक उपादान से सम्पन्न सामाजिक मनोविज्ञान की आन्तरिक गतिविधियों में बमुश्किल दिखायी दे सकने वाले खिसकाव और परिवर्तन जमा होते रहते हैं जो आगे चलकर पूर्णरूपेण विचारधारात्मक उत्पादों के रूप में अभिव्यक्त होने वाले होते हैं।

अबतक जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन निश्चय ही दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए : पहले, अन्तर्वस्तु, अर्थात, समय के इस या उस क्षण के लिए प्रासंगिक विषयवस्तुओं की दृष्टि से; और दूसरे, मौखिक सम्प्रेषण के उन रूपों और प्रकारों की दृष्टि से, जिनमें सम्बन्धित विषयवस्तुएं प्रस्तुत की जाती हैं (यानी जिनको बहस का विषय बनाया जाता है, अभिव्यक्त किया जाता है, जिन पर सवाल उठाया जाता है, या चिन्तन-मनन आदि किया जाता है।)

अभी तक सामाजिक मनोविज्ञान का कार्यभार सिर्फ उपर्युक्त पहली दृष्टि तक ही सीमित रहा है, अर्थात अभी तक इसका सरोकार एकमात्र इसकी विषयवस्तु सम्बन्धी बुनावट को परिभाषित करने तक ही सीमित रहाहै। इस स्थिति के चलते ही इस सवाल को पूरी स्पष्टता से नहीं उठाया जा सका कि इस सामाजिक मनोविज्ञान की प्रमाण-पुष्टि—इसकी ठोस अभिव्यक्तियां—कहां तलाशी जाये। और यहां पर भी, 'चेतना', 'मनश्चेतना' और 'आन्तरिक प्राण' की खेदजनक भूमिका के चलते सामाजिक मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति के स्पष्टत: विवेचित भौतिक रूपों को खोजने की जहमत उठाने की जरूरत से ही छुट्टी ले ली गयी।

लेकिन, इसके बावजूद, ठोस रूपों का मुद्दा सबसे ज्यादा अहमियत वाला है। बेशक यहां पर सवाल किसी विशेष काल में सामाजिक मनोविज्ञान के बारे में हमारे ज्ञान के स्रोतों (जैसे संस्मरणों, पत्रों, साहित्यिक कृतियों आदि) का नहीं है, और न ही 'युग चेतना' की हमारी समझदारी के स्रोतों का है, बल्कि सवाल तो इस चेतना के ठोस प्रस्तुतिकरण के रूपों, अर्थात सुस्पष्टत: मानव-व्यवहार में सांकेतिक सम्प्रेषण के ही रूपों का है।

इन रूपों की प्रतीकात्मक व्याख्या मार्क्सवाद के फौरी कार्यभारों में से एक है। आगे चलकर, मौखिक उद्गार और संवाद की समस्या के सम्बन्ध में, हम पुन: वक्तृता-प्रजातियों की समस्या को स्पर्श करेंगे। फिलहाल तो, आइये हम कम से कम निम्नलिखित बातों पर गौर करें।

प्रत्येक काल में, प्रत्येक सामाजिक समूह के मानवीय व्यवहार में, विचारधारात्मक सम्प्रेषण के लिए वक्तृता-रूपों का अपना निजी रंगपटल रहा है और है। सजातीय रूपों के प्रत्येक सेट, अर्थात प्रत्येक व्यवहार्य वक्तृता-प्रजाति का अपने अनुरूप विषयवस्तुओं का सेट होता है।

---

* शब्दों के गुणों की चर्चा वोलोशिनोव की कृति *मार्क्सिजम एण्ड द फिलासफी आफ लैंग्वेज* में इस आलेख के पहले वाले अध्याय में है।

सम्प्रेषण के रूप (जैसे निहायत तकनीकी किस्म के काम-धन्धे के दौरान किये जाने वाले सम्प्रेषण), मौखिक उद्‌गार के रूप (संक्षिप्त, व्यवसाय जैसे वक्तव्य) और उसकी विषय-वस्तु एक अन्तर्बन्धित करने वाली आंगिक एकता में गुंथी होती है। इसीलिए, *मौखिक उद्‌गार के रूपों का वर्गीकरण निश्चित रूप से मौखिक सम्प्रेषण के रूपों के वर्गीकरण पर आधारित होना चाहिए।* और मौखिक सम्प्रेषण के रूप पूरी तरह से उत्पादन-सम्बन्धों और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित होते हैं। यदि हम अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि मौखिक संवाद-विनिमय की प्रक्रिया में *श्रेणीबद्धता के कारक* का कितना भारी महत्व है और सम्प्रेषण के श्रेणीबद्ध संगठन का मौखिक उद्‌गार के रूपों पर कितना भारी प्रभाव पड़ता है। भाषिक शिष्टाचार, वक्तृता-कौशल, तथा समाज के श्रेणीबद्ध संगठन के अनुरूप किसी उद्‌गार को सुसंगत बनाने के अन्य रूपों का, बुनियादी व्यवहार-सम्बन्धी प्रजातियों का युक्ति-विधान करने की प्रक्रिया में, बड़ा महत्व है।

प्रत्येक संकेत, जैसा कि हम जानते हैं, सामाजिक रूप से संगठित व्यक्तियों के बीच, उनकी अन्त:क्रिया की प्रक्रिया में, एक शब्द-विन्यास होता है। इसीलिए, *संकेतों के रूपों को, सर्वोपरि तौर पर, अन्त:क्रिया में सहभागिता करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक संगठन द्वारा तथा साथ ही उनकी अन्त:क्रिया की तात्कालिक दशाओं द्वारा अनुकूलित किया जाता है।* जब ये रूप बदलते हैं, तो तदनुरूप संकेत भी बदल जाते हैं। और तब विचारधाराओं के अध्ययन के कार्यभारों में से एक कार्यभार यह भी होना चाहिए कि मौखिक संकेत के इस सामाजिक जीवन की छानबीन की जाये। केवल इस प्रकार से अप्रोच करने से ही *संकेत और अस्तित्व के बीच सम्बन्ध की समस्या* अपने ठोस रूप में अभिव्यक्त हो सकती है, और केवल तभी अस्तित्व द्वारा संकेत का स्वरूप निर्धारित करने वाले कारण कार्य-सम्बन्ध की प्रक्रिया सही अर्थों में अस्तित्व-से-संकेत में संक्रमण की, अर्थात अस्तित्व के संकेत में द्वंद्वात्मक परावर्तन की प्रक्रिया के रूप में, निरूपित हो सकती है।

इस कार्यभार को पूरा करने के लिए कुछ खासतौर से बुनियादी, प्रणाली-विज्ञान सम्बन्धी पूर्वापेक्षाओं को ध्यान में रखना जरूरी है :

1. *विचारधारा को संकेत की भौतिक वास्तविकता से काटकर* (अर्थात उसे 'चेतना' या अन्य अस्पष्ट और दुर्ग्राहय क्षेत्रों में स्थित करके) *अलग न किया जाये;*

2. *संकेत को सामाजिक व्यवहार के ठोस रूपों से काटकर अलग न किया जाये* (इस बात के मद्देनजर कि संकेत संगठित सामाजिक व्यवहार का ही एक हिस्सा है, और यह इससे बाहर, अपने आप में, महज एक भौतिक शिल्प-तथ्य की ओर लौटकर, अस्तित्वमान नहीं रह सकता),

3. *सम्प्रेषण और सम्प्रेषण के रूपों को उनके भौतिक मूलाधार से काटकर अलग न किया जाये।*

प्रत्येक विचारधारात्मक संकेत—मौखिक संकेत समेत—सामाजिक व्यवहार की प्रक्रिया से अस्तित्वमान होकर, अपने दिये गये काल-खण्ड और दिये गये सामाजिक समूह के *सामाजिक अभिप्राय* द्वारा परिभाषित होता है। खैर, अभी तक हम सामाजिक अन्त:क्रिया के रूपों द्वारा निर्धारित संकेत के रूप पर ही चर्चा करते रहे हैं। परन्तु अब हम इसके दूसरे पक्ष—संकेत की *अन्तर्वस्तु* और समूची अन्तर्वस्तु के साथ-साथ मौजूद रहने वाले मूल्यांकनकारी बलाघात की चर्चा करेंगे।

किसी समाज के विकास में उसकी प्रत्येक अवस्था के विषयों का अपना एक विशिष्ट और सीमित दायरा होता है और उस समाज का ध्यान सिर्फ उन्हीं विषयों की ओर जाता है जो इस प्रकार के ध्यानाकर्षण के जरिये मूल्यांकनकारी बलाघात से सम्पन्न होते हैं। और सिर्फ इस दायरे के भीतर आने वाले विषय ही संकेत-निर्माण में सफल होते हैं तथा सांकेतिक सम्प्रेषण के विषय बनते हैं। अब सवाल उठता है कि मूल्यांकनकारी बलाघातों से सम्पन्न विषयों वाले इस दायरे का निर्धारण किसके द्वारा होता है?

कोई भी विषय, चाहे वह यथार्थ के किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, समूह के सामाजिक उद्‌देश्य से तभी सम्बन्धित हो सकता है और विचारधारात्मक सांकेतिक प्रतिक्रिया भी तभी प्रकट कर सकता है, जब वह उस समूह विशेष के अस्तित्व की अनिवार्य सामाजिक-आर्थिक पूर्वापेक्षाओं के साथ सम्बद्ध हो; इसके लिए आवश्यक है कि वह, चाहे जैसे भी हो, यहां तक कि आड़े-तिरछे ही क्यों न सही, समूह के भौतिक जीवन के मूलाधार के सम्पर्क में रहे।

बेशक, ऐसी परिस्थितियों में व्यक्तिगत चयन का कोई मतलब नहीं हो सकता। क्योंकि संकेत व्यक्तियों के बीच, एक सामाजिक परिवेश में निर्मित होता है। इसीलिए सम्बन्धित विषय के लिए आवश्यक है कि पहले वह अन्तर्वैयक्तिक महत्व ग्रहण करे, और सिर्फ ऐसा होने के बाद ही वह संकेत-निर्माण का विषय बन सकता है। दूसरे शब्दों में, *कोई भी विषय सिर्फ सामाजिक मूल्य ग्रहण कर लेने के बाद ही विचारधारा की दुनिया में प्रवेश पा सकता है, स्वरूप ग्रहण कर सकता है और उसमें अपने आप को स्थापित कर सकता है।*

इसी कारण, सारे के सारे विचारधारात्मक बलाघात, चाहे वे व्यक्तिगत उद्‌गार से उत्पन्न हुए हों (जैसा कि शब्द के मामले में होता है), या, किसी घटना के दौरान, व्यक्तिगत संस्थान द्वारा उत्पन्न हुए हों, सामाजिक बलाघात ही होते हैं, जो *सामाजिक स्वीकृति* की अपेक्षा रखते हैं, और सिर्फ इस स्वीकृति की बदौलत ही उन्हें विचारधारात्मक उपादान के रूप में खुले तौर पर प्रयोग किया जाता है।

आइये हम संकेत का विषय बनने वाली चीज को संकेत की *विषय-वस्तु* कहने पर सहमत हो जायें। कारण कि प्रत्येक सुस्पष्ट संकेत की अपनी विषय-वस्तु होती है। फिर तो, प्रत्येक मौखिक प्रदर्शन की भी अपनी विषय-वस्तु होगी ही।

एक विचारधारात्मक विषय-वस्तु हमेशा ही सामाजिक बलाघात से युक्त होती है। बेशक, विचारधारात्मक विषयवस्तुओं के सारे के सारे सामाजिक बलाघात व्यक्तिगत चेतना में भी प्रवेश करते हैं (जो, जैसा कि हम जानते हैं, आद्योपान्त विचारधारात्मक ही होते हैं) और वहां ये व्यक्तिगत बलाघात के सदृश हो जाते हैं, कारण कि व्यक्तिगत चेतना उन्हें आत्मसात करके अपना बना लेती है। फिर भी, इन बलाघातों का मूल-स्रोत व्यक्तिगत चेतना नहीं है। कारण कि बलाघात अपने आप में ही अन्तर्वैयक्तिक होते हैं। जानवर की चीख, जो उसकी पीड़ा की शुद्ध अनुक्रिया होती है, बलाघात से रहित होती है, वह विशुद्धत: एक प्राकृतिक परिघटना है। ऐसी चीख के लिए, सामाजिक परिवेश का कोई मतलब नहीं होता, और यही कारण है कि इसमें संकेत-निर्माण का भ्रूण मात्र भी नहीं होता।

एक विचारधारात्मक संकेत की विषय-वस्तु और विचारधारात्मक संकेत का रूप अविभाज्य रूप से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, जो केवल अमूर्तन में ही विभाज्य हो सकते हैं। और अन्तत: शक्तियों का यही सेट और ये ही भौतिक पूर्वापेक्षाएं दोनों को जीवन्त बनाती हैं।

निश्चय ही, जो आर्थिक दशाएं सामाजिक उद्‌देश्य में यथार्थ के एक नये तत्व का समावेश करती हैं, जिसकी बदौलत वह उद्‌देश्य सामाजिक रूप से अर्थवान और 'दिलचस्प' बन जाता है, वे ही वे ठीक-ठीक दशाएं भी हैं जो विचारधारात्मक सम्प्रेषण के रूपों (जैसे संज्ञानात्मक, कलात्मक, धार्मिक आदि) को जन्म देती है, जो अपनी प्रतिक्रिया में सांकेतिक अभिव्यक्तियों के रूप निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार, विचारधारात्मक सर्जना की विषय-वस्तुएं और रूप एक ही गर्भ से उत्पन्न होते हैं जो वास्तव में एक ही चीज के दो पक्ष भर हैं।

विचारधारा में समावेशन की प्रक्रिया—विषयवस्तु की उत्पत्ति और रूप की उत्पत्ति—शब्द के उपादान में सर्वोत्तम रूप से व्यक्त होती है। विचारधारात्मक सृजन की यह प्रक्रिया भाषा में दो रूपों में प्रतिबिम्बित होती है : सांकेतिक

जीवाश्म-विज्ञान द्वारा अध्ययन किये जाने वाले, व्यापक पैमाने के अपने सार्वभौमिक-ऐतिहासिक आयामों में, जिसके तहत यथार्थ के अविभेदीकृत खण्डों के समावेशन को प्रागैतिहासिक मनुष्य के सामाजिक उद्देश्य के रूप में उजागर किया जा चुका है, तथा, साथ ही, समकालीनता के फ्रेमवर्क के भीतर निर्मित अपने छोटे पैमाने के आयामों में भी, कारण कि जैसा कि हम जानते हैं, संवेदनशीलता शब्द सामाजिक अस्तित्व के मामूली से मामूली परिवर्तनों को भी प्रतिबिम्बित करता है।

संकेत में प्रतिबिम्बित अस्तित्व महज प्रतिबिम्बित ही नहीं, बल्कि *परावर्तित* भी होता है। अब सवाल उठता है कि अस्तित्व का यह परावर्तन विचारधारात्मक संकेत में कैसे निर्धारित होता है? एक और उसी संकेत समुदाय के भीतर भिन्न-भिन्न, दिशाओं की ओर निर्देशित सामाजिक हितों के परस्पर टकराव, अर्थात *वर्ग संघर्ष द्वारा।*

वर्ग संकेत-समुदाय, अर्थात उस समुदाय से मेल नहीं खाता जो विचारधारात्मक सम्प्रेषण के लिए संकेतों के उसी सेट के प्रयोगकर्ताओं का कुल योग होता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न वर्ग एक और उसी भाषा का इस्तेमाल कर लेते हैं। नतीजतन, भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर निर्देशित बलाघात प्रत्येक विचारधारात्मक संकेत में परस्पर टकराते रहते हैं। इस प्रकार संकेत वर्ग संघर्ष की एक रण-स्थली बन जाता है।

विचारधारात्मक संकेत की यह सामाजिक *बलाघात-विविधता* एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है। आखिरकार, कुल मिलाकर, यह बलाघातों का परस्पर टकराव ही है, जिसकी बदौलत कोई संकेत आगे की ओर विकास हेतु अपनी जीवन्तता, गतिशीलता और क्षमता बनाये रखता है। यदि कोई संकेत सामाजिक संघर्ष के दबावों से परे हो जाये—यानी यदि वह वर्ग-संघर्ष के दायरे से परे चले जाये—तो वह अनिवार्यतः अपनी शक्ति खो देता है, अन्योक्ति के रूप में पतित हो जाता है, और इस तरह वह एक जिन्दा सामाजिक बोध की वस्तु न रहकर महज दार्शनिक बोध की वस्तु बन जाता है। मानव जाति की ऐतिहासिक स्मृति में ऐसे घिसे-पिटे विचारधारात्मक संकेतों की भरमार है जो जिन्दा सामाजिक बलाघातों के टकराव की रण-स्थली बनने में सर्वथा अक्षम हैं। फिर भी वे जिस हद तक भाषाशास्त्रियों और इतिहासकारों द्वारा याद किये जाते हैं, उस हद तक, कहा जा सकता है कि, वे जीवन की आखिरी टिमटिमाहटों को बरकरार रखे होते हैं।

फिर भी, वही चीज, जो विचारधारात्मक संकेत को जीवन्त और परिवर्तनशील बनाती है, उसे परावर्तनकारी और विकृतकारी माध्यम भी बनाती है। सत्ताधारी वर्ग की कोशिश यह रहती है कि विचारधारात्मक संकेत को एक वर्गोपरि, शाश्वत चरित्र प्रदान कर दे, ताकि संकेत में एक बलाघाती बनाकर उस संघर्ष को ही बुझा दे या दफन कर दे जो उसके भीतर सामाजिक मूल्य-निर्धारणों को लेकर चल रहा होता है।

वास्तव में, **जानस*** की भांति, विचारधारात्मक संकेत के दो चेहरे होते हैं। कोई भी प्रचलित अपशब्द प्रशंसा का शब्द बन सकता है, और कोई भी सत्य तमाम दूसरे लोगों को अनिवार्य तौर पर सबसे बड़ा झूठ लग सकता है। संकेत का यह *आन्तरिक द्वंद्वात्मक गुण* सिर्फ सामाजिक संकटों या क्रान्तिकारी परिवर्तनों के कालों में ही पूरी तरह खुल कर सामने आता है। लेकिन जीवन की सामान्य दशाओं में, प्रत्येक संकेत में सन्निहित अन्तरविरोध पूरी तरह नही उभर पाता, कारण कि एक स्थापित और प्रभुत्वशाली विचारधारा का संकेत हमेशा ही कुछ-न-कुछ प्रतिक्रियावादी होता है, और मानो वह इस कोशिश में लगा रहता है कि सामाजिक सृजन-प्रक्रिया के द्वंद्वात्मक प्रवाह के पूर्ववर्ती कारक को ही स्थायी बनाये रखे, ताकि बीते कल के सत्य पर ही जोर देते हुए उसे ही आज के सत्य के रूप में आभास कराता रहे। और यही वह चीज है जो प्रभुत्वशाली विचारधारा के भीतर विचारधारात्मक संकेत की विशिष्टता को परावर्तित और विकृत करने के लिए जिम्मेदार है।

इस प्रकार, अधिरचनाओं से मूलाधार के सम्बन्ध की समस्या की यही तस्वीर है। यहां पर हमारा सरोकार इसके कुछ खास पक्षों को ठोस रूप में विवेचित करने और इसके सृजनात्मक निरूपण के लिए अनुसरण की जाने वाली और पथों पर प्रकाश डालने तक ही सीमित दिशा है। इस निरूपण में भाषा के दर्शन को हमने एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। मौखिक संकेत का उपादान परिवर्तन की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया, यानी मूलाधार से अधिरचनाओं तक चलने वाली प्रक्रिया की निरन्तरता को पूरी तरह और आसानी से समझने की पूरी गुंजाइश देता है। इस तरह भाषा के दर्शन के आधार पर, विचारधारात्मक परिघटनाओं की व्याख्या करने में यांत्रिक कारण-कार्य-सम्बन्ध की कोटि से सर्वाधिक सुगमता से निजात पाया जा सकता है।

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

(स्रोत : 'मार्क्सिस्ट लिटरेरी थिअरी : ए रीडर' सम्पादक : टेरी ईगल्टन और ड्रू मिल्ने, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, आक्सफोर्ड, 1996, पृ. 61-68)

---

* जानस – इटली का दोमुंहा देवता।

दायित्वबोध

आगामी अंक

(जनवरी-मार्च 2000)

की कुछ प्रमुख सामग्री

नई सहस्राब्दी की चुनौतियों पर विशेष सामग्री

साथ में

आज के समय में कम्युनिस्ट घोषणापत्र : आज भी सही, आज भी खतरनाक, आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद
–रेमण्ड लोट्टा

●

जार्ज लूकाच के विरोध में
–बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

●

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

●

एक देश में समाजवाद
–जार्ज थामसन

●

मानवता का उद्योगीकरण

●

भूमण्डलीकरण बनाम मजदूर

●

अन्य स्थायी स्तम्भ तथा विचारोत्तेजक टिप्पणियां

पाठकों से

जिन मित्रों की वार्षिक सदस्यता की अवधि पूरी हो गई है कृपया अविलम्ब नये वर्ष का शुल्क भेज दें। आपके सहयोग के बल पर ही दायित्वबोध का सफर जारी रह सकता है।

हमारा नया फोन नम्बर दर्ज कर लें :

(0522) 308896

उपन्यास अंश

शवयात्रा

विष्णुचन्द्र शर्मा

अन्तरा आर.पी.डी.की भक्त है। जब भी वह कभी विराम शर्मा से बहस करती है, उसके दिमाग में दो ही नाम रहते हैं, आर.पी.डी. और जॉन रीड। वह खुद कभी जॉन रीड बनना चाहती थी। अमरीका के जंगलों में, पिछड़ी बस्तियों में, गरीब हब्शियों के लिये लड़ाई लड़ने वाली अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टी की एक मजबूत ताकत या झण्डा।

आर.पी.डी. की तरह वह साम्राज्यवादियों के गढ़ लन्दन में कम्युनिस्ट पार्टी की हकीकत को बुलन्द करना चाहती थी।

विराम के सामने कोई नाम नहीं है। कुछ चेहरे हैं, जिन पर वह अपनी शिकायतें, शिकायती-रजिस्टर पर दर्ज करता चलता है और महसूस करता है कि उसकी शिकायत पर आज या आने वाले समय में पार्टी के भीतरी तबके में एक जोरदार बहस होगी। मुजरिम की तरह लखबीर शर्मा जनता के कटघरे में खड़े किये जायेंगे। फिर डांगे आएंगे। फिर राजेश्वर राव, फिर रणदिवे और जोशी।

भूपति शर्मा, कटघरे में आने के पहले इत्मीनान से पान का चौघड़ा खोलेगा। चांदी की डिबिया से महंगा तम्बाकू निकालेगा। चार बीड़े लखबीर शर्मा को देगा। और चार अपने मुंह में दबा लेगा। और नफरत के साथ सरदार जगन्दर सिंह की हरकतों पर अपने बयान में तल्ख गालियां पेश करेगा, और महसूस करेगा कि सरदार जगन्दर न केवल सी.पी.आई. के लिये एक मरगुमना कम्युनिस्ट हैं, बल्कि रूसी दूतावास में भी वह एक ऐसा सचल अजूबा है जो जहां बैठ जाता है,एक हिस्सा उसके बैठते ही टूट जाता है। फिर काफी समय तक वह टूटे-सूखे हुए हिस्से को रंगता है, यह दिखाने के लिए कि उसकी बदौलत रूस की क्रान्ति का इतिहास आगे बढ रहा है। या हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस में, यानी सत्ताधारी दल में एक प्रगतिशील मोर्चा खोलने में कामयाब हुई है। भूपति शर्मा, इस मोर्चे पर अक्सर अनन्त से उलझता है और अन्तरा की खोज-खबर लेता है, कि वह मोर्चे में कहां तक पहुंची है।

अन्तरा, भूपति शर्मा और विराम शर्मा की इन दलीलों पर केवल मुस्कराती है। वह कहती सिर्फ विराम से है, 'विराम, अफसोस मुझे इस बात का नहीं है कि आजादी के बाद ट्रेड यूनियन आन्दोलन खत्म हो गया। अफसोस इस बात का भी नहीं है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने लम्बे समय तक किसानों को 'किसान सभा' के नाम पर धोखे में रखा। अफसोस मुझे इस बात का है कि जनाब जहीर हों या बेगम जहीर, डांगे हों या उनके लठैत शर्मा तुम्हारे पिता हों, गनपत हों या भूपति शर्मा हों, सब एक ही चट्टे-बट्टे के, जनता के दुश्मन हैं। एक ही चट्टे-बट्टे का इनका काम है, भटकाव के लिए पार्टी के भीतर गिरोह चलाना, उसे चलाते रहना। इनका राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अपने को दल के केन्द्र में कायम रखना है। और इनका एकमात्र काम 27 वर्षो में रहा है, जनता से पार्टी को दूर ले जाना। 'जंग' का सम्पादकीय उनसे छीन नहीं लिया जाएगा। पार्टी का मजबूत प्रकाशन, बेजान रहने पर भी, जानदार नहीं हो जाएगा।

वरिष्ठ लेखक विष्णुचन्द्र शर्मा का उपन्यास 'विडम्बना' जल्द ही प्रकाशित होने वाला है। इसके दो खण्ड हैं। पहला है 'काशी : आजादी' और दूसरा 'दिल्ली : ठहराव'। प्रस्तुत अंश दूसरे खण्ड से लिया गया है। प्रस्तुत उपन्यास-अंश भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के पराभव के दौर पर एक विचारोत्तेजक टिप्पणी के समान है। इसके पात्रों के मुंह से दी गई कई स्थापनाएं बहसतलब हैं और इनसे हमारे कुछ मतभेद भी हैं। इसमें कुछ अहम तथ्यगत भूलें भी हैं जिनकी ओर हमने श्री शर्मा का ध्यान आकृष्ट किया है। अपनी टिप्पणी सहित इसे प्रकाशित करने की उनकी अनुमति से हम इसे छाप रहे हैं। (देखें बाक्स, पृष्ठ 52)। —सम्पादक

सरदार जगन्दर और जनाब जहीर ने इस बार जिस नरगंज एम.पी. को हिन्दुस्तान के क्रान्तिकारी कवि का खिताब दिया है, उसे कोई कम्युनिस्ट पार्टी का अदना-सा सदस्य भी प्रगतिशील मानने को तैयार नहीं होगा। वजह इसकी जानना चाहते हो।

मेरे साथ कभी 'प्रेस क्लब' में बैठो या इन तथाकथित भगोड़े कम्युनिस्टों से मिलो, जो आज मिनिस्टर बन गए हैं। कभी उनके घर गए हो? उनके कमरे में एक तस्वीर लेनिन की मिलेगी और एक तस्वीर गांधी की।

गांधी माने जानते हो, 'इन्दिरा गांधी'। अब कांग्रेस के पास कोई और गांधी नहीं है। सत्ता का अर्थ है 'इन्दिरा गांधी।'

'तुम्हारी शिकायतों पर कौन गौर करेगा, इन्दिरा गांधी या डांगे या तुम्हारे जोड़-तोड़वादी कम्युनिस्ट पिता लखबीर शर्मा?

'याद रखो विराम, शिकायतों से कोई व्यवस्था नहीं बदली गई है कभी। आज तक राजनीतिक चेहरे 'सर्फ' से नहीं धोए जाते हैं। उन पर जो बीस साल में खतरनाक मुखौटे चढ़े हैं, उन्हें तोड़ना होगा। वह जिस कुर्सी पर जमे हैं, उस कुर्सी को उनसे छीनना होगा।

'एक कम्युनिस्ट, सेंध लगाकर व्यवस्था के चोरदरवाजों से केन्द्र में नहीं आता है। वह लम्बे अभियान के बाद, सत्ता पर कब्जा करता है। वह चुनौती देता है। खुली चुनौती। जॉन रीड ने ऐसी ही चुनौती दी थी। वह लेनिन के पास नहीं गया था। वह दुनिया की पहली, जनता की क्रान्ति में शरीक होने के लिये, अपने देश के ईमानदार कम्युनिस्ट की तरह वहां गया था। उसने बुर्जुआ रूसियों की कमजोरियों को भी देखा था। बुद्धिजीवियों की छोटी-छोटी हरकतों पर कड़ी निगाह भी रखी थी। और सत्ता में जोड़-तोड़ करने वाले व्यवस्था के कुत्तों पर खुला हमला करते हुए जनता की लाल फौज को बढ़ते हुए देखा था। सर्वहारा वर्ग की शानदार विजयी ताकत को देखा था।

'जॉन रीड, रूस की क्रान्ति में शरीक हुआ था। और हमारा विरोधाभास यह है विराम, कि हम अपने देश में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की शवयात्रा में शरीक हो रहे हैं। फर्क यहां भी इतना ही है, तुम शवयात्रा में कुछ लोगों के चेहरों से नफरत कर रहे हो और मैं एक बडी असफलता पर अफसोस कर रही हूं। हमारी नफरत या अफसोस करने से भूपति शर्मा में कोई बदलाव नहीं आएगा। लखबीर शर्मा की चालाकियों में कोई फर्क नहीं आया है। डांगे आज भी रूस की निगाहों में हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट है। जबकि हिन्दुस्तान की निगाहों में रूस में कई हजार लेनिन आज भी हैं, जो लड़ रहे हैं अन्तरराष्ट्रीय

कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिए। और अपने देश की गलत व्यवस्था के खिलाफ, जिनका मोर्चा कहीं से भी कमजोर नहीं हुआ है, फर्क इतना-सा ही है।

'मैं जब लड़कियों के जत्थों में नारे लगाती थी। तब भी सपने देखा करती थी। मेरे तकिए के नीचे जॉन रीड की पुस्तक पडी रहती थी। मेज पर आर.पी.डी. की पुस्तकें रहती थी। उसके 'वर्कर्स वीकली' की फाइल रहती थी।

'जूलियत फीचिस की तरह, मैं सपना देखा करती थी, लडाई में आखिरी फैसले का।

'पुस्तकें आज भी उसी प्रकार पड़ी हुई हैं, रेकों में या तकियों के नीचे। हावर्ड फास्ट की 'स्पार्टकस' और 'अमेरिका' जैसी पुस्तकें आज भी हजारों कम्युनिस्टों ने हजार बार पढ़ी होंगी, पर आज के वामभूखण्ड में रूस परस्त बहुसंख्यक कम्युनिस्ट जमे बैठे हैं और कम्युनिस्ट कार्यकर्ता स्पार्टकस गुमनाम हैं।

'यह नहीं है कि हमारे यहॉं काले गुलाम नहीं हैं या अमरीका में हब्शी नहीं रह गए हैं। अफ्रीका में आज भी सफेद कुत्ते, काले इन्सानों पर कोड़े बरसा रहे हैं पर हम वामपंथी भटकाव की जिस शवयात्रा में शरीक हैं वहां एक के बाद कई फैसले गलत होते जा रहे हैं। और होते जाएंगे।

'फैसले गलत कब होते हैं, जब दल मर जाता है। हॉं,जब क्रान्तिकारी दल का योद्धा क्रान्तिकारी नहीं होता, मक्कार या मौकापरस्त हो जाता है। अनन्त उसी भटकाव का एक हिस्सा बन गया है। जब ट्रेड यूनियन का नेता मजदूरों के आर्थिक मोर्चे से भागकर पार्टी के बड़े हिस्से पर कब्जा कर लेता है। अपने समय में लेनिन ने इस खतरे को देख लिया था। और उसने सबसे बडी गाली 'ट्रेड यूनियनिस्ट' को दी थी।

'हमारे पास यहां दुश्मन को देने के लिए नफरत भी नहीं बची है। क्यों? आज हमारे पास कोई मोर्चा नहीं। कोई जंग नहीं है।

'तुमने अभी लम्बी हड़ताल में थके हुए मजदूरों को देखा है। वह जहां रहते हैं। वहां तुम एक दिन भी नहीं रह सकते हो। लेकिन वह अक्सर थकते हैं। किसी मजदूर को तुम संघर्ष से थककर पीछे भागते हुए नहीं देखोगे। पीछे भागना गलत नीति की वजह से होता है। दल का फैसला गलत होता है। 1922 से 1951 तक का हमारा इतिहास मजदूरों की लड़ाई का, क्रान्तिकारी फैसलों का रहा। किसान अपने मोर्चे पर फैसला करते थे। उसके बाद भटकाव आया। यह गलत नेताओं की 1951 के बाद सिर्फ एक गलत यात्रा है। हम अफसोस के साथ उसमें शरीक होते जा रहे हैं।

'पहले कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य सर उठाकर क्रान्तिकारी दल में शरीक होता था। अब सर झुकाकर शव-यात्रा में घिसट रहा है।

'अभी तुमने खबर पढी है। मेरे प्रिय विचारकों में दूसरा प्रिय स्तम्भ आर.पी.डी. गिर गया है। इसके पहले मैं शायद इतनी खीझ के साथ किसी से कुछ नहीं कह सकी थी। जॉन रीड ने क्रान्ति में हाथ बटाया था। वह क्रान्ति में लड़ा था। अन्त तक वह क्रान्तिकारी रहा और मर गया। उसकी समाधि क्रान्तिकारी रूस में है। हम आज जॉन रीड की नहीं, आर.पी.डी.की शव-यात्रा में शरीक हैं।

–दो–

'जुलूस न बहुत बड़ा है, न बहुत छोटा। आगे चलने वाले चेहरे पहचाने हुए हैं। लेनिन के चेहरे पर वर्ग दुश्मन से भरपूर नफरत पढ़ी जा सकती थी। अब थोड़ा अजीब लगेगा। इन चेहरों में किसी वर्ग-दुश्मन से घृणा नहीं है।

'लम्बे चेहरे वाला वह आदमी। कोई उसे नहीं भूल सकता। जिसे पागलों की तरह हमने अपने देश के जंगलों में, पहाड़ों में और घनी बस्तियों में लाल फौज का संगठन करते हुए देखा था। जो तेलंगाना के बाद, किसानों की कम्युनिस्ट फौज का मजबूत सेनापति रहा।

'आज आर.पी.डी. की शव यात्रा में कुछ ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की कमजोरियों का इतिहास नजर आ रहा है। यह वही कमजोरियां हैं, जो हर 'विकासशील देश' को सिर्फ गुलाम देश बनाए रहने को मजबूर करती हैं। आर.पी.डी. ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी समिति के सदस्य 1922 से 1965 तक रहे। जानते हो। यही समय हमारे देश में भी कम्युनिस्ट पार्टी के मजबूत होने का समय रहा है। यही समय कोरिया युद्ध का रहा है। इस समय में दूसरा महायुद्ध हुआ है। इसी समय रूस को कमजोर करने वाली प्रतिक्रियावादी ताकतों ने स्टालिन का मजाक उड़ाया।

'इसी समय रूस के हर घर का दरवाजा युद्ध का मोर्चा बना और वह मोर्चा बन्द नहीं हुआ। उसने चीन के लम्बे अभियान की शुरुआत की। क्यूबा की क्रान्ति ने चे ग्वेरा की मौत, दूसरे महायुद्ध के बाद वियतनाम का लोक-युद्ध, ये सब कुछ 1922 से 1965 तक का क्रान्तिकारी इतिहास है। और भारत करीब से या दूर से क्रान्तिकारी वास्तविकता का दर्शक रहा। आज भी यह देश एक भला या विडम्बना में फंसा हुआ दर्शक है।'

अनन्त ने बीच में अन्तरा को देखा। वह विराम से बहस करते हुए बेचैन लग रही थी, उसने कहा, ''एक बार इच्छा होती है आर.पी.डी. द्वारा सम्पादित 'वर्कर्स वीकली' की पूरी फाइल देखूं। एक बार इच्छा होती है उनके दैनिक 'वर्कर' के पन्ने उल्टूं। उनके 'मार्निग स्टार' में अपने देश की कम्युनिस्ट पार्टी की असफलता का चेहरा देखूं-परखूं ।''

'आर.पी.डी. इस देश से जुड़े थे। उनके पिता इस देश के डाक्टर रहे हैं। वही डाक्टर जैसे डाक्टर कोटनिस। लेकिन उनके पिता महज डाक्टर थे और उनकी स्वीडिश मां केवल मां थी। वह गोर्की की 'मां' नहीं बनी। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हावर्ड लास्की था जो उदार चिन्तक था। बुर्जुआ अध्यापक था। इन सारे कम्युनिस्टों का जो आज भी देश में ऊंचे पद पर हैं वह उनका गुरू रहा है।

पर उनमें और रजनीपामदत्त या आर.पी. डी. में बुनियादी फर्क है। उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कम्युनिस्ट दर्शन की आधारशिला रखी। उसे लम्बे जीवन तक कायम रखा। आगे बढ़ाया। मजबूत किया। पहली बार उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से निकाला जाता है। क्यों, जानते हो, क्योंकि उसने मार्क्सवाद का प्रचार किया था। डांगे कभी संसद से नहीं निकाले गये। भूपेश गुप्त को कभी राज्य-सभा से या डा.नगीना सिंह, प्रो. नामजोशी को कभी विश्वविद्यालय से नहीं निकाला गया। जानते हो, ये उस मार्क्सवाद का प्रचार कर रहे हैं जहां वर्ग घृणा नहीं है। जानदार सर्वहारा वर्ग की चेतना नहीं है। यहां मार्क्सवाद का प्रचार नहीं है। उसका प्रलाप है। 'जंग' अब भारतीय कम्युनिस्ट प्रलाप का मुख्य पत्र है। यह क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट विचार का प्रचार-पत्र नहीं है। आर.पी.डी. का 'लेबर' मासिक पत्र कभी गैर-क्रान्तिकारियों का वकील नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की जब तलाश की जा रही थी 1921 में, उस समय रजनीपामदत्त ने क्रान्तिकारी मासिक पत्र 'लेबर मंथली' निकाला था। और 79 वर्ष तक यानी अपने जीवन के लम्बे समय तक वह क्रान्तिकारी पत्र का सम्पादक रहा।'

बेहद नाराज है अन्तरा। विराम ने इतना नाराज उसे कभी नहीं देखा था। वह बता रही थी या फर्क कर रही थी, देश के गैर क्रान्तिकारी या सत्ता के बिचौलिए कम्युनिस्ट से, विदेश के समूचे क्रान्तिकारियों को। उसने कहा, 'वह भूपेश की तरह सम्पादक नहीं है। लखबीर शर्मा की तरह सम्पादक नहीं है। सोवियत प्रचार पुस्तिकाओं के सम्पादक सरदार जगन्दर की तरह सम्पादक नहीं है। 'जंगे अवाम' के हकीकत जहीर-सा सम्पादक नहीं है। वह जीवन भर कम्युनिस्ट जंग में दिमागी तौर पर हिस्सा लेता रहा।

उसे इंग्लैण्ड से कभी निकाला नहीं जाता। यहीं मुझे आज पहले पहल आर.पी.डी. की कमजोरी नजर आ रही है। वह कम्युनिस्टों का 'दिमागी दोस्त' था, गोरी ब्रिटिश साम्राज्यवादी

प्रस्तुत उपन्यास-अंश की कुछ तथ्यगत भूलों के बारे में सम्पादक का पत्र

आदरणीय साथी विष्णुजी,

'विडम्बना' उपन्यास का अंश ('शवयात्रा') मिला। देर से उत्तर देने के लिए क्षमाप्रार्थी हूं। मिश्र जी व अन्य सहयोगियों से विमर्श के बाद पत्र लिख रहा हूं।

'दायित्वबोध' में अभी तक कहानियां या उपन्यास-अंश छपने की कोई परम्परा नहीं रही है (केवल एक बार अपवादस्वरूप मई दिवस के अवसर पर 'द अमेरिकन' के अंश हमने छापे थे) पर इसके प्रति हम लोगों का कोई रूढ़ आग्रह नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास-अंश भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के पराभव के दौर पर एक विचारोत्तेजक टिप्पणी के समान है। इसके पात्रों के मुंह से दी गई कई स्थापनाएं बहसतलब हैं और इनसे हमारे मतभेद भी हो सकते हैं, पर यह हमारे निर्णय का आधार नहीं हो सकता। इस अंश को हम 'दायित्वबोध' के आगे के अंक में छाप सकते हैं, पर इसकी कुछ अहम तथ्यगत भूलों की ओर प्राथमिकता क्रम से हम आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं:

(1) पृष्ठ 9 पर अंतिम पैरा-"... 1964 में मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी कायम की जाती है और एक साल में पार्टी मुक्तांचल तैयार करती है...।" उल्लेखनीय है कि 1964 में सातवीं कांग्रेस में सी.पी.आई. (एम.एल.) की नहीं, बल्कि सी.पी.आई.(एम) की स्थापना हुई थी। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार हुआ। 1968 में आल इण्डिया कोआर्डिनेशन कमेटी ऑफ कम्युनिस्ट रिवोल्युशनरीज की स्थापना हुई जिसमें सी.पी. एम. से अलग हुए देश के अधिकांश क्रान्तिकारी ग्रुप शामिल हुए। शुरू में उसमें नागी रेड्डी का ग्रुप भी शमिल था, जिससे चारू ने जल्दी ही निकाल दिया। 1969 में कानू सान्याल ने कलकत्ता में सी.पी.आई.(एम.एल) की घोषणा की और 1970 की आठवीं कांग्रेस में पार्टी का औपचारिक गठन हुआ।

(2) पृष्ठ 9 पर दूसरे पैराग्राफ में-"तिभागा जन-आंदोलन में" ... संगठित किया था। ... इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि तिभागा आंदोलन चालीस के दशक में बंगाल में हुआ था और तेलंगाना और पुनप्रा-वायलार का समकालीन था। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार वस्तुत: चारू के नेतृत्व में नहीं, बल्कि कानू सान्याल-जंगल संथाल आदि के नेतृत्व में हुआ था। चारू की लाइन निकटवर्ती इस्लामपुरा-जोरहाट के इलाके में लागू हुई थी और असफल हुई थी। बाद के दौर में उनकी लाइन नक्सलबाड़ी में लागू हुई।

(3) पृष्ठ 10 पर दूसरा पैराग्राफ-"यह पार्टी ...असर था।" नागी रेड्डी के ग्रुप ने आंध्र में काम करते हुए चारू मजुमदार की "शत्रुवध" की लाइन का विरोध किया था और उसे वामपंथी दुस्साहसवाद एवं मध्यमवर्गीय अराजकतावाद बताया था। उन्होंने क्रान्तिकारी जनदिशा की वकालत की थी। श्रीकाकुलम का आंदोलन वस्तुत: आंध्र में नागी रेड्डी डी.बी.राव की लाइन के समान्तर चारू की लाइन पर संगठित हुआ था न कि उस पर नागी रेड्डी का प्रभाव था।

(4) पृष्ठ 7 पर अंतिम पैराग्राफ के संदर्भ मेंख्रअन्तरा, आज तुम... बौखलाई हुई थी। "जहां तक हम लोगों को ज्ञात है चारू की पुत्री और मेडिकल की छात्रा अनीता मजुमदार की अपने पिता से सहानुभुति भले रही हो, वे एक सक्रिय या आप ही के शब्दों में "भरपूर कम्युनिस्ट" कभी नहीं रहीं।

(5) पृष्ठ 8 पर पहले पैराग्राफ के सन्दर्भ में-चारू पार्टी के अध्यक्ष नहीं केन्द्रीय कमेटी के महासचिव थे। और अकेले उन्हीं को मा-ले पार्टी का संस्थापक भी नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ 1 के प्रथम पैराग्राफ के संदर्भ में-अमेरिकी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने संशोधन-वादी दौर के पहले भी वस्तुत: औद्योगिक मजदूरों, अश्वेत आबादी व शहरी मध्यवर्ग में ही काम किया था। अमेरिका के जंगलों में वह काम नहीं करती थी। यहां दीर्घकालीन लोकयुद्ध की स्थिति भी नहीं थी। जंगलों में तो केवल लातिन अमेरिका के पेरू, कोलंबिया आदि देशों में वामपंथियों ने छापामार युद्ध चलाये थे।

पृष्ठ 3 पैरा चार-जूलियस फीचिस शायद नहीं है, बल्कि जूलियस फ्यूचिक है।

पैरा 5-हावर्ड फास्ट के उपन्यास का नाम 'अमेरिका' नहीं बल्कि 'द अमेरिकन' है।

इसी तरह की कुछ और छोटी-मोटी तथ्यगत चूकें हम लोगों को मालूम पड़ीं।

कुछ और बातें। आर.पी.डी. स्तालिन की "आलोचना" के भले ही आलोचक रहे हों, ख्रुश्चेव और ख्रुश्चेवकाल की रूसी पार्टी को वे संशोधनवादी नहीं बल्कि कम्युनिस्ट मानते रहे। 'ग्रेट डिबेट' में उन्होंने व ब्रिटिश पार्टी में माओ और सी.पी.सी का नहीं बल्कि रूसी पार्टी व ख्रुश्चेव का पुरजोर समर्थन किया था। भारत में भी वे कुछ गौण मतभेदों के बावजूद सी.पी.आई की लाइन के ही समर्थक रहे। वस्तुत: स्तालिन काल में ही आर.पी.डी और ब्रिटिश पार्टी ट्रेडयूनियनवादी और संसदवादी हो चुके थे।

पृष्ठ 3 के अंतिम पैरा में-"ट्रेडयूनियन का नेता...दी थी।" लेनिन ने ट्रेडयूनियन के खतरे को कहीं भी इस रूप में न देखा है, न परिभाषित किया है। ट्रेडयूनियनवाद के भटकाव की उनकी व्याख्या नितान्त भिन्न है।

बहरलाल रचनाकार की विश्लेषण दृष्टि के बारे में हम सुझाव देना अनावश्यक मानते हैं। इनपर तो छपने के बाद आलोचना और बहस के दौरान चर्चा आनी चाहिए। यह उल्लेख तो हमने महज प्रसंगवश ही किया है। हमारा मूल मन्तव्य केवल इन तथ्यों को इंगित करना है, जो हमारी जानकारी में सही नहीं है।

आप सूचित कीजिए कि इन तथ्यों के बारे में आप क्या सोचते हैं? हमने अत्यन्त विनम्रता के साथ इनकी ओर इंगित कर देना अपना कामरेडाना दायित्व समझा। आप जैसे वरिष्ठ साथी को रचना में सुझाव देने की धृष्टता हम नहीं करेंगे। यदि आप चाहें तो हम इसे ज्यों का त्यों भी छाप सकते हैं, पर ऐसी स्थिति में हम इस पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी देने और बहस चलाने की भी इजाजत चाहेंगे आपसे।

वैसे, विषयवस्तु से एक हद तक परिचित होने के बाद हम व्यग्रता से उपन्यास की प्रतीक्षा कर रहे हैं। निश्चित ही यह कई जरूरी बहसों और विवादों को जन्म देगा।

—अरविन्द सिंह

लखनऊ, 24.2.99

श्री विष्णुचंद्र शर्मा का प्रत्युत्तर

प्रिय साथी अरविन्द,

24.2.99 के पत्र के लिए आभारी हूं। मिश्र जी और साथियों ने 'विडम्बना' उपन्यास के 'शवयात्रा' अंश को गहरी ऐतिहासिक दृष्टि से परखा। मैं चाहता हूं कि जब भी आप 'शवयात्रा' अंश को छापें तो अपने पत्र के (1) से.... पृष्ठ 3 के ....व्याख्या नितान्त भिन्न है।... तक अंश संपादक के नाते जरूर दें।

मैंने सिर्फ अनन्त, अन्तरा, विराम जैसे चरित्रों के जरिए सी.पी.आई की दो लाइनों का संघर्ष दिखाया है। अनन्त सोवियत दूतावास में रहकर भटकाव की व्याख्या करता है। अन्तरा अपने वर्ग से हटकर आर.पी.डी. के जरिए सी. पी.आई. की जनविरोधी धारणा पर प्रहार करती है और विराम अपने कम्युनिस्ट पिता से नाराज है और उसकी सहानुभूति चारू या नक्सलवाद के प्रति है, वह भी दिमागी।

छंद या नरोत्तम जैसे चरित्र भी 'विडम्बना' उपन्यास में सी.पी.आई. की गलत लाइन के शिकार हैं। यानी सत्ता समर्थक हैं।

—विष्णुचन्द्र शर्मा

दिल्ली, 9.3.99

कूटनीति का विरोधी था, पर वह इंग्लैण्ड का लेनिन नहीं था। भारत की सत्ता का ताज ब्रिटिश माउण्टबेण्टन किसे सौंप रहा है, और किन शर्तों पर वह भारत-पाक का बंटवारा कर रहा है। साम्राज्यवाद की इस छिपी चाल का उसने कभी भण्डाफोड़ नहीं किया। वह मजदूरों का 'दिमागी वफादार साथी' था, पर वह ब्रिटेन का लेनिन नहीं था। जबकि मैं काफी समय तक उसे ब्रिटेन का लेनिन समझती रही थी।'

अनन्त ने बीच में उसे रोका। 'अन्तरा, 1968 की वह शाम मेरे लिए भी पहली खतरनाक शाम रही है। मायूस शाम कह सकती हो। जब सोवियत टैंक चेकोस्लोवाकिया की सीमा में बढ़े थे। मैंने कई बार कोशिश की थी कि स्तालिन की कोई ऐसी पुस्तक खोजूं। लेनिन की कोई ऐसी किताब पढ़ूं जिससे मुझे इस मायूसी से बाहर निकलने की ताकत मिले। मैं उस दिन वाकई निराश हुआ था।

'मुझे बोल्शेविक क्रान्ति के पहले के प्रतिक्रियावादी जार और 1968 के कम्युनिस्ट जार में कोई फर्क नजर नहीं आया।

'एक बार हिटलर ने पूरे यूरोप को कुचला था। और उस दिन पहली कम्युनिस्ट जार की सेना चेकोस्लोवाकिया की आजादी को कुचल रही थी।

'रात भर बेचैनी के साथ मैंने जो लेख लिखा था उसे अमूर्त ने बहुत अफसोस के साथ सुना था। मेहता ने उसके एक अंश पर खुशी जाहिर की थी। रामकरण एक साथ दो कप चाय पीता रहा था। उसे इन्तजार था कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति उस पर तत्काल सही फैसला करेगी। पर जानती हो अन्तरा।

'जंग' में मेरा वह लेख साथियों ने कम्पोज करने के लिये दे दिया था। रात भर मैं रेडियो पर खबरें सुनता रहा था, विदेशी खबरें। सुबह 'जंग' की गैली-प्रूफ मैंने अलख के साथ पढ़ा था। लखबीर शर्मा कार से उतरे थे। दफ्तर में एक बार खलबली मच गई थी। कुछ लोग उनका स्वागत करने के लिये नीचे भागे थे। मैं अपने गैली-प्रूफ को पढ़ता रहा था। और महसूस करता रहा था कि रूसी टैंक कभी कश्मीर से नीचे भी उतर सकते हैं। कभी लद्दाख की ओर से हमारी सरहद पर भी गोली बरसा सकते हैं। मैं महसूस करता रहा था।

'सदस्यों के चहरे पर हड़बड़ाहट थी। एक भूचाल की तरह लखबीर शर्मा दफ्तर में आए थे। गैली पढ़ते हुए उन्होंने मुझे देखा था। मुझसे मजाक किया था, 'क्या दूतावास में शराब कम मिलने लगी है। कि साथी यह लेख बताता नहीं, आप निराश और कुण्ठित होते जा रहे हैं।' साथियों ने उन्हें खबर दी थी कि अनन्त चेकोस्लोवाकिया के मसले पर एक खुला बयान दे रहा है। ये एक लेखक का बयान माना जाएगा। हम इस पर एक नोट लिखेंगे और सफाई के तौर पर उसे छाप रहे हैं।

अनन्त ने गैली प्रूफ से आंख उठाई। उन लोगों को देखा। लोग लखबीर शर्मा को घेरकर खड़े थे। उसने कहा,'मैं, किसी सीमित वर्ग या गिरोह की ओर से वक्तव्य नहीं दे रहा हूं। मैं हिन्दुस्तान के जंगबाज कम्युनिस्ट की ओर से, अपनी नफरत जाहिर कर रहा हूं।

गैली-प्रूफ अनन्त ने लखबीर शर्मा की ओर बढ़ा दिया था। लखबीर ने उसे गौर से पढ़ा। उस पर नोट लिखा। लेख छपने से रोक दिया गया था।

'जंग' से अपने लेख को वापस लेकर अनन्त उन सारे दैनिक, साप्ताहिक अखबारों में दौड़ता रहा था। लोग मेरे शराबी चेहरे में छिपी पीड़ा को नहीं देख रहे थे।

अन्तरा ने अनन्त को पहली बार सहयोगी की तरह देखा और कहा, 'उस दिन तुम्हारी तरह आर.पी.डी. ने अपने 'लेबर मंथली' में जो दिमागी कशमकश महसूस की थी, वह शवयात्रा में शरीक होने की ही कशमकश थी। आर.पी.डी. ने कहा था, 'स्तालिन पर कीचड़ उछालना या थूकना सूरज पर थूकना है।' आज उन सारे चेहरों पर जिनकी चर्चा तुम अक्सर किया करते हो, मुझे उनके ही थूक के धब्बे नजर आ रहे हैं।

'धब्बे और भी हैं, लेकिन उन धब्बों पर अफसोस करना शायद तुम्हें या विराम को पसन्द न आए। शायद तुम्हारे लिए सोवियत दूतावास में काम करते हुए यह जरूरी भी न हो।'

जुलूस कोई बड़ा नहीं है। कुछ सोवियत दूतावास के लोग हैं। कुछ कर्मचारी, कुछ कम्युनिस्ट यूनियनों के सदस्य। और कुछ छात्र। अन्तरा, विराम के साथ लोगों से अलग भी है। और उनके साथ-साथ भी चल रही है।

विराम और अनन्त काफी देर तक अन्तरा की ही ओर देखते रहे। विराम ने कहा, 'अन्तरा, तुम आज अनीता लग रही हो। जब तुम आलोचना करती हो, लड़ती हो, उस समय तुम्हारे चेहरे पर अनीता मजूमदार का चेहरा उभर आता है। मैने उसे चारू मजूमदार के साथ एक बार देखा था। वह तुम्हारी तरह भरपूर कम्युनिस्ट रही। उस दिन जब अखबारों में बड़े-बड़े अक्षरों में एक खबर छपी थी, 'चारू मजूमदार का देहान्त' अनीता मेरे साथ थी। पिता की मौत का समाचार उसे अस्पताल में मिला था। और वह तुम्हारी ही तरह बेचैन थी। बौखलायी हुई थी। 56 वर्ष के हुए थे उसी दिन चारू मजूमदार।

अनन्त ने बीच में कहा, 'वह यह नहीं बता सका, आज वह भी 56 साल का हुआ है।' विराम सोचता रहा, 16 जुलाई को उन्हें गिरफ्तार उनके ही साथियों की गद्दारी की वजह से किया गया था। और 28 जुलाई को अखबारों में वह सुर्खी पढ़ने को मिली। 'मजूमदार को हृदय रोग'। उन्हें दमा है। पुलिस को कुछ चीजें उस कमरे में मिली थी। वहां आक्सीजन के काम आने वाले उपकरण बरामद किए गए थे। और 'पैथेड्रीन' इंजेक्शन की शीशियां मिली थीं। मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक और अध्यक्ष चारू मजूमदार को इस देश की सरकार ने गोली मारी या जहरीले इंजेक्शन दिए। इसकी कोई जानकारी कम्युनिस्ट दलों के पास नहीं है।

अन्तरा ने सफाई दी, 'सियालदह जेल में चारू मजूमदार की कोई रपट नहीं है। 16 जुलाई के बाद उन्हें किसी मजिस्ट्रेट के सामने कभी पेश नहीं किया गया! एकाएक तीन दिन पहले उनकी तबियत कैसे खराब हो गई? पुलिस, सदर मुकाम को ही इसकी खबर पहले कैसे मिली? और मजिस्ट्रेट ने एक सप्ताह तक चारू मजूमदार को पुलिस हिरासत में रखने का आदेश कैसे दिया?'

विराम ने बैचेनी से बताया था, 'चारू मजूमदार का पतला-दुबला शरीर एकाएक सूज क्यों गया था। और ये सारी सनसनीखेज खबरें, आखिर में समाचार की तरह, अस्पताल के उस कमरे में ही पुलिस ने क्यों तैयार कीं?'

अनीता उस दिन इसी तरह सवालिया निगाहों से विराम से बहुत कुछ पूछ रही थी। 21 जुलाई को पुलिस सदर मुकाम में सिलिगुड़ी से श्रीमती मजूमदार और उनके दो बच्चे क्यों बुलाए गए?

अनीता मजूमदार कलकत्ता में, मेडिकल कालेज में पढ़ती थी। हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के भी 56 वर्ष पूरे हो चुके थे। 1962 से 1973 तक हम दो लाइनों के संघर्ष से गुजर रहे थे। एक लाइन सी.पी.आई., सी.पी.एम. के गद्दारों की है जो पार्टी के भीतर आज भी कायम है। सत्ता के साथ भी है। और देश के साथ भी है। और देश के बाहर भी बरकरार है। और दूसरी लाइन सी.पी.एम. की है जिनका फैसला इस देश के नौकरशाहों के न्यायालय में नहीं होगा। इन्दिरा गांधी की बुजुर्आ सरकार के हाथों नहीं होगा।

इन्दिरा के गुण्डे, पुलिस महकमे में भरे हुए हैं। वर्ग-दुश्मनों के सफाए का अर्थ होता है, चारू मजूमदार का दिखाया हुआ रास्ता।

सिलीगुड़ी उनका घर है। हर बार अनीता से सवाल पूछते समय विराम अपने आपसे सवाल पूछने लगता। चारू मजूमदार का जन्म 1918 में सिलीगुड़ी में हुआ और मेरा जन्म 1950 में भभुआ में हुआ। चारू मजूमदार के पिता जमींदार थे। और मेरे पिता लखबीर शर्मा, जमींदार कम्युनिस्ट। 1936 में सिलीगुड़ी वायसु

हाई स्कूल में चारू मजूमदार प्रथम आए थे। मैं हाई स्कूल में पास हो गया था किसी तरह। और स्टूडेण्ट फेडरेशन का नेता बन गया था। चारू मजूमदार पबना के एडवर्ड कॉलेज में दाखिल हुए थे और मैंने विश्वविद्यालय में नाम लिखवाया था। पबना अब बंगलादेश में है और पटना बिहार में है, जहां अब जनक्रान्ति का दुश्मन जयप्रकाश, अजीबोगरीब क्रान्ति करना चाहता है। और मेरी या मेरे पिता की पार्टी उनके खिलाफ थी। मैं विश्वविद्यालय में पढ़ा हूं और वहां से भाग आया हूं या भगा दिया गया हूं। क्योंकि मुझ पर मेरे पिता की नहीं, चारू मजूमदार की छाया पड़ने लगी थी।

'कालेज छोड़कर चारू मजूमदार किसान आन्दोलन में कूद पड़े थे। जलपाईगुड़ी जिले का यह आन्दोलन उनके नेतृत्व में चलाया जाने वाला पहला क्रान्तिकारी आन्दोलन था। तिभागा जन-आन्दोलन में, तेलंगाना की दबी हुई क्रान्तिकारी शक्ति को, फिर से उसने संगठित किया था। आन्दोलन पुलिस ने कुचल दिया, लेकिन मजूमदार, पुलिस के कब्जे में नहीं आए। वह उस समय दोमुहानी में बंगाल दुआर्स रेलवे के मजदूरों को संगठित कर रहे थे। उनके गद्दार साथी उनकी ताकत से भय खाने लगे थे। वह इस बात की अफवाह फैलाने लगे थे कि दुआर्स के किसानों को उतावलेपन के साथ चारू मजूमदार जनमोर्चे पर या लोक-युद्ध में धकेल रहे हैं। आन्दोलन के दौरान पहली बार 12 साथियों की जानें गयी थीं। उनमें तुम्हारी अनीता की तरह जवान किसान औरतें भी थीं।

'चारू की कहानी लेनिन की कहानी नहीं है। चे ग्वारा की कहानी भी नहीं है। माओ त्से-तुङ की कहानी का अगला हिस्सा भी नहीं है।

'जिसे तुम हिन्दुस्तान की आजादी कहते हो। उसे कभी रणदिवे 'झूठी आजादी' कहा करते थे। पटेल के सैनिक सिपाही उसी समय 1947 में तेलंगाना में किसानों को गोली से भून रहे थे। और किसान उन पर जवाबी हमला कर रहे थे। 1948 में पहले पहल प्रगतिशील जवाहरलाल की सरकार ने हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबन्ध लगाया था। बहुत से कम्युनिस्ट साथियों के साथ सिलीगुड़ी में चारू मजूमदार भी गिरफ्तार किये जाते हैं। 1952 में वह बक्सर नजरबन्दी शिविर में रह भी रहे थे, जहां से उन्हें रिहा किया गया था।

विराम ने सफाई दी, 'सन् 52 से 62 तक वह सिलीगुड़ी के पिछड़े इलाके में किसानों को संगठित करते रहे। उन्हें जुझारू अगले दस्ते के लाल सिपाही बनाते रहे। 1962 में भारत ने, साम्राज्यवादियों के भड़काने पर, चीन पर हमला किया और चीन ने जवाबी कार्रवाई की। हिन्दुस्तान की सरकार ने चुन-चुनकर चीन समर्थक कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया। उनमें चारू मजूमदार भी थे।

अन्तरा ने अनन्त को देखा। वह एक दूसरा आदमी लगा उसे। अनन्त ने कहा, 1964 में मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी कायम की जाती है और एक साल में पार्टी मुक्तांचल तैयार करती है। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के लोग मिलकर उसी समय पश्चिम बंगाल में 1957 में संयुक्त मोर्चा बनाते हैं। चारू मजूमदार उस समय नक्सलबाड़ी क्षेत्र में किसानों के बीच काम कर रहे थे। उनके साथ उस समय कानू सान्याल थे। दार्जिलिंग जिला कमेटी के 60 सदस्य उनके साथ थे।

'यह दौर पार्टी के भीतर और बाहर गम्भीर भटकाव का दौर रहा था। अन्तरा। आन्ध्र में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेता नागी रेड्डी थे। श्रीकाकुलम किसान आन्दोलन पर उनका असर था।

'पर असीम चटर्जी और सन्तोष राणा, एम. एम. और शर्मा, ये कुछ ऐसे नाम हैं जो किसान आन्दोलन के इतिहास में शर्म के साथ याद किए जाएंगे। इनकी गद्दारी ने ही सरकार का हौसला बढ़ाया।' अन्तरा ने उसे देखा, उसे लगा अनन्त में एक दबी आशा अभी है। वह पूरी तरह निराश नहीं हुआ है।

विराम ने बात आगे बढ़ाते हुए दोनों को देखा और कहा, 'चारू मजूमदार को पकड़ने के लिये सरकार ने 10,000 रुपये का पुरस्कार घोषित किया था। आज भी हम सरकारी टुकड़ों या पुरस्कार के ही बल पर किसानों और मजदूरों से दूर फेंके या किए जा रहे हैं।'

अन्तरा, इस शव-यात्रा में भी अपनी हंसी नहीं रोक सकी। वह मुस्करायी और उसकी मुस्कराहट पर शव-यात्रा में शरीक कम्युनिस्टों ने उसकी ओर देखा और अफसोस किया।

अफसोस अन्तरा के सामने किसी ने नहीं जाहिर किया। न भूपति शर्मा ने,जो उसके साथ-साथ चलता रहा। न कुचलू ने, जो अपने दफ्तर की ही सहयोगी लड़की के साथ मशगूल है। सिर्फ अनन्त ने खुशी जाहिर की कि अन्तरा कम से कम कम्युनिस्टों की बेहूदगियों पर मुस्करा तो सकती है।

अन्तरा ने किसी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

वही शव-यात्रा, अन्ततः शोक-सभा में बदल गई। और लोग अपने-अपने दल में बिखर गए।

अन्तरा ने विराम के साथ बैठते हुए कहा, 'कल तुम 'जंग' के विशेष संवाददाता बना दिए जाओगे और अनन्त गणपति की जगह पर सोवियात दूतावास में बैठ जाएगा। फिर एक दिन गणपति की तरह मुझे पहली बार महसूस होगा कि मैं कमजोर हो गयी हूं। गणपति ने 60 वर्ष की उम्र में जो समझा था, जो धक्का दिल में महसूस किया, मैं उसे 30 वर्ष की उम्र में महसूस कर रही हूं। और तुम 26 वर्ष की उम्र में महसूस कर सकते हो। पर यह धक्का केवल दिल के दौरे का धक्का नहीं है, जिसके बाद तुम्हें सरकारी अस्पताल में पहुंचाया जाएगा या, दफना दिया जाएगा।'

अनन्त ने कहा, 'अन्तरा कर्मठ कामरेडों को यह इतिहास की भूल का भी धक्का हमारी काहिली, और जन-विरोधी समझ का धक्का लगेगा जिसका अर्थ हम रोज समझ रहे हैं। या तुम्हारी तरह तिथियों और चेहरों और मुद्दों के रूप में उसे याद करते हैं सिलसिलेवार और अफसोस जाहिर करते हैं।

'पुरस्कार लेते समय गद्दार कम्युनिस्ट भी सत्ता की पांत में नाम कमाता है। काले धन का सेठ भी नाम कमाता है। दोनों यह महसूस नहीं करते कि वह जनता के हत्यारे हैं। क्योंकि उनके चेहरे पर हत्या का इतिहास नहीं लिखा रहता। जिस इतिहास की तुमने चारू मजूमदार के सिलसिले में चर्चा की है या जिसकी चर्चा कम्युनिस्ट नेताओं पर विराम करता है। बेगम जहीर या कोई भी कल का भूला हुआ कम्युनिस्ट जिसे मुक्तिबोध 'भूतपूर्व विद्रोही' कहते थे—आज सरकारी महकमे से, सरकारी व्यवस्था के बीच से आकर प्रो. नगीना सिंह या प्रो. नामजोशी की तरह हमें एक झूठा इतिहास पढ़ा जाएगा। और हम खामोशी से उनके चेहरे को देखते रह जाएंगे। आज तक देखते रह भी हैं।

'अनन्त शराब पीकर फिर किसी घर में रात भर दंगा मचाएगा और सुबह से गालियां बकना शुरू करेगा और शाम तक कम्युनिस्ट इलाके में शराब के नये अड्डे तलाश करेगा। होगा यही कि निराशा के एक दौर से निकलकर, हम दूसरे दौर में गुजरेंगे और हमारे अन्तरविरोध, हमारे सीने में सड़ते रहेंगे।

गणपति ने अपनी कमजोरियों को इसी तरह महसूस किया था। वह दफ्तर से उठा था और आरामकुर्सी पर गिर गया था। उसके साथ 60 वर्ष का कम्युनिस्ट इतिहास दिल में दर्द महसूस कर रहा था। उसके बैग में उस दिन बहुत-सी चीजें मिली थीं। पत्नी के नाम एक पत्र था, जो अपनी जायदाद के बंटवारे के लिए पटना गयी हुई थी। बेटे के नाम कुछ हिदायतें थीं। और कुछ लोगों के नाम की जगह केवल 'क' था। दूसरे का 'ज'। एक आखिरी लेख था। 'जंग' के लिए। यह सब उसकी मौत के बाद साथियों ने उसके बैग की तलाशी के बाद निकाला था।

(शेष पृष्ठ 60 पर)

काजी नजरुल इस्लाम की जन्मशती के अवसर पर

भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम

विष्णुचन्द्र शर्मा

I. नजरुल और निराला

नजरुल (24 मई, 1899) जब 6 वर्ष के थे, उस समय देश की राजनीति ''क्रान्ति के सबक'' की पहली मंजिल तय कर रही थी। देश की जनता के अन्दर ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी भावना जोर पकड़ती जा रही थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि वाइसराय' के आर्शीवाद के साथ हुआ और उसका नेतृत्व भी बड़े दलाल बुर्जुआ वर्ग के हाथ में बना रहा।

''रूस-जापान युद्ध और रूसी क्रान्ति ने हिन्दुस्तान के निवासियों की साम्राज्यवाद विरोधी भावना को बल दिया और 1905 में वाइसराय लार्ड कर्जन ने बंग-भंग कानून पास कर बड़े साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का सामान जुटाया। लार्ड कर्जन ने 'फूट डालो और राज करो' की पुरानी ब्रिटिश नीति के अनुसार बंगाल के दो टुकड़े कर हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाने की चाल चली थी। पर उसकी इस घिनौनी चाल का परिणाम उल्टा हुआ। इस बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के साथ स्वदेशी और स्वराज आन्दोलन चल पड़े। ब्रिटिश माल का बायकाट होने लगा। ब्रिटिश माल बेचने वाली दुकानों पर पिकेटिंग होने लगी और उसकी होली जलायी जाने लगी। 1906 में यह आन्दोलन और भी तेज हुआ। पंजाब के रावलपिण्डी अंचल और दक्खिन के तूतीकोरन अंचल में बड़ी अशान्ति फैली। आखिर में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को पीछे हटना पड़ा और बंग-भंग योजना को वापस लेना पड़ा।

''1908 में बालगंगाधर तिलक को दण्ड के खिलाफ बम्बई के मजदूरों ने जबर्दस्त हड़ताल की। यह हड़ताल भारत के साम्राज्य-वाद विरोधी संघर्ष में अपना अलग स्थान रखती है।''[1] लेनिन ने (1908 में) इस पहली बड़ी राजनीतिक हड़ताल का अभिनन्दन किया था और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के पतन की घोषणा की थी।

–2–

नजरुल की कविता (1920) और भारतीय साम्यवादी दल (1920) का उदय एक साथ होता है। दोनों क्रान्ति के तीन सबक सिखाते हैं : साम्राज्यवाद का विरोध, हिन्दू-मुस्लिम ही नहीं गरीब जनता की अटूट एकता, और मजदूरों, छात्रों, किसानों, लेखकों में राजनीतिक चेतना का उदय। क्रान्ति के तीन बुनियादी सबक। साम्यवादी दल के नेतृत्व में उसके लेखक, मजदूर और किसान जनता की जीत की पहली मंजिल हैं। इस मंजिल पर बहस करने से पहले हमें यह मान लेना चाहिए कि नजरुल ''युवा-वाणी'' के ओजस्वी कवि[2] हैं और युवा चेतना उस समय मजदूर वर्ग की राजनीति से लैस हो चुकी थी। नजरुल के ''मार्चिंग सांग'' एक साथ छात्रों और मजदूरों में लोकप्रिय हो रहे थे। यही समय चीन के छात्र आन्दोलन का था।

4 मई 1919 को वहां के क्रान्तिकारी संघर्ष में विशाल सैनिक दस्ते के रूप में छात्र शरीक हुए थे। वैसी ''सांस्कृतिक सेना'' 1919 में जालियांवाला हत्याकांड के विरोध में नजरुल ने अपनी कविताओं से तैयार की थी। नजरुल की युवा सेना ''रणभेरी'' बजा रही थी।

''असहाय राष्ट्र'' के कर्णधार को नजरुल जनता की ओर से सतर्क कर रहे थे कि इस जन-संघर्ष के अभियान में उसकी भी परीक्षा होगी। 'कर्णधार सावधान' कविता में देश की जनता असहाय नहीं है, वह ''युग-युगान्तर से संचित व्यथा का अभियान'' है। नजरुल की कविता यह सबक सिखाती है कि जनता का अभियान ही सार्थक जनवादी कदम होता है। सार्थक जनवादी कवि ही देश के सामने अपनी ''कैफियत'' देता है। नजरुल ने 'मेरी कैफियत' कविता में लिखा है :

जो लोग तैंतीस करोड़ भूखों का कौर
छीन कर खा रहे हैं,
मेरे रक्त से उनके सर्वनाश की कहानी
लिखी जा सके।

यह 'सर्वनाश की कहानी' नजरुल के समय के नये भारत के उदय की ही आत्मकथा है। साम्राज्यवाद, सामंतवाद और दलाल पूंजीवाद के हिंसक जंतुओं के खिलाफ खड़ी होने वाली भारतीय जनता की यह जय यात्रा है। 'हिंसक जन्तुओं के घातक पंजों और कराल जबड़ों के बीच' जागते रहना उस युग की राजनीति की निरुद्देश्य पुकार नहीं थीं। यह पुकार दुश्मन के खिलाफ तीखी नफरत पैदा करती है। यह पुकार अतीत से नफरत करना सिखाती है और अच्छा क्रान्तिकारी बनने का दरवाजा खोलती है। 'विद्रोही' (1922) कविता का 'मैं' एक वास्तविक चरित्र है जो समाजवाद के पथ पर सक्रिय है, रहता है। नजरुल की कविता सृष्टि भी रचती है और ध्वंस भी करती है :

मेरे एक हाथ में टेढ़े बांस की वंशी है,
और दूसरे हाथ में रण-भेरी।
मैं नीलकंठ हूं, मैंने वेदना के समुद्र से
मन्थन-विषपान किया है।

यह ''मैं'' अहिंसा, शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ उस समय का सजग भारतवर्ष था। साम्राज्यवादी निराशा के बीच यही सही समाजवादी विकल्प था। नजरुल हमेशा जनता से सीखते रहे हैं। उनकी कविताएं क्रान्तिकारी देश का सपना है। उनकी कविता पुराने समाज

1. अयोध्या सिंह, 'साम्राज्यवाद का उदय और अस्त', पृ. 41
2. डा. रामविलास शर्मा का लेख जो 1935 में छपा था

को तोड़ती है और नया समाज बनाती है।

3

हिन्दी में डा. रामविलास शर्मा ने यह विवाद नये सिरे से शुरू किया है कि निराला (जन्म: 21 फरवरी, 1899, मृत्यु: 15 अक्टूबर 1960) ''समाजवादी'' हैं और नजरुल ''अराजकतावादी'' जाहिर है कि ये दो बिल्कुल भिन्न सिद्वान्त हैं। एक-दूसरे के विरोधी। समाजवाद और अराजकतावाद में फर्क केवल अमली नीति या कार्यनीति का नहीं है। सुधारवाद और अराजकतावाद मार्क्सवाद के दो विरोधी खतरनाक दृष्टिकोण हैं।

साम्राज्यवादी-सरकार से लड़ते समय कांग्रेस दल ''वैधानिक सुधार'' की मांग पेश करता रहा। नजरुल ने इसे ''आधे नेता'' के सुधारवाद की संज्ञा दी है। नजरुल ने कांग्रेस की विचारधारा का विरोध इस आधार पर किया था कि यह दल समाजवाद को एक बहुत लम्बी मंजिल, एक बहुत दूर की बात समझ रहा था, उससे अधिक कुछ नहीं।

कांग्रेस के ''सुधारवाद की यह खूबी है कि वह समाजवादी क्रान्ति को नहीं मानता है इसके बावजूद शांतिपूर्ण उपायों से समाजवाद कायम करने का'' छल वह वर्ग 1935 से आजादी के बाद तक जनता में रचता रहा है। इसीलिए 1947 की आजादी दरअसल एक अर्द्ध सामंती और अर्द्ध औपनिवेशक सत्ता की घोषणा मात्र साबित हुई। नजरुल ने ''मेरी कैफियत'' में पूंजीवादी ''स्वराज्य'' पर तीखा व्यंग्य किया है :

मैं रोता हुआ कहता हूं :
भगवान, तुम आज भी हो क्या ?
तब क्यों उन लोगों के गाल
कोलतार और चूने से पुत नहीं जाते
जो इस बच्चे का रक्त शोषण कर रहे हैं ?
हम जानते हैं कि हम स्वराज्य लेने गए थे
पर लाए हैं 'जला बैंगन या कददू।'

कांग्रेस दल के पूंजीवादी प्रजातंत्र की बुनियाद में ही समाजवादी प्रजातंत्र के विरोध का खतरा रहा है। नजरुल के समय की राजनीति की दूसरी मंजिल है : वर्ग संघर्ष की दिशा में खुला मोर्चा। एक विचारधारा वर्ग -संघर्ष को तेज कर रही थी। दूसरी वर्ग-सहयोग का प्रतिपादन कर रही थीं। नजरुल का 'विद्रोह' समाजवाद को मजबूत बनाता है और व्यक्तिवाद का खंडन करता है। संघर्ष के दौरान नजरुल अपनी मध्यवर्गीय हिचक, डर और स्वार्थ पर जीत हासिल कर नया आदमी बन जाते हैं। दूसरे महायुद्ध में नजरुल के सामने अराजकतावादी प्रवृत्ति के तीन झंडे थे:

हिटलर का 'आर्यवाद', गांधी का 'रामराज्य' और नेहरू का 'मध्यमार्ग'।

अलग-अलग झंडे देश की राजनीति में लहरा रहे थे। तीनों एक बात पर एकमत थे कि जब तक व्यक्ति को स्वतंत्रता नहीं मिलती, तब तक जनता को स्वतंत्रता मिलना असंभव है। उस समय हिटलर ने फासीवाद, गांधी ने अहिंसावाद और नेहरू ने वर्ग-सहयोग या मिश्रित अर्थव्यवस्था का नारा दिया था। तीनों की चेतना की नींव में अराजकतावाद का एक ही नारा अलग-अलग सिद्धान्तों की भूमिका में खड़ा हो रहा था। तीनों का नारा था : ''सब कुछ व्यक्ति के वास्ते होना चाहिए।''

तीनों झंडों से ऊंचा नजरुल की जनता के समाजवादी संघर्ष का झंडा था, जिसे जनता के साथ नजरुल उठाये हुए थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था। पार्टी ने 1922 से खुले तौर पर इस देश में 'व्यक्ति की स्वाधीनता' के अराकतावादी नारे का विराध किया था। नजरुल 1922 से ही भारतीय 'साम्यवादी दल' के संस्थापक सदस्य रहे हैं। मार्क्सवाद की नींव व्यक्ति नहीं,जनता होती है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुसार जनता की स्वाधीनता व्यक्ति की स्वाधीनता की पहली और सबसे बड़ी शर्त है। यानी मार्क्सवाद का कहना है जब तक जनता को स्वतंत्रता नहीं मिलती, तब तक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलना असम्भव है। अत: इस देश में मार्क्सवाद का नारा रहा है: ''सब कुछ जनता के वास्ते होना चाहिए।''[1]

4

नजरुल और निराला दोनों बड़े व्यक्ति भी हैं और दोनों ने व्यापक जनता का आह्वान किया है। निराला ''मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व'' का समर्थन नहीं करते हैं और नजरुल मजदूर-किसान वर्ग के अधिनायकत्व का समर्थन करते हैं। दोनों कवियों की कविता में जीवन का विनाश और सृजन, नवीन और प्राचीन, विकासमान और मरणोन्मुख, क्रान्ति और क्रान्तिविरोध का परस्पर विरोधी तत्व मौजूद रहा है। ''द्वन्द्वात्मक प्रणाली का कहना है कि जीवन जैसा है, हमें वैसा ही उसे समझना चाहिए।''

निराला की विचारधारा और कला का विवेचन करने के बहाने डा. राम विलास शर्मा ने नये मानवतावाद के अनेक अन्तर्विरोधों की दार्शनिक मान्यताओं को कड़ाई से समझाने का दावा किया है। उस युग की राजनीति के अन्तरविरोधों को समझाते हुए डा. शर्मा ने लिखा है : ''निराला ने ब्रिटिश सुधारों का विरोध किया, पूर्ण स्वाधीनता की मांग का समर्थन किया, दमन की बर्बरता का चित्र खींचकर जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। अंग्रेजों ने अहिंसक सत्याग्रहियों पर डंडे बरसाए, क्रान्तिकारियों को फांसी दी, किसानों और मजदूरों का संगठन करने वाले कम्युनिस्ट नेताओं को कठिन कारावास की लम्बी सजाएं दीं।

''ब्रिटिश अन्याय के विरुद्ध यतीन्द्रनाथ दास ने अनशन करते हुए जब प्राण दिए, निराला ने लिखा : भारत ने जितना सहना था, सह लिया वह समय निकल गया,जब खिलौना पाकर भारत बहल जाता था। देश समझ गया कि हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम न चलेगा। भारत में एक नयी लहर पैदा हो गई है। नवयुवकों ने रण-भेरी बजा दी है।''[2]

क्या नवयुवकों ने देश में जो ''रणभेरी'' बजाई थी उसके विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम का नाम निराला या डा. रामविलास शर्मा नहीं जानते हैं ? क्या 1920 से 1942 तक काजी नजरुल इस्लाम की देश्व्यापी लोकप्रियता पर डा. शर्मा के मन में संदेह है ? 'नवयुग' दैनिक की राजनीतिक टिप्पणियां, 'धूमकेतु' और 'लांगल' पत्र-पत्रिकाओं की मजदूर-कृषक राजनीति की चेतना को क्या कलकत्ता शहर में रहने वाले 'मतवाला' के सम्पादक निराला नहीं जानते थे ?

निराला को कम्युनिस्ट पार्टी के निकट सिद्व करने के लिए डा. रामविलास शर्मा का नया दावा इस प्रकार है: ''निराला और क्रान्तिकारियों के दृष्टिकोण में अन्तर यह था कि निराला दो-चार अंग्रेजों या उनके देशी सहायकों को मारने के बदले किसानों को संगठित करके उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन में शामिल करना ज्यादा आवश्यक समझते थे। निराला को कांग्रेस से सहानुभूति थी, जहां कांग्रेस जमींदारों से समझौता करती थीं, वह उसकी आलोचना करते थे। निराला को कम्युनिस्ट पार्टी से सहानुभूति ही नहीं, आशा

1. स्तालिन: अराकतावाद या समाजवाद
2. सुधा, नव.1929 : संपादकीय टिप्पणी, 'निराला की साहित्य साधना' भाग 2 से उद्धृत, पृ. 15

भी थी कि वह किसानों का संगठन करके जमींदारों और पुलिस का आतंक खत्म करेगी। उनकी यह आशा पूरी न हुई। मेरठ षडयंत्र को लेकर एक की दो कम्युनिस्ट पार्टियां बनने तक मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी नेताओं ने असंख्य पृष्ठ इस बहस को लेकर रंगे हैं कि भारतीय पूंजीपतियों में कब और कितने साम्राज्यवाद से मिल गये। क्रान्तिकारी नेताओं से कौन कहे कि प्रेमचंद और निराला भी कुछ ऐसा लिख गये हैं जिससे वे राजनीति में कुछ सीख सकते हैं।''[1]

5

डा. रामविलास शर्मा एक की दो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों की संशोधनवादी विचारधारा और उसके वर्ग-चरित्र का विश्लेषण नहीं करते हैं। वह किसान राजनीति के क्रान्तिकारी इतिहास की भी उपेक्षा करते हैं। शुरू से ही डा. रामविलास शर्मा इसी गलत विचारधारा के समर्थक रहे हैं । 'निराला की साहित्य साधना' पुस्तक में प्रच्छन्न रूप से वामपंथी नेताओं का विरोध है। नजरुल की विरोधी रचनाओं की गलत व्याख्या है। निराला के बाद समर्थ मार्क्सवादी कवि मुक्तिबोध पर तीखे व्यंग्य किये गये हैं। निराला ने जवाहर लाल नेहरू और महात्मा गांधी —उस युग के दो नेताओं से—किन राजनीतिक मुददों पर बहस की थी यह भी वकील-आलोचक डा. रामविलास शर्मा नहीं बता सके हैं।

नजरुल की क्रांतिकारी भूमिका यह रही है कि उन्हें राष्ट्रवादी ए.के. फजलुल हक जैसे नेता, मोहितलाल मजुमदार जैसे ढुलमुल आलोचक, महात्मा गांधी जैसे अहिंसक नेता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खुला विरोध करना पड़ा। मेरठ षड्यंत्र केस के कम्युनिस्ट नेता स्व. मुजफ्फर अहमद नजरुल के मित्र और जीवनी-लेखक थे। 'धूमकेतु' में प्रकाशित नजरुल की कविता 'आनन्दमयी का आगमन' पर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरप्तार कर लिया था। जेल में नजरुल ने चालीस दिन का अनशन किया था। एक वर्ष की कड़ी सजा उन्हें दी गई थीं। समय-समय पर समाजवादी विचारधारा की वजह से नजरुल की 'अग्निवीणा', 'युगवाणी', 'रुद्रमंगल', 'साम्यवादी' और 'सर्वहारा' जैसी पुस्तकें जब्त कर ली गई थीं। इसके बावजूद 'अग्निवीणा' जैसी पुस्तक का गैर-कानूनी प्रकाशन जनता द्वारा किया गया था।

मुझे नहीं पता कि निराला की ''किसान राजनीति'' की कितनी टिप्पणियों को लेकर 'सुधा' पर सरकार की कोप-दृष्टि पड़ी थीं। जहां तक हमारी जानकारी है, निराला की विचारधारा बंगला भाषा के जनयुग यानी 'कल्लोल युग' की प्रगतिशील विचारधारा के अधिक निकट पड़ती है। उस युग के ज्यादातर लेखक रूस की अक्तूबर क्रान्ति और गोर्की जैसे क्रान्तिकारी लेखकों से प्रेरणा ले रहे थे बंगला कथा में शरतचन्द्र और कविता में नजरुल 'कल्लोल युग' की क्रान्तिकारी चेतना के प्रमुख थे। रवीन्द्र-युग के अन्त और उनकी आदर्शवादी विचारधारा के बाहर नजरुल भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के अत्यन्त सक्रिय, अत्यन्त ईमानदार और अत्यन्त जागरूक कवि रहे हैं।

इसके विपरीत डा. रामविलास शर्मा निराला की किसान क्रान्ति के दस्तावेज के अभाव में तर्क देते हैं—''गांधीवाद से असन्तुष्ट होकर अनेक युवकों ने आतंकवाद का मार्ग अपनाया था। गांधीवाद से निराला के दृष्टिकोण का भेद लक्ष्य करते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निराला का दृष्टिकोण आतंकवाद से भिन्न, व्यापक और मौलिक रूप से क्रान्तिकारी है। निराला धार्मिक भेदभाव से लेकर वर्ग भेद तक मिटाने के पक्षपाती हैं और उनकी इस बहुमुखी क्रान्ति की धुरी हैं किसान।

''गांधी जी स्वाधीनता आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार थे किन्तु सामन्तविरोधी किसान संघर्ष चलाकर अंग्रेजी राज का सामाजिक आधार खत्म करने के पक्ष में वह नहीं थे। निराला और गांधी की राजनीति में यह मौलिक भेद था।''

निराला की मौलिकता की खोज करते समय डा. शर्मा को पिछले पचास वर्षों के किसान आन्दोलन, मजदूरों की क्रान्तिकारी भूमिका और प्रगतिशील मध्यवर्ग के इतिहास की ओर देखने की जरूरत नहीं पड़ी। निराला का व्यक्ति कांग्रेस से सहानुभूति और कम्युनिस्ट पार्टी से आशा लगाकर संशोधनवाद से समझौता करता है। यह मौलिक आत्मसंतोष डा. शर्मा और निराला के क्रान्ति के दिमागी विकास की जानकारी देते हैं। एक मार्क्सवादी यह जानता है कि ''आत्म-संतोष का दूसरा नाम संशोधनवाद है।'' मार्क्सवाद का इतिहास बताता है कि ''अंधेरे में जो प्रकाश दिखा पाते हैं, वे ही सच्चे क्रान्तिकारी हैं और यही पार्टी की सचेतन भूमिका इस देश में रही है।'' भगतसिंह की कुर्बानी और किसान क्रान्ति के हथियारबंद संघर्ष को डा.शर्मा देश का व्यापक और मौलिक इतिहास नहीं मानते हैं। वर्ग-संघर्ष की अधूरी जानकारी देकर क्या डा. शर्मा यह बताना चाहते हैं कि जातिवाद, सामन्तवाद, वर्ण व्यवस्था, आर्थिक पराधीनता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय भाषा की जरूरत, पुराने ढंग की फ्रांस की सामन्त विरोधी क्रान्ति, दूसरे महायुद्ध के बाद पूंजीवाद साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति के निराला अकेले योद्धा कवि हैं? नजरुल ने इन मुद्दों पर कविताएं लिखी हैं। बहस में खुलकर नजरुल ने हिस्सा लिया है। वह समाजवाद के सक्रिय मोर्चे पर सैनिक कवि की तरह लम्बे समय तक लड़ते रहे हैं। नजरुल के सैनिक कवि की भूमिका यह सबक सिखाती है कि जनता क्रान्ति चाहती है और उसका कवि क्रान्ति में कठिन और कठोर कोशिश करता है।

डा. रामविलास शर्मा ने किसानों की क्रान्ति का देश में व्यापक सर्वेक्षण करने के बदले कमजोर क्रान्ति का एक बड़ा शस्त्रागार तैयार किया है। इससे उस युग के क्रान्तिकारियों, आतंकवादियों की राजनीति और उनके संगठनों पर देशवासियों के मन में जानबूझकर आशंकाएं पैदा की गई हैं। नजरुल के सम-सामयिक बालकृष्ण 'नवीन' और निराला हैं। 'नवीन' की 'मस्ती' और उनकी 'दीवानों की टोली' अराजक और पतनशील 'राजनीतिक रोमान्स' का अच्छा और दिलचस्प पहलू है। निराला राजनीतिक रोमान्स की मस्ती को एक सही दिशा देते हैं। यह दिशा नजरुल की कोशिशों का द्वंद्वात्मक इतिहास है। निराला नजरुल का ही विकास हैं। विमल मित्र ने अपने बड़े उपन्यास 'खरीदी कौड़ियों के मोल' में उसी युग की कहानी सुनाई है। उपन्यास का नायक दीपंकर 'प्रकृत मानव' को ढूंढने के बहाने जीवन से ही भटक जाता है। दीपंकर का साथी है किरण। आजादी मिलने के पहले तक किरण आतंकवादी रहता है। उसके बाद उसका मोहभंग होता है।

किरण एक हद तक नजरुल की राजनीति का प्रतिनिधि चरित्र है।

6

नजरुल की राजनीति और उनका जीवन अभी तक खोज का विषय है। नजरुल के बालसखा स्व. शैलजानंद, उनके सहयोगियों में खान मुइन्नुदीन और अब्दुल अजीज अल-अमान और उनके आत्मीय व्यक्तियों में स्व. मुजफ्फर अहमद ने उनके जीवन को जैसा देखा है उससे नजरुल के जीवन को समझने की मैंने कोशिश की है। नजरुल की यह जीवनी मेरी समझ का रेखांकन है। नजरुल के कुछ संस्मरणों का पढ़कर मुझे यह लगा कि

1.वसुधा चक्रवर्ती की पुस्तक काजी नजरुल इस्लाम के पृ. 33 से उदधृत

2. वही, पृ 34

वह घोर आत्मकेन्द्रित व्यक्ति हैं। कुछ अफवाहों की पहचान करते हुए मुझे लगा कि नजरुल सामन्ती सभ्यता के एक अराजक व्यक्ति हैं। कपोल-कल्पनाओं के आधार पर कुछ लेखकों ने नजरुल को 'पुराचरित्र' की तरह फैलाया भी है। कुछ प्रसंगों की रोशनी में यह निष्कर्ष नजरुल के जीवन से निकाला गया है कि वह अराजनीतिक मिजाज के बड़बोले आदमी रहे हैं। अफवाहों के जरिये निराला को भी हम काफी समय तक इसी अंदाज से याद करते रहे हैं।

शरतचंद्र के जीवनी लेखक विष्णु प्रभाकर 'आवारा मसीहा' में शरतचन्द्र की विचारधारा के बुनियादी संघर्ष को न समझ पाने के कारण दिमागी 'रोमांटिक झूठ' या भ्रम के शिकार होते हैं। वैज्ञानिक विचारधारा व विश्लेषण के अभाव में कलम का सिपाही के जीवनी लेखक अमृतराय और विष्णु प्रभाकर शरत या प्रेमचंन्द को आधा मसीहा और आधा इन्सान बनाकर पेश करते हैं। हमारी आधुनिक सभ्यता में आर्थिक और यौन भूख, भयानक विषमता भरा मध्यवर्गीय जीवन, इंसान की अकेली अथाह बेचैनी, लेखक की सड़क पर आने की अनिवार्यता, पूंजीवादी सत्ता का भ्रम, व्यवस्था का वर्ग चरित्र और उसमें आम इन्सान के मानवीय प्रेम और मृत्यु जैसे सवाल गलत रुझान के कारण जीवनी लेखकों के मन में अनुत्तरित रह जाते हैं। निराला के जीवनी लेखक डा. राम विलास शर्मा ने पहली बार हिन्दी में एक पूरे इन्सान की तस्वीर पेश की है।

जीवन के बुनियादी सवालों से उलझते समय आज का जीवनी लेखक या तो काल्पनिक समाधान में मूल लेखक को अटका रखता है या गांधीवाद या काल्पनिक समाजवाद की मान्यताओं में फंसे हुए लेखक कामयाबी हासिल नहीं कर पाते। "कोई आदमी किसी भी चीज को सिर्फ तभी पकड़ सकता है, जब उसकी गिरफ्त मजबूत हो, और उसमें वह जरा भी ढील न आने दे। मजबूत से न पकड़ना बिलकुल न पकड़ने के बराबर है। यह स्वाभाविक है कि खुली हथेली से किसी चीज को नहीं पकड़ा जा सकता है।"[1] मूल लेखक के मानवीय अन्तरविरोधों को 'बिलकुल न पकड़ने' के कारण आज का जीवनी लेखक अक्सर भटक जाता रहा है। यह खतरा मेरे सामने भी रहा है। जीवन को समझने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही लेखक को सार्थक बनाता है अन्यथा निरर्थक बहस में वह खुद भी भटक जाता है और मूल -लेखक को भी डुबो देता है।

नजरुल की कविताएं और अलग -अलग प्रसंगों पर लिखी बंगला भाषा की जीवनियों को पढ़ते समय एक "सच्चाई" मेरे मन में रही है कि घटना जब घट जाती है, तब हम उसे जान पाते हैं, लेकिन यह घटना घटने के पीछे कितना दु:ख कितने आंसू, कितनी वीरता भरी कहानियां छिपी हैं, वह तत्काल नहीं जान पाते।। राहुल सांकृत्यायन और निराला के जीवन-संघर्ष की तरह नजरुल का जीवन भी अपने पाठकों के सामने एक मार्मिक चोट या एक असफल चोट की तरह दिल में धंसता रहता हैं।

डा. रामविलास शर्मा लम्बे समय तक निराला के निकट रहे हैं। अमृतराय प्रेमचंन्द के पुत्र हैं। शरतचंन्द्र पर विष्णु प्रभाकर ने काफी समय तक काम किया है मैंने नजरुल को जब देखा था वह खोये हुए थे। मैं सोचता रहा था : इस दुनिया में दो किस्म के लोग हैं। एक किस्म के लोग बाधा देखकर सहायता के लिए दूसरों के पास दौड़ जाते हैं, ये सड़े-गले हैं, पुराने हैं, मरे हुए हैं। अन्य दूसरे किस्म के आदमी हैं जो बाधा देखकर सहायता के लिए दूसरों के पास दौड़ नहीं जाते, साहस के साथ उसका मुकाबला करने के लिए अड़ जाते हैं, ये जिन्दा हैं, असली हैं।

राहुल, नजरुल, प्रेमचंन्द, शरतचंन्द्र, निराला हमारे जातीय इतिहास के असली चरित्र हैं। उनका लेखन और जीवन संघर्ष देश का जिन्दा प्रवाह है, जो हमारे दिलों में ताकत, हौसला और अजीब किस्म की बेचैनी पैदा करता है। नजरुल मेरे लिए निराला की तरह एक सच्चे क्रान्तिकारी हैं: दोनों की रचनाएं उनके युग की विस्फोटक शक्ति रही हैं। जो आज हमारे सामने चुनौती बनकर खड़ी है। करो या मरो। करने का का अर्थ है : मजदूर और गरीब-भूमिहीन किसानों के नेतृत्व की स्थापना करना। यह नजरुल के बाद की सचेतन भूमिका है जिसे हमारे युग को पूरा करना है।

नजरुल दूसरे महायुद्ध के बाद से पूरी तरह से मूक हैं अब वह स्वतंत्र भारत के नहीं बंगला देश के नागरिक हैं। नजरुल 1942 से मूक हैं पर उनका लक्ष्य दो महायुद्वों के बीच सशक्त हुआ है। "दूसरे विश्वयुद्व के बाद के युग में दुनिया में दो घटनाएं घटीं। एक ओर, जैसे आतंकित फासिस्ट ताकतों की हार का नंगा रूप लोगों के सामने स्पष्ट हुआ, दूसरी ओर वैसे ही स्तालिन के नेतृत्व में विश्व समाजवादी राज्य-व्यवस्था ने लोगों के मन में भरोसा पैदा किया। फलस्वरूप एक विश्वव्यापी स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी सैलाब दिखाई दिया।" नजरुल क्रान्तिकारी सैलाब की सही दिशा है। आज हम जिसे तीसरी दुनिया कहते हैं, वह नजरुल के अन्तरराष्ट्रीयतावाद की तीसरी मंजिल है। नजरुल तीसरी दुनिया के अन्तरराष्ट्रीयतावादी समाजवादी संघर्ष के ओजस्वी कवि हैं।

जो भी दोस्त हैं वे संघर्ष तेज होने पर हताश नहीं हुए हैं। प्रकाशन का काम भी आज के समय का ही काम है। "छोटे-छोटे संघर्षों के दौरान अपनी कमजोरियों पर काबू पाकर ही आदमी बड़े संघर्षों की ओर कदम बढ़ा सकता है। इसलिए लगे रहने का मतलब ही है जीत।"

1.माओ त्से-तुङ "पार्टी के भीतर गलत विचारों को सुधारने के बारे में" (दिसम्बर 1929) संकलित रचनाएं 1

II. आखिरी पन्ना

77 वर्ष का है युवा-वृद्ध कवि नजरुल। 1975 की जुलाई से वह ढाका के पोस्ट ग्रेजुएट हास्पिटल में पड़ा है। धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है।

धीरे-धीरे पाकिस्तान, भारत और बंगलादेश में लोगों के सीनों में अपने प्रिय विद्रोही कवि की याद कौंध रही है।

नजरुल के तीन बच्चों में से एक के अलावा सब उससे विदा ले चुके हैं एक दिन अखबार में पढ़ा : अनिरुद्ध इस्लाम नहीं रहे। एक दिन नजरुल ने बड़ी पीड़ा से बुलबुल को आखिरी विदा दी थी। एक दिन प्रमिला नजरुल को विदा समय नजरुल फटी-फटी आंखों से रोता रहा था। चुरूलिया गांव में एक कतरा जमीन उसके साथियों ने उसके लिए रख छोड़ी थी। आज नजरुल का एकमात्र पुत्र सव्यसाची इस्लाम चुरूलिया गांव में खड़ा है। क्या वह मेरी ही तरह "विषेर बॉशी" संग्रह की "मरन

वरण'' कविता गुनगुना रहा है :

एसो एसो ओगो मरन!
एई मरन-भीतु मानुष-मेषेर भय
करोगो हरन!
ना बेरियेई पथे आरा पथेर भये घरे
बन्ध-करा अन्धकरारे मरार आगेई मरे,
ता-ताथे-थे ता-ता थे-थे तादेर बुकेर परे
भीम रुद्रताले नाचूक तोमार
भांगन भराचरन।।
एईशेषेर माझेई अषेष तुमि,
कोरिछि तोमाए वरन!
ज्ञान बूढ़ो ओई बोलछे जीवन माया,
नाश करो ओई भीरू काया छाया।
मुक्तिदाता मरन! एसे काल बेशेखीर बेशे,
मरार आगेई मरलो आरा नाव तादेर ऐशे
जीवन तुमि सृष्टि तुमि जरा मरार देशे,
ताई शिकल विकल मागछे तोमार
मरन-हरने शर।

(हे मरण। तुम, आओ, आओ। मृत्यु से भीत इन मनुष्यरूपी भेड़ों का भय हरण करो। जो लोग घर से बाहर पांव रखने के पहले ही पथ के भय की कल्पना मात्र से घबरा कर घर में रहते हैं और अंधेरे की घुटन में मौत आने के पहले ही मर जाते हैं, उनकी छाती पर तुम्हारे ध्वंसकारी चरण ताता-थेथे ताता थे थे करके भीम रूद्रताल से थिरकते हुए नाच उठे।

ओ अकेले तुम्ही अक्षर और अशेष हो। मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूं। ज्ञान-वृद्ध कह रहा है कि जीवन केवल माया है। इस कायर की जर्जर और मृत काया को छाया की तरह मिटा डालो। हे मुक्तिदाता मरण। काल-वैशाखी की आंधी के वेश में आओ। इस जरा-जर्जर देश में केवल तुम्ही जीवन हो, तुम्ही जीवन हो, तुम्ही सृष्टि हो। इसीलिए बेड़ियों से जकड़े हुए लोग तुमसे मृत्युजयी बाण की आशा करते हैं)

सव्यसाची इस्लाम प.बंगाल में हैं। काजी नजरुल इस्लाम 1972 से ढाका में है। पुत्र भारत का नागरिक है और पिता मुक्ति के बाद बंगलादेश का नागरिक है। दोनों के बीच में एक न खत्म होने वाला अंतराल है।

नजरुल के निजी डाक्टर प्रो. नजीमुददौला चौधरी चिंतित हैं। कल से कवि का बुखार धीरे-धीरे बढ़ रहा है। कल नजरुल को 103 डिग्री बुखार था। वह बढ़कर 105 डिगरी तक पहुंच गया है। सुबह डा. चौधरी ने कवि नजरुल को आक्सीजन दिया है। डाक्टर चौधरी की आंखें नम हैं। उनके दिल की धड़कन बढ़ रही है।

सुबह 7 बजे नर्स दवा दे गई है। नजरुल की आंखों में नृत्यरत प्रलयंकर है। कवि का कंठ सूख रहा है। 8 बजकर 30 मिनट पर डाक्टर चौधरी ने नजरुल को पानी पिलाया है। अस्पताल में नजरुल रुद्र के साथ नाच रहा है। उसके छंद नृत्यरत हैं। उसकी कविता हिंदू पुराचरित्रों को मुस्लिम पुराचरित्रों के साथ ताण्डव नृत्य करते हुए तीन देशों की नकली सरहदों के बाहर ले आई है। यहां न हिन्दुस्तान है, न पाकिस्तान, और न ही बंगलादेश है। नजरुल की कविता : देश देशांतर का नया नामकरण है। मृत्युजयी बाण की आशा है। जीवन्त और जागृत इन्सान की वाणी है नजरुल की कविता।

नजरुल 1905, 1919, 1935, 1942, 1947 से 'सत्य की दुंदुभी' बजाने वाली जनता के साथ लम्बे अभियान पर बढ़ रहे हैं। एक क्षण के लिए नजरुल अपने ही जीवन के 70 वर्ष की ओर देखते हैं। क्या यह मनुष्य की जययात्रा नहीं है? क्या विद्रोही कवि बार-बार एक ही घोषणा नहीं करता रहा : प्रतिहिंसक बनकर नहीं, वरन् मनुष्य बनकर आगे बढ़ चले, क्यों कि समय बीतता चला रहा है।

1905 से 1976 तक समय बीतता चला जा रहा है। 29 अगस्त 1976 की सुबह दस बजकर दस मिनट पर समय एक झटके के साथ ठहर गया था। नजरुल ने आखिरी कविता लिखी थी जिसकी पाण्डुलिपि न भारत मे हैं, न बंगलादेश में!

ढाका विश्वविद्यालय का परिसर! चारों ओर चेहरे। आंखों में गम और ओठों पर नजरुल के अभियान गान की पंक्ति : चल, चल, चल।

राजकीय सम्मान के साथ नमाज -ए-जनाजा धीरे-धीरे सुहरावर्दी उद्यान की ओर बढ़ रहा है । आगे-आगे शोकधुन बज रही है। बंदूक नीचे झुकी हैं झण्डे आधे झुका दिये गये हैं। विद्रही कवि केशव कोमजार में रखा गया है। सव्यसाची इस्लाम कहीं नजर नहीं आ रहा है। दूर तक शोकाकुल भीड़ ही भीड़ है।

बंगलादेश सेना की सेना के उच्चअधिकारी, राष्ट्रपति, बहुत से देशों के राजनयिक जनाजे की नमाज में शरीक हुए हैं। दिवंगत कवि को अपनी-अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करनेके लिऐ लोूगों का तांता लगा हुआ है। हाथ में फूलों की ताजी माला है, दिलों में 'विद्रोही' कविता की वाणी है :

बोलो वीर-
बोलो, मेरा मस्तक उन्नत है
मेरा उन्नत मस्तक देखकर हिम्राद्रि शिखर ने
अपना मस्तक झुका लिया है।

विद्रोही कवि नजरुल के शव को मजार में रखा गया है । तीसरे पहर का सूरज झुक गया है । सेना ने एक के बाद एक 21 तोपों को सलामी दी है । बिगुलवादकों ने अंतिम धुन बजायी हैं।

क्या कहा है आखिरी सांस ने। वंदे मातरम! अभयमंत्र! जातेर बज्जाति! सत्य-मंत्र! विजय गान! मैं एक सांस में ''विषेर बॉशी'' की कविताएं पढ़ गया हूं। पत्नी ने आकर बताया है, टी.वी. पर नजरुल की आखरी यात्रा की रील दिखाई गई है।

मैं अखबारों की सुर्खियों को पढ़ रहा हूं। हिंदी, उर्दू, बंगला और अंग्रेजी के दैनिक अखबारों पर एक ही समाचार है : क्रान्तिकारी कवि नजरुल इस्लाम नहीं रहे।

नजरुल मुसलमान है, नजरुल हिंदू है, नजरुल राजनीतिक क्रान्तिकारी है। नजरुल प्रेमी है, नजरुल संगीतज्ञ है, लोकगीत गायक है। नजरुल फकीर है। नजरुल हर समय विवाद का व्यक्ति रहा है । आज भी नजरुल की विद्रोही कविता तीन देशों की जातीय चेतना के विवाद का केन्द्रीय वक्तव्य है । असंख्य भारतीय और बंगलादेश की जनता के बीच उसकी वाणी अमर है। टैगोर के सामने बंगला भाषा का स्वप्नदर्शी कवि है। कल्लोल युग या जनयुग का विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम है । विवाद में आज नजरुल कबीर की परम्परा में सजीव हो उठा है। सवाल पूछा जा रहा है: मुस्लिम देशों का कवि इकबाल है या काजी नजरुल इस्लाम? The Statesman ने इस विवाद के बीच एक पहचान कायम की है:

``After independence, the West Bengal Government sanctioned him a literary pension. The Union Govt. gave him a pension, as also did the Government of Pakistan which was stopped during the Indo-Pakistan conflict of 1971, but resumed when the Government of Bangladesh came into being. It is indeed significant that in the former Government of East Pakistan, though it was theocratic, it was not Mohammd Iqbal but Kazi Nazrul Islam, the poet of communal harmony, who was most popular."

शोकमग्न सव्यसाची इस्लाम अभी कलकत्ता शहर में हैं। वह भारतीय अधिकारियों के जरिये बंगलादेश से यह मांग कर रहे हैं कि उनके पिता का शव बंगलादेश से लाकर उनकी जन्मभूमि चुरूलिया गांव में

दफनाया जाय। अपनी कामना के साथ भारतीय नागरिक सव्यसाची इसलाम ढाका पहुंचते हैं।

समय बीतता जा रहा है। काजी नजरुल काशरी मजार में दफना दिया गया है । मैं सोच रहा हूं : कबीर का शव एकबार फिर ढाका या कलकत्ता में पड़ा है और कबीर अपनी वियोगाकुल और विवाद में ठनी जनता से कह रहे हैं – ''या तो तू मुझको मृत्यु दे दे या तू मुझे अपने असली जनवादी चरित्र को दिखा। आठों प्रहर का दग्ध होना मुझसे सहन नहीं किया जाता।'' मैं महसूस कर रहा हूं काजी नजरुल इसलाम के होंठ में कबीर की यही साखी दबी है :

कबीर कै विरहिन को मींचदे, कै आपा
दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मो पैं सहया न जाइ ।।

1942 से काजी नजरुल की बड़ी-बड़ी आंखें में एक बैचेनी चमकती रही है । नजरुल कहते रहे हैं ''दासों का कोई धर्म नहीं होता''। धूमकेतु के उद्देश्य की घोषणा करते समय नजरुल ने लिखा : ''मैं यह दिखाकर लोगों की श्रद्धा और प्रशंसा नहीं पाना चाहता कि मैं उतने से अधिक की जानकारी रखता हूं जितनी समझने की योग्यता मुझमें है। यह बात महात्मा गांधी और महाकवि रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मैं रवीन्द्र, अरविंद, गांधी के संदेशों को उसी हद तक अपना पाता हूं जिस सीमा तक वे मुझे प्रेरित कर पाते हैं। यदि उनके संदेश मेरे अंतर में प्रेरणा नहीं जगाते तो मैं उनका पालन नहीं करता।''[1]

यह घोषणा आज भी ईमानदार कवियों के सामने चुनौती है। चुनौती है: क्या कवि समसामयिक संघर्ष का एकमूक दर्शक होता है या वह संघर्षरत जनता का पक्षधर कलाकर होकर उसके संघर्ष का हिस्सेदार होता है?'' विश्व साहित्य पर लिखे गये एक निबंध में संसार भर के सर्जक कलाकारों की रचनात्मक प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण सैनिक कवि नजरुल ने किया है : नजरुल ने सभी सर्जक कलाकारों को तीन कोटियों में विभाजित किया है : (1)रूमानी प्रवृत्ति के लेखक (2) ऐसे लेखक जो मानवता के कष्टों का अनुभव तो करते हैं ? पर उन कष्टों के विरूद्ध विरोध नहीं कर पाते और (3) गोर्की की तरह के लेखक जो लोगों को कार्य के लिए प्रेरित करते हैं।''[2]

नजरुल का जीवन और उसकी विद्रोही कविताएं बंगाल में गोर्की की तरह युवकों, मजदूरों और किसानों को क्रान्तिकारी कार्य के लिए प्रेरित करती रहीं है। उसका जीवन्त सम्पर्क अपने समय की जनता से रहा है। आज ही शोक में डूबी हुई जनता भारत और बंगलादेश की सरहद को लांघकर एक स्वर से अपने प्रिय विद्रोही कवि को याद कर रही है। मैं हजार-हजार कंठ से ''अग्निवीणा'' की 'प्रलयोल्लसा' कविता सुन रहा हूं:

तोरा सब जयध्वनि!
तोरा सब जयध्वनि कर!
ओई नूतनेर केतन ओड़े काल्-वैशाखीर झड़।

(काजी नजरुल इस्लाम की जीवनी 'अग्निसेतु', प्रथम संस्करण सितम्बर 1976 से)

1. वसुधा चक्रवर्ती की पुस्तक 'काजी नजरुल इस्लाम' के पृ. 33 से उद्धृत
2. वही, पृ 34

शवयात्रा

(पृष्ठ 54 का शेष)

'फिर आज की तरह शोक सभा हुई थी। जैसे आर.पी.डी. के नाम पर अन्तरा महसूस कर रही है। और चारू मजूमदार के नाम पर विराम। हम किससे अफसोस जाहिर कर रहे हैं? नहीं। हम दोनों सिर्फ गम गलत करने के, कुछ आत्मरक्षा के, कम्युनिस्ट तरीके, ईजाद कर रहे हैं। जहां तुम्हारे बचाव के पक्ष में बहुत-सी तारीखें हैं। मेरी तरफ बहुत-सा क्रोध है।

'गणपति ने आखिरी समय तक अपने क्रोध को जब्त किया था। अपनी घरेलू जिम्मेदारियों को निभाया था। और वह एक ईमानदार, हुनरमंद और कर्मठ कम्युनिस्ट रहा आखिरी दम तक। पर उसकी लड़ाई कम्युनिस्ट आन्दोलन की लड़ाई नहीं थी। एक कम्युनिस्ट की निजी लड़ाई थी। मैं भी इसी तरह निजी लड़ाइयां लड़ रहा हूं। क्यों, यह नहीं जानता।'

विराम ने कोई जवाब नहीं दिया। वह खामोश रहा। और सोचता रहा। पिता ने कल ही उसकी नियुक्ति 'जंग' के विशेष संवाददाता के पद पर की है। और अन्तरा, आज मुझ पर हमला कर रही है। पार्टी के भीतर खतरा ही खतरा नजर आता है, अब।

अन्तरा खामोशी से उसे देखती रही और मुस्कराती रही।

मंच पर एक के बाद दूसरा वक्ता आता और चला जाता। न विराम उनके बारे में चिन्तित है। न अन्तरा उनके जाने पर गौर कर रही है। केवल रामकरण, तेजी से 'जंग' के लिये रपट तैयार कर रहा है।

नया वर्ष
नयी उम्मीदों,
नयी तैयारियों,
नयी शुरुआतों के नाम,
पराजय की घड़ी में भी
विजय के स्वप्नों के नाम
लगातार लड़ते रहने की
ज़िद के नाम
संकल्पों के नाम
जीवन, संघर्ष और सृजन
के नाम

निराशा, पस्तहिम्मती, अनिश्चय और अविवेक के कुहासे भरे इस माहौल में अपने अपनों को आशा, उत्साह और जीवन को बेहतर बनाने के प्रण से भरे पैग़ाम भेजिए

प्रगतिशील, जनपक्षधर पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशनों, जनता के वैकल्पिक मीडिया को सहयोग करने के लिए **प्रांजल** के **सुन्दर, सुरुचिपूर्ण** और **सोद्देश्य** नववर्ष कार्ड खरीदिए

ब्रेष्ट, लोर्का, नाज़िम हिकमत, मयाकोव्स्की, निराला, फैज़, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, अली सरदार जाफरी, सर्वेश्वर, शशि प्रकाश, जोस दि दियागो, वेणुगोपाल, शंकर गुहा नियोगी आदि की कविताओं और कलात्मक चित्रांकनों से सज्जित स्क्रीन प्रिंटिंग तथा आफसेट से छपे बहुरंगी आकर्षक कार्ड

सम्पर्क करें :
● प्रांजल स्क्रीन प्रिंटर्स एंड डिज़ाइनर्स, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 ✆ 308896 ● जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ ● जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001 ● सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, नई दिल्ली ✆ 2711136

कार्डों के मूल्य 3, 5, 6 व 8 रुपए तक हैं

लेख

लीबिग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास : आज की कृषि में प्रासंगिकता

जॉन बेलेमी फॉस्टर और **फ्रेड मैग्डॉफ**

कृषि में फसलों द्वारा भूमि से पोषक तत्वों के खींच लिए जाने के कारण मिट्टी की उर्वरता का ह्रास होता है जो अन्ततः पारिस्थितिक संकट को जन्म देता है। पिछली सदी के मध्य (1830-1870) के दौर में यूरोप और उत्तरी अमेरिका दोनों पूंजीवादी समाज इस संकट से ऐसे ही जूझ रहे थे जैसे कि आज के समाज वनों के विनाश, शहरों में बढ़ते प्रदूषण तथा बढ़ती जनसंख्या के माल्थसी भूत से जूझ रहे हैं। इस दौर ने 'ग्वानो साम्राज्यवाद' का उदय होते देखा जिसमें राष्ट्रों ने प्राकृतिक उर्वरकों की तलाश में पूरी दुनिया के कोने-कोने को छान मारा। इसी दौर में आधुनिक मृदा विज्ञान अस्तित्व में आया, धीरे-धीरे कृत्रिम रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल शुरू हुआ और टिकाऊ कृषि के विकास के मौलिक प्रस्ताव सामने आए। जिनका उद्देश्य अन्ततः शहर और गांव के बीच की शत्रुता को समाप्त करना था।

भूमि की उर्वरता के इस संकट की ओर ध्यान आकृष्ट करने वाले लोगों में एक जर्मन रसायनशास्त्री **जस्टस फान लीबिग** विशेष स्थान रखते हैं। लेकिन इसके सामाजिक निहितार्थों का व्यापक तौर पर और तह तक जाकर विश्लेषण करने वाले **मार्क्स** थे। मिट्टी की उर्वरता पर लीबिग और मार्क्स के विचारों को आगे चलकर **कार्ल काउत्सकी** और **वी.आई. लेनिन** समेत बाद के विचारकों ने मार्क्सवादी दर्शन के घेरे में और जांचा-परखा। उधर खेती में भूमि की उर्वरता ह्रास की समस्या 20 वीं सदी के मध्य तक विकराल रूप में उजागर नहीं हुई जब तक कि उर्वरक उद्योग का विकास और कृषि में उर्वरकों का भारी इस्तेमाल न होने लगा।

आज कृषि में कृत्रिम रासायनिक आगतों पर निर्भरता से उपजे पारिस्थितिकी संकट जो दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त उत्तरोत्तर गहराता ही गया है और भयावह रूप ग्रहण करता जा रहा है, की सुस्पष्ट समझ ने टिकाऊ खेती (वहनीय खेती, जिसमें फसलों द्वारा खींचे गए तत्वों के भूमि में पुनः प्रवेश का विशेष महत्व है) की अवधारणा में नई दिलचस्पी पैदा कर दी है। इस समय जन समुदाय के भूमि से पारिस्थितिकी सम्मत सम्बन्ध को विकसित करने की जरूरत दोबारा से खोजी जा रही है। पिछले 100-150 सालों के दौरान इस अवधारणा के विकास की संक्षिप्त रूप रेखा यहां प्रस्तुत की जा रही है।

लीबिग और 19वीं सदी में भूमि के उपजाऊपन की समस्या

1820 और 1830 के दशकों के दौरान ब्रिटेन की और कुछ ही दिनों बाद यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका की विकासशील पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में किसानों ने भूमि के उपजाऊपन में आती गिरावट को रोकने के लिए उर्वरकों के अधिकाधिक इस्तेमाल की जरूरत को समझा जिसके फलस्वरूप उर्वरकों की मांग में भारी बढ़ोत्तरी हुई। ब्रिटेन में हड्डियों (खाद के लिये) का आयात तेजी से बढ़ा—1823 के 14,400 पौंड से 1837 में 254,600 पौंड हो गया। पेरूवियन ग्वानो (समुद्री पक्षियों की एकत्रित बीट, जिसका खाद के रूप में इस्तेमाल होता था) से भरा जहाज पहली बार लिवरपूल में 1835 में पहुंचा। 1841 में 1700 टन ग्वानो का आयात हुआ और 1847 आते-आते यह बढ़कर 220,000 टन हो गया। इस दौर में यूरोप के किसान इतने उतावले थे कि अपने खेतों में खाद के रूप में इस्तेमाल करने के लिये हड्डियां उठाने के लिये नेपोलियन के युद्धस्थलों (वाटरलू, आस्टरलित्ज)पर टूट पड़े।

पूंजीवादी कृषि के भरण-पोषण के लिए मिट्टी की उर्वरता में बढ़ोत्तरी की इस मांग का आधुनिक मृदा विज्ञान के उदय से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। 1837 में विज्ञान की प्रगति हेतु ब्रिटिश संघ ने कृषि और रसायन शास्त्र के सम्बन्ध पर लीबिग के अनुसंधान कार्य के परिणामों को पाने के लिए निवेदन किया। इसके फलस्वरूप लीबिग की रचना *'कार्बनिक रसायनशास्त्र तथा इसका कृषि और काया विज्ञान में प्रयोग (1840)'* अस्तित्व में आई। इस रचना ने मिट्टी से प्राप्त पोषक तत्वों—नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश के पौधों की वृद्धि के लिए महत्व के बारे में पहली बार स्वीकार करने योग्य एक स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। लीबिग के इन विचारों ने इंग्लैंड के एक धनी भूपति और शस्य विज्ञानी जे.बी.लाज को बहुत प्रभावित किया जिसने लंदन से बाहर स्थित रोथमस्टेड में अपनी भूमि पर अपने 1837 में उर्वरकों के इस्तेमाल पर प्रयोग शुरू किए। फास्फोरस को घुलनशील बनाने का साधन आविष्कार कर लेने के बाद 1842 में लाज ने कृषि में कृत्रिम उर्वरक का प्रवेश किया। और 1843 में उसने अपने नए 'सुपरफास्फेट' के उत्पादन के लिए फैक्ट्री निर्मित की।

पर यह तकनीक ब्रिटेन से बाहर धीरे-धीरे ही जा सकी। सुपर फास्फेट तैयार करने की पहली फैक्ट्रियां जर्मनी में केवल 1855 में स्थापित हुईं, संयुक्त राज्य अमेरिका में गृह युद्ध के बाद ही फ्रांस में उसके प्रशा से युद्ध के उपरांत ही कृषि में सुपर फास्फेट के प्रयोग से फसलों की उपज अभूतपूर्व रूप से बढ़ी, पर एक ही तत्व के प्रयोग से शुरुआती दौर में जो बढ़ोत्तरी हुई उसकी वृद्धि दर में थोड़े ही समय बाद ही भारी गिरावट देखने में आई क्योंकि जो तत्व अल्पतम मात्रा (कम प्रचुरता) में उपलब्ध होता है वह हमेशा मिट्टी की उर्वरा शक्ति को समग्रता में सीमित किए रहता है, (यह लीबिग का 'न्यूनतम कारक' का नियम है।)

अतः लीबिग की खोजों ने प्रथमतः पूंजीवादी खेती के संकट बोध को गहराया किसानों को जागरूक बनाया इस बात के प्रति कि मिट्टी से पोषक तत्वों का ह्रास हो रहा है और इस ह्रास को रोकने के लिए उर्वरकों का अभाव है। इसे अमेरिकी किसानों ने—विशेषकर न्यूयार्क के ऊपरी राज्य में तथा दक्षिण पूर्व के बागानों में बड़ी शिद्दत के साथ महसूस किया।

पेरू से ग्वानो की आपूर्ति पर ब्रिटिश एकाधिकार के चलते संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए ग्वानो के दरवाजे बन्द थे। यानी आसानी से सुलभ व सस्ती ग्वानो की खाद (जिसमें नाइट्रोजन, और फास्फोरस प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे) अमेरिका की सीधी पहुंच से बाहर थी। अपनी जरूरत को पूरा करने लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने पहले तो अनौपचारिक रूप से पर बाद में (साम्राज्यवादी विस्तार की) राज्य नीति के तहत ग्वानो के उन सभी द्वीपों को जो इस प्रकृतिजन्य खाद में समृद्धि थे, को हड़प लिया। ग्वानो द्वीप अधिनियम (जिसे 1856 में कांग्रेस ने पारित किया) के तहत अमेरिकन पूँजीपतियों ने 1856 से 1903 के बीच दुनिया के चारों ओर फैले 94 द्वीपों, चट्टानों और महत्वपूर्ण स्थलों पर कब्जा जमा लिया जिनमें से 66 द्वीपों को राज्य विभाग ने आधिकारिक तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका के उपांग के रूप में मान्यता दे दी। इनमें से 9 ग्वानो द्वीपों पर आज भी अमेरिका का कब्जा है। इस सब के बावजूद उर्वरक की जितनी मात्रा एवं जिस गुणवत्ता की जरूरत थी उसकी आपूर्ति न हो सकी।

इसी बीच 1860 के दौर में पेरू के ग्वानो की आपूर्ति समाप्त होने लगी और इसका स्थान चिली की नाइट्रेट ने ले लिया। यद्यपि पोटाशियम लवणों की यूरोप में खोज से यह खनिज सुलभता से उपलब्ध होने लगा और फास्फेट्स की प्राकृतिक और कृत्रिम आपूर्ति ने पोटाश को और सुलभ बनाया पर फसलोत्पादन में इसका इस्तेमाल एक सीमा के ऊपर नहीं जा पाया जब तक कि 1913 में कृत्रिम नाइट्रोजन उर्वरक का विकास नहीं हो गया।

पूंजीवादी खेती में पोषक तत्वों की आपूर्ति प्रक्रिया की पारम्परिक पद्धति के तहस-नहस होने से उत्पन्न हुआ मिट्टी की उर्वरा शक्ति में ह्रास, फसलों के लिए आवश्यक विशेष पोषक तत्वों की जरूरत की उत्तरोत्तर बढ़ती जानकारी और उर्वरता ह्रास को रोकने के लिए पोषक तत्वों के मिट्टी में पुन: प्रवेश के लिए जरूरी प्राकृतिक और कृत्रिम उर्वरकों की आपूर्ति की कठिनाइयां—इन सबने मिलकर मिट्टी के उपजाऊपन के संकट का व्यापक तौर पर एहसास कराया।

सं.रा.अमेरिका के भौगोलिक कारकों ने इस संकट को और जटिल बनाया। न्यूयार्क के ऊपरी राज्य में जो, 1800 तक न्यू इंग्लैंड को पीछे छोड़ गेहूं की खेती में अगुवा बन बैठा था, की मिट्टी के उपजाऊपन में कमी इतनी स्पष्ट थी कि 1825 में इरी नहर खुलने के बाद के दशकों में पश्चिम की नई जमीनों पर खेती करने की प्रतिस्पर्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसी बीच दक्षिण-पूर्व में गुलामों के रक्त से सिंचित बागानों विशेषकर तम्बाकू की जमीनों के उपजाऊपन में अभूतपूर्व गिरावट देखने में आई।

न्यूयार्क में किसान इस संकट से निजात पाने के लिए आगे आए। उन्होंने कृषि संघ बनाकर और विवेकपूर्ण तरीके से खेती करने की विद्या को आगे बढ़ाया। सन् 1832 में न्यूयार्क एग्रीकल्चर सोसायटी बनी। दो वर्ष बाद एलबेनी अखबार के सम्पादक जेस्सी ब्यूल ने *कल्टीवेटर* का प्रकाशन शुरू किया। इससे उन्नत खेती को बढ़ावा मिला जैसे कि ब्रिटेन में पहले ही की जा रही थी। इसमें खादों का प्रयोग, पानी से तर भूमियों में जल निकास और फसल चक्रों पर ध्यान दिया जाता था। लीबिग की पुस्तक *'कार्बनिक रसायन शास्त्र'* के 1841 में अंग्रेजी में छपने के साथ ही न्यूयार्क के किसान नए मृदा विज्ञान को अपने उद्धारक के रूप में अपनाने को उन्मुख हुए। सन् 1850 में स्काटलैंड वासी कृषि रसायन शास्त्री प्रोफेसर जेम्स एफ.डब्लू. जॉन्स्टन, जिसे मार्क्स ने बाद में 'अंग्रेज लीबिग' नाम दिया, वह उत्तरी अमेरिका की यात्रा पर गया। उसने अपनी प्रभावकारी कृति *'उत्तरी अमेरिका पर टिप्पणियां'* में मिट्टी की नैसर्गिक उर्वरा शक्ति के ह्रास का उल्लेख किया है—विशेषकर पश्चिम की अति उपजाऊ कृषि भूमि की तुलना में न्यूयार्क की भूमि के उपजाऊपन में क्षीणता का।

इस प्रकार के बहुत से विषय मुद्दे अमेरिकी अर्थशास्त्री हैनरी कैरे के शोध कार्यो में पाए जाते हैं। उसने 1850 के पूरे दौर में इस तथ्य पर जोर दिया कि देहात और शहर के विभाजन से उत्पन्न उनके बीच सुदूर का व्यापार ही वह कारण है जिससे मिट्टी के पोषक तत्वों का ह्रास हो जाता है (पानी फसलों में खींचे गए पोषक तत्व मिट्टी में पुन: प्रवेश नहीं कर पाते) यही कृषि का गहराता संकट है। इस बिन्दु को लीबिग और मार्क्स ने और आगे विकसित किया। केयरी कैरे ने संयुक्त राज्य अमेरिका के बारे में अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपुल्स आफ सोशल साइंस (1858)' में लिखा- चूंकि देश की सम्पूर्ण ऊर्जा व्यापारी की सत्ता को बढ़ाने में खर्च हो रही है इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यहां लोग चारों ओर प्रकृति प्रदत्त सम्पदा को लूटने में लिप्त हों।

उत्तरी अमेरिका के किसानों की ये समस्याएं मुख्यत: केयरे के शोध कार्यो के माध्यम से अन्तत: लीबिग तक पहुँची। अपने 'आधुनिक खेती पर लिखे पत्रों (1859) में लीबिग ने वैज्ञानिक तर्कपरकता के आधार पर दिखाया बताया कि व्यापार के उद्देश्य से की जा रही अनुभव जन्य आधारित खेती एक ऐसे 'लुटेरे तन्त्र' को जन्म देती है जिसमें मिट्टी के पुर्नजीवन की दशाओं, नियमों का उल्लंघन होता है। फसलोत्पादन में साल-दर-साल तक फसल के बाद दूसरे फसल-चक्र में भूमि से पोषक तत्व बाहर खींच लिए जाते हैं। इस प्रकार दोहन के खुले तन्त्र की अमेरिकन खेती तथा यूरोप की तथाकथित 'उच्च खेती' दोनों ही धरती की लूट के तरीके हैं। वैज्ञानिक विधि सम्मत कृषि इसके विपरीत 'खेतों में उनकी जीवनी शक्ति उर्वरता की दशाओं को फिर से बहाल करेगी।'

लीबिग को आशा थी कि प्राकृतिक स्रोतों की खोजों तथा कृत्रिम उर्वरकों के उत्पादन—दोनो तरीको से अन्तत: उर्वरकों की उपलब्धता में बढ़ोत्तरी होगी। इसके बावजूद उसने मृदा वैज्ञानिक इतिहासकार जान बाउलेन के शब्दों में 'यूरोप के फार्मो पर उर्वरकों के इस्तेमाल में मितव्ययता बरती जाय तथा भूमि से फसलों में निकले पोषक तत्वों को भूमि में पुन: लौटाया जाय—'इस पर एक बड़े आन्दोलन' को जन्म दिया। इस रूप में लीबिग आाज के पारिस्थितिकी वैज्ञानिकों का अग्रदूत था। शहर के मलमूत्र के इस्तेमाल के विषय पर लंदन के लार्डमेयर को सम्बोधित अपने पत्रों में 'लीबिग ने टेम्स नदी की दुर्दशा को लेकर तर्कसाध्य तरीके से सिद्ध किया कि शहरों में मनुष्य एवं पशुओं के मल-मूत्र से उपजा प्रदूषण तथा भूमि की प्राकृतिक जीवनी शक्ति-उसकी उर्वरा शक्ति का ह्रास, ये दोनों समस्याएं एक दूसरे जुड़ी हुई हैं। इन दोनों समस्याओं का समाधान,मल-मूत्र तथा अन्य कूड़े-करकट के भूमि में पुन: प्रवेश में है। इससे भूमि से फसलों में खींचे गए पोषक तत्व वापस लौट आयेंगे और साथ ही शहर की हवा व नदी का जल स्वच्छ रहेगा। शहर और देहात की स्वस्थ कृषि प्रणाली तन्त्र का यह आवश्यक अंग होना चाहिए।

मार्क्स और टिकाऊ कृषि

पूंजीवादी खेती की अपनी समीक्षा में मार्क्स ने लीबिग, जॉन्सटन और केयरे के शोध कार्यो को प्रमुखता दी। पर इस समीक्षा का आधार स्तम्भ स्काटिश शल्य वैज्ञानिक जेम्स एण्डरसन का कार्य था, जो स्वयं खेती करता था और एडम स्मिथ का समकालीन राजनीतिक अर्थशास्त्री था।

एण्डरसन ने 1977 में 'अन्न नियमों की प्रकृति पर अन्वेषण' छापा (जिसमें उसने भूमि के उपजाऊपन (उर्वरा शक्ति) के आधार पर भूमि के लगान तय करने की बात कही। यही बाद में जाकर माल्थस/रिकार्डो के लगान सिद्धान्त से जाना गया। मार्क्स की नजर में एण्डरसन का यह मौलिक माडल उत्कृष्ट कोटि का था क्योंकि इसने कृषि भूमि के निरन्तर सुधार की सम्भावना पर बहुत जोर दिया। बाद में इसी का रूपान्तर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों—थामस माल्थस और डेविड रिकार्डो ने प्रस्तुत किया। एण्डरसन के अनुसार उच्च उर्वर भूमि के इस्तेमाल के बदले जो शुल्क अदा किया जाता था वह लगान है। अल्प उर्वर भूमि पर खेती से आमदनी केवल

इतनी कम थी कि उससे लागत की ही भरपाई हो पाती थी। जबकि अधिक उर्वर भूमि पर खेती करने को विशेष दर्जा हासिल था जिस पर एक निश्चित प्रीमियम देय था जो कि मिट्टी की उर्वरा शक्ति के अनुसार कम या ज्यादा होता था। यह प्रीमियम ही आज लगान कहलाता है जिसके आधार पर विभिन्न स्तरीय उर्वरा शक्ति को जमीनों पर खेती करने की लागत को समानता के धरातल पर लाया जा सकता है।

इसी के आधार पर यह आबादी का यह भूत खड़ा किया गया कि आबादी बढ़ने से उत्पादन कम होता जाएगा और लोग भूखों मरने लगेंगे।

माल्थस और रिकार्डो के अनुसार मिट्टी की उर्वरता में इन भिन्नताओं का स्रोत केवल प्रकृति प्रदत्त उत्पादकता की दशाओं पर आश्रित है और इस पर मनुष्य के हस्तक्षेप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रिकार्डो ने लिखा है कि लगान भूमि की पैदावार का वह भाग है जो मिट्टी की नैसर्गिक प्राकृतिक अविनाशी शक्ति के इस्तेमाल करने के बदले भूस्वामी को देना होता है। साथ ही उन्होने इस प्राकृतिक नियम की आड़ में स्वत: स्वीकारते हुए यह तर्क दिया कि जो जमीनें नैसर्गिक रूप से ज्यादा उर्वर थीं उन पर पहले खेती की गई। परन्तु कालान्तर में इन भूमियों पर लगान बढ़ा तथा बढ़ती जनसंख्या के दवाब में अधिकाधिक इसी के आधार पर उन भूमियों पर भी खेती की जाने लगी जो बहुत कम उर्वर थीं। इसके परिणामस्वरूप कुल मिलाकर कृषि उत्पादकता घटने लगी।

इसके विपरीत एण्डरसन पहले जोर देते रहे कि खाद, जलनिकास और सिंचाई द्वारा भूमि का निरन्तर सुधार सम्भव है, यह कि सीमान्त उर्वर भूमि की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है इस सीमा तक कि वह उच्च उर्वर भूमि के समान उत्पादन दे सके। साथ ही इसका उल्टा भी हो सकता है, लोग भूमि को बंजर बना सकते हैं। एण्डरसन के अनुसार भूमि की सापेक्ष उत्पादकता में इन भिन्नताओं के कारण ही भूमि का लगान कम या ज्यादा होना चाहिए, न कि निरपेक्ष उर्वरता उत्पादकता के कारण जैसा कि बाद में माल्थस और रिकार्डो ने कहा।

कृषि में जहां भी भूमि की उर्वरता-उत्पादकता सम्बन्धी समस्याएं उभरीं वे सब एण्डरसन के अनुसार वैज्ञानिक तर्कसंगत वहनीय स्वस्थ कृषि विधियों के न अपनाए जाने का नतीजा थीं। इंग्लैंड में भूमि का मालिक तो जमींदार था पर पट्टेदारी पर खेती पूंजीवादी तरीके से काश्तकार किया करता था। काश्तकार की भूमि के सुधार में कोई दिलचस्पी नहीं होती थी क्योंकि इसमें लगने वाली लागत का पूरा फायदा उसे पट्टेदारी की अवधि में पाना सम्भव नहीं था।

ब्रिटेन में अन्न के संकट के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर अपने अन्वेषण (1801) में एण्डरसन ने तर्क दिया कि शहर और गॉंव के बीच विभाजन के फलस्वरूप उर्वरकों के पारम्परिक स्रोतों का अभाव हो गया है। उसने लिखा 'हरेक आदमी जिसने खेती के बारे में थोड़ा बहुत सुना है जानता है कि गोबर की खाद जब मिट्टी में डाली जाती है तो वह उसकी उर्वरा शक्ति को बढ़ा देती है। अवश्य ही उसे इस बात के प्रति संवेदनशील होना चाहिए कि हर परिस्थिति जो इस खाद को भूमि में डालने से रोकती है वह आर्थिक दृष्टि से बेकार है और अत्यधिक दोषपूर्ण है।' उसने दावा किया कि समाज के सभी पशुओं और मनुष्यों का मल-मूत्र तथा अन्य बेकार जैव पदार्थो को समुचित ढंग से इस्तेमाल किया जाय तो मिट्टी की उर्वरा शक्ति बिना किसी बाहरी खाद के हमेशा के लिए बनी रह सकती है।

लंदन शहर में उर्वरा शक्ति का प्राकृतिक स्रोत यह मल-मूत्र विशाल मात्रा में मौजूद है, जो रोजाना टेम्स नदी में बहा दिया जाता है जिसके कारण शहर के निचले भागों में बसे लोग इसकी बदबू तथा बीमारी के शिकार होते हैं। यह इस बात को दर्शाता है कि (लंदन का) समाज टिकाऊ एवं स्वस्थ (वहनीय) कृषि अर्थव्यवस्था से कितना दूर चला गया है। इस समीक्षात्मक विश्लेषण से लैस होकर तथा इसे ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखते हुए एण्डरसन ने माल्थस के दृष्टिकोण पर तीखा प्रहार किया जिसके अनुसार सीमित जमीन पर बढ़ती आबादी का बोझ कृषि को और अन्तत: समाज को संकटपूर्ण स्थिति में पहुॅंचा देता है।

आबादी का बढ़ना प्राकृतिक नियम है तथा इससे जनित कृषि उत्पादकता में ह्रास पर माल्थस-रिकार्डो के सिद्धान्त के प्रभाव को निष्प्रभावी बनाने के लिए मार्क्स ने पूंजीवादी खेती की अपनी समीक्षा में भूमि लगान का शास्त्रीय सिद्धान्त, एण्डरसन के मौलिक सूत्रीकरण तथा लीबिग के मृदा रसायन साहित्य को आधार बनाया। 1840 और 1850 दशकों के दौर में मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि कृत्रिम उर्वरक जैसे साधनों के इस्तेमाल से कृषि में 'सुधार' की अनन्त सम्भावनाएं हैं। इन प्रारम्भिक दशकों में भी उन्होंने जोर देकर कहा कि भूमि की उर्वरता एक ऐतिहासिक मुद्दा है और यह भी कि भूमि की उर्वरता में सुधार भी हो सकता है और ह्रास भी। उन्होंने स्पष्ट किया कि पूंजीवादी कृषि की यह विसंगति ही है जो शहर और देहात के बीच बैरभाव को जन्म देती है। जिसके फलस्वरूप बुर्जआ समाज का उद्‌भव हुआ है।

लेकिन 1860 के आते-आते लीबिग, जॉन्सटन और केयरे जैसे विचारकों के शोध कार्यों के आधार पर और भूमि की उर्वरता के संकट पर सोचते हुए मार्क्स ने अपना अध्ययन सीधे मिट्टी-फसल-पशु-मनुष्य के बीच मृदा पोषक तत्वों की चक्रीय प्रक्रिया और इसके पूंजीवादी कृषि के शोषणकारी स्वरूप से सम्बन्ध पर केन्द्रित करना शुरू कर दिया। इस प्रकार अपनी 'पूंजी' के प्रथम खण्ड में उन्होंने लिखा :

> ''पूंजीवादी उत्पादन ... मनुष्य और धरती के बीच नैसर्गिक अन्तर्क्रिया को अस्त-व्यस्त कर देता है अर्थात भोजन और कपड़े के रूप में मनुष्य धरती के जिन तत्वों का उपयोग कर डालता है, पूंजीवादी उत्पादन उन्हें धरती में लौटने से रोक देता है और इसलिए वह उन शर्तो का उल्लंघन करता है जो धरती को सदा उपजाऊ बने रहने के लिये आवश्यक हैं। ....पूंजीवादी खेती में जो भी प्रगति होती है वह न केवल मजदूर को, बल्कि धरती को लूटने की कला की प्रगति होती है, एक निश्चित समय के वास्ते धरती की उर्वरता की उर्वरता बढ़ाने के लिए उठाया जाने वाला हर कदम साथ ही इस उर्वरता के स्थायी स्रोतों को नष्ट कर देने का कदम होता है.... इसलिए पूंजीवादी उत्पादन, प्रौद्योगिकी और उत्पादन की सामाजिक प्रक्रियाओं के जोड़ का विकास तो करता है, पर यह काम वह समस्त धन सम्पदा के मूल स्रोतों—धरती और मजदूरों को बुरी तरह निचोड़ कर करता है।''

इस स्थापना तर्क को मार्क्स ने अपनी पूंजी के तीसरे खण्ड में पूंजीवादी समाज में भूमि के लगान का विश्लेषण करते हुए सुव्यवस्थित तरीके से विकसित किया। इस विषय पर उनकी टिप्पणी गौर करने लायक है कि ''लंदन शहर में ...वे 45 लाख लोगों के मल-मूत्र तथा घरों के कूड़े-कचरे आदि को भारी खर्चे द्वारा टेम्स नदी में बहाकर उसके स्वच्छ जल को प्रदूषित करने से बेहतर कुछ नहीं कर सकते।''

पूंजीवादी कृषि और गोबर, फसलों के अवशेष और आबादी का मल-मूत्र आदि जैसे बेकार पदार्थो के मिट्टी में पुनर्प्रवेश पर इस प्रकार की सोच से मार्क्स पारिस्थितिकी सम्मत वहनीयता की अवधारणा तक पहुंचे। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसकी पूंजीवादी समाज के लिए कोई उपयोगिता नहीं है पर मिलकर समाजोपयोगी उत्पादन करने वालों के लिए संजीविनी है। उन्होंने आगे लिखा कि भूमि का स्थाई सामुदायिक सम्पत्ति के रूप में विवेकपूर्ण एवं सचेतन ढंग से उपयोग करना मनुष्य के अस्तित्व और उसकी भावी पीढ़ियों के समुचित रूप से पालन पोषण के लिये अपरिहार्य है।

> ''समाज की उच्च सामाजिक-आर्थिक संरचना के दृष्टिकोण से, धरती पर कुछ विशेष व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति का होना वैसा

ही बेतुका होगा जैसे कि एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति में उसकी अपनी निजी सम्पत्ति हो। धरती का कोई मालिक नहीं है—न तो एक समाज, न ही राष्ट्र, और न ही सभी समकालीन अस्तित्वमान समाज ही। बल्कि धरती पर उनका केवल उत्पादन करने का अधिकार है और उनको भावी पीढ़ियों के समुचित पालन-पोषण हेतु इसे स्वस्थ-समृद्ध अवस्था में छोड़ना है जैसे कि एक परिवार का जिम्मेदार मुखिया अपना घर, कारोबार अपने बच्चों के लिए छोड़ता है।''

कृषि के टिकाऊपन (sustainability) पर और साथ ही आबादी का कूड़ा-करकट, मनुष्यों, पशुओं के मलमूत्र, मृत जीवों के अवशेष, फसलों के अवशेष आदि जैसे बेकार पदार्थो के भूमि में पुनर्प्रवेश की चक्रीय प्रक्रिया की आवश्यकता पर लीबिग और मार्क्स के सुसंगत विश्लेषण से आगे मार्क्सवादी परम्परा के विचारक जैसे काउत्स्की और लेनिन गहनतम रूप से प्रभावित हुए। उन्होंने सिद्ध किया कि फसलोत्पादन में भूमि से खींचे गए पोषक तत्वों को वापस भूमि में डालना क्योंकर समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का एक अति आवश्यक अंग है यद्यपि उनके युग में उर्वरक अत्यंत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो गए थे। कृषि के सवाल पर काउत्सकी ने इस बात पर जोर दिया कि

''उर्वरकों के इस्तेमाल से भूमि की उर्वरता के ह्रास को कम तो किया जा सकता है लेकिन उनके अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग करने से कृषि तन्त्र पर एक बोझ पढ़ता है। यह एक ऐसा बोझ है जिससे चाहकर भी बचा नहीं जा सकता क्योंकि यह वर्तमान में अस्तित्वमान सामाजिक ढांचे की उपज है। शहर और गॉंव के बीच का या कम से कम घनी आबादी के शहर और दूर-दराज देहात के बीच का भेद-भाव मिटा कर ही भूमि से फसलों द्वारा लिए गए पोषक तत्वों को पूरी तरह से वापस भूमि में पहुंचाया जा सकता है। उर्वरक तब परिपूर्ति के रूप में डालने से भूमि को उर्वर बनाने में सहयोग करेंगे न कि भूमि की उर्वरता में आई कमी को पूरा करेंगे। खेती की उन्नति का अर्थ होगा कि बिना कृत्रिम उर्वरकों के इस्तेमाल से भूमि में पौधों को घुलनशील पोषक तत्वों की मात्रा में वृद्धि हो।''

इसी प्रकार 'कृषि प्रश्न और 'मार्क्स के आलोचक' (1901) में लेनिन ने लिखा :

''उर्वरकों के स्थान पर प्राकृतिक खादों के इस्तेमाल की सम्भावना है और ये इस्तेमाल भी हो रही हैं पर आंशिक रूप से। पर इस तथ्य से, प्राकृतिक खादों को बर्बाद करने और उसके नतीजतन नदियों एवं उपनगरीय और फैक्ट्री इलाकों के वातावरण को प्रदूषित करने की बेवकूफी का लेशमात्र भी खण्डन नहीं होता। वर्तमान समय में भी बड़े शहरों के इर्द-गिर्द मल-मूत्र गंदगी आदि से पोषित एवं सिंचित फार्म हैं जहां शहर की गन्दगी खेती के लिए वरदान साबित हुई है लेकिन इस विधि से शहर की गन्दगी का अल्पांश सूक्ष्म भाग ही इस्तेमाल हो पाता है।''

आज इसकी प्रासंगिकता

भूमि की जीवनी शक्ति के ह्रास की जो प्रवृत्तियां एण्डरसन, लीबिग, मार्क्स, काउत्सकी और लेनिन के चिन्ता का कारण थीं वे बीसवीं सदी में पूंजीवाद के विकास के साथ और गहराईं। खेती में मशीनों के इस्तेमाल और कृषि उत्पादों की लुढ़कती कीमतों ने किसानों को उनकी जड़-जमीन से उजाड़ा। वे पहले तो शहर की झुग्गी-झोपड़ पट्टियों में बसने को मजबूर हुए और बाद में उपनगरीय बस्तियों में। शताब्दी के अन्त में शहरी औद्योगिक इलाकों और बाद में उपनगरीय इलाकों में तथा सरकारी क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों में निरन्तर बढ़ोत्तरी से गॉंव से उजड़े किसानों को जीवन-यापन के लिए काम मिला। (दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में बिना या बहुत कम रोजगार उपलब्ध कराए शहरीकरण हुआ है।) क्योंकि आबादी का अधिकांश भाग अपनी खेती-जमीन से उजड़कर शहरों में रहने लगा अत: पोषक तत्वों के वापस भूमि में डालने की प्रक्रिया 19 वीं शताब्दी की तुलना में पूर्णरूपेण अस्त-व्यस्त हुई। भूमि में पोषक तत्वों के वापस डालने की प्रक्रिया में इस बाधा को चित्र 'अ' और चित्र 'ब' में दर्शाया गया है।

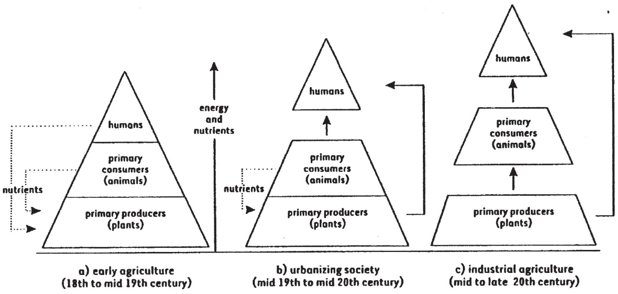

कृषि भूमियों में जैसे-जैसे पोषक तत्वों एवं जीवांश की मात्रा में कमी हुई वैसे-वैसे वे कम उर्वर हुईं। इन कमजोर भूमियों का क्या किया जाए। इसमें लोगों की रुचि जागी, कृषि भूमियों से पोषक तत्वों के निकल जाने से उनकी उर्वरता तो घटी ही साथ ही आबादी के मल-मूत्र और कूड़ा-करकट आदि (जिसमें पोषक तत्व होते हैं) ने अनेक झीलों और नदियों को गन्दा कर दिया। समुद्र के किनारे बसे शहरों ने मैले को समुद्र में बहाया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में 1970 के दशक से चालू मैले को साफ करने की मशीन ने यद्यपि जल-प्रदूषण की समस्या को कुछ कम कर दिया है पर इसने एक दूसरी समस्या खड़ी करदी है—मैले की गन्दगी जो बचती है उससे कैसे छुटकारा मिले। वर्तमान में मैले की इस गन्दगी को या तो जमीन में गड्ढों में डाल दिया जाता है या जलाकर भस्म कर दिया जाता है या कृषि भूमियों में डाला जाता है। इसमें हरेक का पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

समाज की उन्नति के दो चरणों ने, फसल और भूमि के बीच पोषक तत्वों की चक्रीय प्रक्रिया को दूसरी बार तितर-बितर कर दिया। प्रथम चरण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का दौर है जिसमें नाइट्रोजन उर्वरक की सस्ती-सुलभ उपलब्धता ने ढेर सारे परिवर्तनों को गति देने में सहायता दी। नाइट्रोजन उर्वरक उत्पादन में उसी तकनीक प्रक्रिया का प्रयोग होता है जिससे विस्फोटकों का उत्पादन किया जाता है। युद्ध की समाप्ति से नाइट्रोजन उर्वरक का उत्पादन विशाल स्तर पर करने के लिए उत्पादन संयत्र-रसायन प्रचुर मात्रा में सहज ही उपलब्ध हो गए। (यहां कृषि-रसायन के साथ सेना व उद्योग के सम्बन्ध पर भी गौर करना जरूरी है; कृषि में इस्तेमाल होने वाले बहुत सारे कीटनाशक रसायन मूलत: पेड़-पौधों को पत्ती रहित ठूंठ बनाने तथा मनुष्य की नसों को निष्क्रिय कराने के लिए निर्मित किए गए थे। नाइट्रोजन उर्वरक की व्यापक स्तर पर सुलभता से भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने वाली दलहनी फसलों पर निर्भरता की जरूरत नहीं रह गई। ये दलहनी फसलें वायुमण्डल में मौजूद नाइट्रोजन गैस का स्थिरीकरण (अवशोषण) कर दूसरी फसलों को प्रचुर मात्रा में उर्वरता प्रदान करती हैं। बरसीम और रिजका की दलहनी फसलों का चारा जानवरों (गाय, बछड़ों और भेड़) को खिलाया जाता रहा है। गेहूं, मक्का, जौ, टमाटर जैसी बिना फली की फसलों को नाइट्रोजन प्रदान करने के लिए इन फसलों की जरूरत नहीं रह गई तब फार्म आसानी से विशिष्टीकृत उत्पादक फसल या मवेशी पशुपालन कर सके।

दूसरे जैसे ही कृषि के उत्पादन, संसाधन और विपणन में केन्द्रीकरण की प्रक्रिया तेज रफ्तार से बढ़ी, पशु उत्पादन को निगमों ने ऐसे स्थानों के

निकट बढ़ावा दिया जहां पर उत्पादन को संसाधित करने के लिए विशाल संसाधन सुविधाएं सुलभ थीं। उन्होंने ऐसे स्थानों को चुना जहां उन्हें विशेष लाभ दीखे जैसे जहां ढीले-ढाले पर्यावरण कानून हों, जहां मजदूर संघों की गतिविधियां न के बराबर हों और जहाँ सस्ते मजदूर उपलब्ध हों। इन विशाल संसाधन संयत्रों ने अपने उत्पादों को अधिकाधिक विशेष ब्राण्ड के नाम से विपणन किया। उत्पादन के बाद संसाधित कर इन्होंने एक समाज तथा पूर्व निर्धारित-पूर्वानुमेय गुणों वाले उत्पादों को निर्मित किया। इन्हें पूरी की पूरी उत्पादन-संसाधन की प्रक्रिया को नियंन्त्रित करने की जरूरत पड़ी। इसके लिए निगमों ने या तो अपने ही फार्मो पर पशुपालन किया या फिर उत्पादन अनुवंध के तहत किसानों के फार्मो पर कराया (ये किसान पशुओं के मालिक नहीं होते लेकिन निगम के अधिकारियों की कड़ी देख-रेख में उनके अनुदेशों के मुताबिक पशुओं का पालन पोषण करते हैं)। इस प्रकार पशु पालन कुछ खास इलाकों में केन्द्रित होता गया जैसे अमरीका के दक्षिणी विशाल मैदानों में गोमांस के लिए दाना-चारा-उद्यम, अरकेन्सास में और डेमर्वा प्रायद्वीप (डेलवेअर मैरीलैण्ड और वर्जीनिया के भागों को मिलाकर)पर मुर्गी पालन एवं कुक्कुट पालन अण्डा उद्योग और मध्य पश्चिम के कुछ विशेष भाग और उत्तरी कैरोलिना में सुअर पालन उद्यम।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उन्नति के इन दो चरणों से एक नई घटना का जन्म हुआ जिसमें बहुत सारे किसान अपनी कृषि भूमि को छोड़ भागने को विवश हुए जिस पर मार्क्स और दूसरे विचारक इतना सोचने-विचारने को बाध्य हुए थे। मनुष्यों की तरह पशु भी अपनी कृषि-भूमि से जो उनका दाना-चारा पैदा करती है,दूर चले गए। संयुक्त राज्य अमेरिका में विशाल पैमाने पर पोल्ट्री और सुअर का उत्पादन करने वाले मेगा फार्म या तो निगमों के एकमात्र समेकित एकाधिकार में हैं या टासन और पर्डयू जैसे निगमों के अनुबन्ध के तहत व्यक्तिगत रूप में किसानों के अधिकार में। यहाँ पर दसियों हजार पशुओं वाले गौमांस हेतु (दाना-चारा) पशु आहार निर्मित करने वाले उद्यम आमतौर पर देखे जा सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में जो बाजार हैं उसमें एक तिहाई से अधिक बिकने वाले पशु केवल 70 (दाना-चारा) पशु आहार उद्यमों से होते हैं जबकि, इस बिक्री का 97 प्रतिशत भाग ऐसी गतिविधियों से नियन्त्रित होता है जिसमें प्रतिवर्ष 100,000 से भी अधिक मीट के लिए मुर्गी के (बच्चे) चूजे होते हैं। अपना पशु आहार उत्पादन करने वाले डेयरी फार्म भी अपने पशुओं की जरूरत का आधा से अधिक भाग आयात करते हैं। कृषि भूमि से अलग दूरस्थ स्थानों पर पशुपालन होने का ही यह नतीजा है कि भूमि में पोषक तत्वों एवं जीवांश की कमी होती जा रही है और यह स्थिति बद से बदतर बनती जा रही है। फसलोत्पादन करने वाले फार्मो पर उनके उत्पादों के बिक जाने के कारण मिट्टी से भारी मात्रा में पोषक तत्वों का नुकसान हो जाता है जिसकी भरपाई के लिए कृत्रिम उर्वरकों का प्रयोग विशाल स्तर पर बहुतायत में किया जाता है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि एण्डरसन और मार्क्स ने इंगित किया है कि जो किसान पट्टे पर खेती करते हैं वे भूमि के सुधार में कोई ध्यान नहीं देते क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी मेहनत व पैसे की लागत का लाभ उनके पट्टेदारी की अवधि में नहीं मिल सकता। अमरीका में 1994 में लगभग आधी जमीन (48 प्रतिशत) पट्टे पर उठी हुई थी। कुछ स्थानों में जहां इस प्रकार की खेती का खूब प्रचलन है 60 प्रतिशत भूमि पर नकदी फसलें उगायी जाती हैं। कपास की खेती 75 प्रतिशत पट्टे पर होती है। पट्टे पर भूमि लेकर खेती करना बड़े फार्मो पर बहुत प्रचलित है। ऐसा अनुमान है कि 58 प्रतिशत भूमि जिससे सालाना आमदनी 250000 या इससे अधिक है पट्टे वाली जमीन है। पट्टे पर जमीन लेकर बड़े पैमाने की खेती करना दूसरा कारक है जिसके फलस्वरूप फार्म पर विशिष्टीकरण (विशिष्ट प्रकार की खेती का चलन) बढ़ता है, भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के लिए अल्पकालिक-तात्कालिक तुच्छ तौर तरीके अपनाए जाते हैं जैसे कृत्रिम उर्वरकों द्वारा फौरी तौर पर अधिक फसलोत्पादन के लिए भूमि की उर्वरता को बनाए रखना न कि अधिक फसलोत्पादन के साथ-साथ पर्यावरण के अनुकूल दीर्घकालिक भूमि एवं फसल प्रबन्धन की रणनीतियों को अपनाना।

पारिस्थिकीय परिणाम

किसानों के अपनी जड़-जमीन (कृषि भूमि) से उजड़ने और बाद में दूर डेयरी फार्मो के विकास के फलस्वरूप पशुओं से प्राप्त खाद (फसलों के पोषक तत्वों) को वापस खेतों में डालना सम्भव नहीं रह गया। फलतः और अधिक मात्रा में कृत्रिम उर्वरकों को भूमि में डालने की जरूरत पैदा हुई। इससे एक तरफ तो फार्म पर खेतों में वापस डालने के लिए खाद के रूप में पोषक तत्व रहे ही नहीं पर दूसरी ओर शहरों में और बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले डेयरी फैक्ट्री फार्मो पर यही पोषक तत्व, गोबर मल-मूत्र के रूप में विशाल मात्रा में एकत्र होने लगे (शहर के मैले में भी) पोषक तत्वों के बहुत दूर एकत्रित होने के कारण ये तत्व फसलोत्पादन के मुख्य क्षेत्रों में नहीं पहुंचाए जा सकते क्योंकि इनकी ढुलाई में ऊर्जा और वित्तीय लागत बहुत अधिक बैठती है।

1. कृषि में हुई प्रगति के पर्यावरण पर कई गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। उर्वरकों के उत्पादन, उनकी ढुलाई और फसलों में इस्तेमाल करने आदि में सीमित जीवन कालावधि वाले ऊर्जा स्रोतों की जरूरत होती है। नाइट्रोजन उर्वरक के उत्पादन में बेतहाशा ऊर्जा खर्च होती है। अमरीका में एक एकड़ मक्का के उत्पादन में जो कुल ऊर्जा-ईधन, मशीनरी की मरम्मत, बीज, कीटनाशक आदि में खर्च होती है उसका लगभग 40 प्रतिशत केवल नाइट्रोजन उर्वरक के इस्तेमाल पर ही खर्च हो जाती है।

2. पर्यावरण पर दूसरा प्रतिकूल प्रभाव उर्वरकों की पानी में घुलनशीलता के कारण पडता है जिसके कारण भूमिगत जल तथा भूमिजल दोनों सहज ही प्रदूषित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त डेयरी फार्मो पर पशुओं की भारी तादात के चलते गोबर, मूत्र आदि इतनी अधिक मात्रा में पैदा होता है कि आसपास की जमीनें इसको सहजता से सोख नहीं पातीं। इस सबका परिणाम जन-जीवन के स्वास्थ्य पर पड़ता है। क्योंकि वे इस नाइट्रेट से प्रदूषित भूमिगत जल को पेयजल के रूप में इस्तेमाल करते हैं। कृषि भूमियों से फसलों में निकले पोषक तत्वों की फालतू मात्रा से प्रदूषण की समस्या खड़ी हुई है। नदियों के मुहाने जैसे चेसापियके की खाड़ी और समुद्र के तटीय वातावरण जैसे मैक्सिको की खाड़ी का 'डेड जोन' से लेकर मिसीसिपी नदी के मुहाने का पश्चिमी भाग और साथ ही ताजे मीठे जल की बहुत सारी झीलें प्रदूषित हुई हैं।

3. शहरों से सटे फार्मों पर आबादी द्वारा इस्तेमाल किए जाने के बाद अपने घरों के आसपास फेंके गए औद्योगिक उत्पादों के अवशेषों में दूषित पदार्थ और रसायन पाए जाते हैं जिसके कारण शहर का अधिकतर कूड़ा-करकट, मैला आदि कृषि में उपयोग करने लायक नहीं रहता। यद्यपि अमेरिका की पर्यावरण संरक्षण एजेन्सी ज्यादातर शहर की गन्दगी (कूड़ा-करकट, मैला आदि) को कृषि में उपयोग करने लायक मानती है लेकिन इसकी नीतियों के औचित्य पर बहुत सारे वैज्ञानिक सन्देह व्यक्त करते हैं। दूसरे विकसित औद्योगिक देशों की तुलना में अमरीका के मानक बहुत ढीले-ढाले हैं। यहाँ पर भारी धातुओं की मात्रा कनाडा और अधिकतर यूरोपीय देशों की तुलना में 8 गुना अधिक तक हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त खादों में भी घातक प्रदूषण तत्व पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए सुअर के मल की खाद में तांबा की अत्यधिक मात्रा पाई जाती है क्योंकि बाड़े में सुअरों को उनको मोटा ताजा बनाने के लिए आहार में तांबा नियमित रूप से खिलाया जाता है। प्रदूषित मैला व खादों को ठिकाने लगाने से पर्यावरणीय समस्याएं जन्म लेती हैं जो कि भविष्य में भूमि की उत्पादकता

या वायु और जल की गुणवत्ता को प्रभावित कर सकती है।

4. सस्ते कृत्रिम उर्वरकों की उपलब्धता के चलते अधिकतर कृषि फार्मो पर अच्छे (भूमि को जीवन दायी और पर्यावरण अनुकूल) फसल चक्र नहीं अपनाए जाते। इसी का नतीजा है कि भूमि में जीवांश की मात्रा में और भूमि में पाए जाने वाले जीव-जन्तुओं की मात्रा और उनकी विविधता में कमी आई है। भूमि की जीवनी शक्ति में इस गिरावट के कारण अनेकों बीमारियां उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म जीवों एवं पौधों के परजीवियों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। क्योंकि सूक्ष्म जीव समेत अनेक जीव-जन्तुओं की प्रकृति प्रदत्त प्रचुरता तथा उनकी विविधता बीमारी पैदा करने वाले कीटाणुओं को नियन्त्रण में रखती है। इतना ही नहीं भूमि की उर्वरा शक्ति में गिरावट के कारण कीटों के बढ़ते प्रकोप पर नियन्त्रण पाने के लिए और अधिक कीटनाशक दवाओं का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसानों और फार्म मजदूरों का विषाक्त होना, खाद्य पदार्थो तथा भूमिगत जल का जहरीले रसायनों से प्रदूषित हाना यह सभी पूंजीवादी खेती की भूमि में उसकी उर्वरा शक्ति के ह्रास का परिणाम है।

5. विशाल फार्मो पर पशुपालन बहुत ही निर्दयी निष्ठुर दशाओं में किया जाते हैं जिसके चलते बीमारी आसानी से फैलती है। इनका नियन्त्रण करने के लिए जल्दी-जल्दी एण्टीबायटिक दवाओं के इस्तेमाल की जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त पशुओं के आहार में अल्प मात्रा में एण्टीबायटिक दवाओं का रोजाना इस्तेमाल होता है जो किसी प्रकार पशुओं में वृद्धिवर्धक का काम करता है। केवल यह मात्रा पशुओं द्वारा इस्तेमाल होने वाली एण्टीबायटिक की कुल मात्रा की 40 प्रतिशत बैठती है। दवाओं के निरन्तर उपयोग से खाद्य पदार्थो का एण्टीबायटिक से प्रदूषण होता है। साथ ही इससे बीमारी पैदा करने वाले बैक्टीरिया, फफूंद आदि में इन दवाओं के प्रति प्रतिरोधी क्षमता का भी उद्भव होता है जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त घातक बन सकता है।

6. पोषक तथ्वों की आपूर्ति हेतु फसलों द्वारा भूमि के खनन से पर्यावरण को भारी नुकसान पहुँचा है। यह 'ग्वानो साम्राज्यवाद' के शिकार एक उदाहरण से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। दक्षिण प्रशान्त महासागर में एक छोटा द्वीप नौरू राष्ट्र है जो 1888 से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक जर्मनी के अधीन था और इसके बाद आस्ट्रेलिया के (थोड़े समय के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान के कब्जे में भी था) अधीन था। 1968 में इसे स्वतंत्रता मिली। यहाँ पर फास्फोरस प्रचुर मात्रा में होने के कारण इसकी पट्टियों में 1908 से खुदाई की गई। इस धरोहर के सन् 2000 तक खत्म हो जाने की आशंका है। न्यूयार्क टाइम्स में छपे लेख के अनुसार ''इस द्वीप के ज्यादातर भाग (4/5) का खनन कर फास्फोरस बाहर निकाला जा चुका है जिसके कारण वहां भयावह गड्ढे बन गए हैं, लगता है जैसे भूत का घर हो.... समुद्र तट के किनारे एक पतली पट्टी ही बची है जो नारियल ताड़ के वृक्षों से आच्छादित है। अत्यधिक खनन के कारण मौसम भी बदल गया है। यहां अब वर्षा नहीं होती। खनन वाले पठारी क्षेत्र से उठती हवा की गर्म लपटें वर्षा वाले बादलों को दूर भगा देती हैं और पीछे छोड़ जाती हैं सूखे की चपेट में सूर्य से तपता द्वीप।''

गैर पूंजीवादी विश्व के अनुभव

समाजवादी देशों के इतिहास से दूसरी सम्भावनाओं की झलक मिलती है। सोवियत माडल से, जिसका कि पूर्वी यूरोप के अधिकतर देशों में अनुकरण किया गया, इस मुद्दे पर कोई मदद नहीं मिलती क्योंकि यहां उन्हीं तौर तरीकों को अपनाया गया जो अमरीका में अपनाए जाते हैं। यहाँ पर उर्वरकों और कीटनाशकों के इस्तेमाल के कारण भूमि में गोबर की खाद, हरी खाद भूमि के जीवांश के रूप में पोषक तत्वों को भूमि में पुनः लौटाने की प्रक्रिया और भूमि संरक्षण पर ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु चीन में माओ के काल में स्थिति भिन्न थी। चीन में प्रति व्यक्ति खेती लायक जमीन बहुत कम है, लेकिन भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के लिए पशुओं,मनुष्यों का मल-मूत्र, आबादी का कूड़ा-करकट, फसलों के अवशेष आदि को भूमि में डालने की एक लम्बी परम्परा रही है (जैसा कि लीबिग ने 19 वीं शताब्दी में लिखा था)। स्थानीय खाद्य आत्मनिर्भता पर माओ के विशेष जोर देने के कारण उर्वरता को बनाए रखने के लिए परम्परागत इन तौर-तरीकों को और जोर-शोर से अपनाया गया। साथ ही स्थानीय उद्योगों को बढ़ावा दिया गया। इसके फलस्वरूप किसानों-मजदूरों को गांव छोड़ने के लिए मजबूर नहीं होना पड़ा, नतीजतन कृषि उत्पादन में चमत्कारित रूप से बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन आज के दौर में यह प्रक्रिया उलट गयी है। पूंजीवादी सम्बन्धों को बढ़ावा दिया जा रहा है। अतएव भूमि में पोषक तत्वों के पुनः प्रवेश की चक्रीय प्रक्रिया और उत्तम भूमि प्रबन्धन में भारी गिरावट आई है। आजकल कृषि उत्पादन की जरूरत को पूरा करने के लिए उर्वरकों की फैक्ट्रियां खड़ी करने के लिए नए सिरे से जोर दिया जा रहा है। सोवियत यूनियन के ढहने के साथ 'अनुकूल व्यापार सहमति' के रद्द हो जाने के कारण क्यूबा में 'विशेष अवधि' का आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ है। विदेशों में उर्वरकों और कीटनाशकों को क्रय करने के लिए धन के अभाव ने यहाँ पर कृषि में इस्तेमाल होने वाले रसायनों की मात्रा में कमी करने की किसानों में रुचि जगाई है। इसी का नतीजा है कि यहां पर पोषक तत्वों की चक्रीय प्रक्रिया पर इतना ध्यान दिया जा रहा है कि जैविक खेती की तकनीक ही आज क्यूबा की कृषि का आधार स्तम्भ बन गई है।

क्या किया जा सकता है?

उन्नत पूंजीवादी देशों की खेती में भूमि से निकले पोषक तत्वों की सतत पुनर्प्रवृष्टि प्रक्रिया के विघटन को रोकने और उससे जन्मे पर्यावरण विनाश को कम करने के लिए क्या किया जाए? कृषि के ढांचे और निगमों के आधिपत्य को चुनौती दिए बगैर तो बहुत कम विकल्प बचते हैं। शहरों के आकार और उनकी प्रकृति में भारी बदलाव लाया जाए और उपनगरीय विकास को रोका जाए। नए कृत्रिम रासायनिक पदार्थो के निरन्तर प्रयोग पर रोक लगे जब तक कि उनके प्रयोग से पर्यावरण की सुरक्षा पूर्णरूपेण सिद्ध न हो जाए (यह निकट भविष्य में होने वाला नहीं। जो विकल्प और हैं वे हैं—स्थानीय स्तर पर उत्पादित होने वाले आहार पदार्थो के उपभोग को बढ़ावा दिया जाए। साथ ही घरों, रेस्तरां और बाजार में खाद्य पदार्थो के उपभोग के बाद बचे उनके अवशेषों का कृषि फार्मो पर भूमि में वापस डालने की प्रक्रिया को अपनाया जाए। किसानों के बाजारों और समुदाय समर्थित कृषि फार्मो के माध्यम से पर्यावरण अनुकूल और सामाजिक प्रगति सम्मत कृषि के तौर-तरीके अपनाना भी मदद कर सकता है, ऐसे किसानों की पहचान करनी चाहिए। आबादी की गन्दगी (मल-मूत्र, उद्योग एवं कृषि के बेकार बचे उत्पाद, कूड़ा-करकट आदि) में घुले-मिले अत्यन्त जहरीले पदार्थो को निकालने के लिए अत्यन्त प्रभावकारी प्रयासों की आवश्यकता है।

इन प्रयासों का उद्योग विरोध करेंगे क्योंकि घातक पदार्थ रहित उत्पाद निर्मित करने में भारी खर्चा करना पड़ता है। यद्यपि ये क्रिया-कलाप मूल समस्याओं का हल नहीं खोज पाएंगे पर इनका कुछ असर अवश्य होगा। संघर्षो के दौरान एक दूसरे से सीखने की कला उन लोगों में जो समाज के व्यापक हित में सोचते हों और दूसरी तरफ उन लोगों में भी जो पारिस्थितकी सम्मत वहनीय कृषि से गहन सरोकार रखते हों, भविष्य में अधिक स्थाई साझा मोर्चा बनाने में मददगार साबित होगी।

दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में सोचा जाए तो यह बात समझना महत्वपूर्ण है कि आज न तो तकनीक का अभाव और न ही पारिस्थितिकी प्रक्रियाओं की

जानकारी का ही कोई अभाव है कि पारिस्थितिकी सम्मत वहनीय कृषि तन्त्र का विकास न हो सके। यद्यपि शोध की जरूरत है लेकिन हम पहले ही पोषक तत्वों के भूमि से बाहर निकलने और उनकी पुनर्प्रवृष्टि की प्रक्रिया तथा दूसरे कारकों को ध्यान में रखकर उन कृषि पारिस्थितिक तन्त्रों को निर्मित करने में सक्षम हैं जो जीवन्त रूप से वहनीय हों। लेकिन किसानों का बहुलांश वर्तमान सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक ढांचे में इस ज्ञान का उपयोग कर अपने जीवन को बेहतर बनाना तो दूर अपना अस्तित्व भी बरकरार बनाए रखने में असमर्थ है।

एक मानवोचित टिकाऊ तन्त्र स्वस्थ सन्तुलित पारिस्थितिक सिद्धान्तों पर आधारित—जो समाजवादी व्यवस्था में ही हो सकता है वह समग्रता में पूरी पृथ्वी के टिकाऊपन से सरोकार रखेगा जिसके बारे में मार्क्स ने लिखा है 'जो मानव जाति की आनुक्रमिक पीढ़ियों की श्रृंखला के अस्तित्व और उनके पुनर्जनन की एक अनिवार्य शर्त है।'

वर्तमान संघर्षों में, अगर इन अधिक मूलभूत मुद्दों को नहीं उठाया जाता तो हम सामाजिक न्याय के लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंच सकेंगे और साथ ही धरती जिस पर हम रहते हैं और जैविक-भूवैज्ञानिक प्रक्रियाएं जो हमारे अस्तित्व को बनाए रखती हैं, के प्रति भी हम अपनी जिम्मेदारियां पूरी न कर सकेंगे। एक बात तय है कि आने वाली पीढ़ियां हम पर उंगली उठाएंगी अगर हमने अपने आपको आज जारी इस तंत्र को बनाए रखने में इस्तेमाल हो जाने दिया जिसका सिद्धान्त है "मेरे बाद प्रलय हो जाएगी!" (After me the deluge!)[1]

1. "After me the deluge! हर पूंजीपति और हर पूंजीवादी देश की यही मानसिकता होती है। इसलिए पूंजी मजदूर के स्वास्थ्य और दीर्घ आयु से कोई सरोकार नहीं रखती जब तक कि समाज उसे ऐसा करने को मजबूर न करे।" कार्ल मार्क्स, *पूंजी* खण्ड 1

●

आम लोगों के लिए
जरूरी हैं वे किताबें
जो उनकी जिन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुंचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज हवा का झोंका बन जाना होगा
जिन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक
पहुंचाना होगा।

●

घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में
उत्कृष्ट, स्तरीय, जनपक्षधर, क्रान्तिकारी क्लासिकीय साहित्य को
जन-जन तक पहुंचाने के हमारे मिशन के हमसफर बनें

जनचेतना

प्रगतिशील साहित्य का उत्कृष्ट प्रतिष्ठान

❍ देश-विदेश की क्लासिकीय कृतियां ❍ प्रतिनिधि-समकालीन साहित्य ❍ मानविकी और विज्ञान की चुनी हुई स्तरीय पुस्तकें ❍ मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी साहित्य ❍ वामपंथी राजनीतिक पत्रिकाएं ❍ प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिकाएं ❍ कविता पोस्टर ❍ स्टिकर ❍ क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट ❍ उत्कृष्ट एवं सस्ता बाल साहित्य ❍ क्रान्तिकारी जनसंगठनों का प्रचार साहित्य

अच्छे साहित्य की खरीद को अपने बजट का जरूरी मद बनाएं!

आज ही हमसे मिलें या डाक से पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें!

- **❍ जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001 (सांय 4 से 8 बजे, मंगलवार अवकाश)**
- **❍ हजरतगंज, निकट काफी हाउस, लखनऊ (सांय 5 से 7.30 बजे, रविवार अवकाश)**
- **❍ 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार -फेज एक, दिल्ली-91, फोन: 2711136**

अध्याय 18

मितव्ययिता समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है

मितव्ययिता और आर्थिक लेखा लागू करो

समाजवादी उत्पादन एक ही साथ श्रमकाल के नियोजित आवंटन और श्रमकाल की बचत के प्रयासों की प्रक्रिया है। सभी उद्यमों में और समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में मितव्ययिता और आर्थिक लेखा को लागू करना ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती नतीजों के साथ समाजवाद के निर्माण की बुनियादी शर्त है।

समाजवादी आर्थिक विकास के लिए मितव्ययिता एक अनिवार्यता है

समाजवादी आर्थिक विकास के लिए मितव्ययिता का महत्व

यहां मितव्ययिता का तात्पर्य जनशक्ति, कच्चे मालों और धन की बचत से है। जनशक्ति की बचत का अर्थ है पदार्थीकृत (मूर्त) श्रम की बचत, और धन की बचत का अर्थ है मुद्रा परिचलन के रूप में अभिव्यक्त जीवित और मूर्त श्रम की बचत। इस प्रकार, हर तरह की मितव्ययिता वास्तव में जीवित और मूर्त श्रम की बचत, या श्रम काल की बचत है।

समाजवादी समाज में श्रमकाल की बचत अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। मार्क्स ने कहा है, ''समय की बचत, हर तरह की बचत अंततः इसी में सिमट जाती है। समाज को, अपनी समग्र आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त उत्पादन हासिल करने के लिए अपने समय का सोद्देश्य ढंग से बंटवारा करना चाहिए; ठीक उसी तरह जैसे किसी व्यक्ति को उचित अनुपात में ज्ञान प्राप्त करने के लिए या अपनी विभिन्न जरूरी गतिविधियों के लिए उचित ढंग से अपने समय का बंटवारा करना होता है। इस तरह, उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच श्रमकाल के नियोजित आवंटन के साथ-साथ, समय की बचत सामुदायिक उत्पादन के आधार का पहला आर्थिक नियम होता है। इसलिए, यह और भी ऊंचे स्तर का नियम बन जाता है।''[1]

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य राज्य और जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। न्यूनतम मात्रा में श्रम व्यय करके अधिकतम सम्भव मात्रा में उपयोग मूल्य पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि श्रमकाल की बचत की जाए और पूरे समाज में श्रमकाल का नियोजित ढंग से आवंटन किया जाए। राज्य और जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को अधिकतम सम्भव सीमा तक पूरा करना सुनिश्चित करने के लिए ये बुनियादी साधन हैं। इस तरह, मितव्ययिता का पालन करना समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की वस्तुगत आवश्यकताओं के अनुरूप है। मितव्ययिता का पालन नहीं करने का अर्थ है समाजवादी आर्थिक विकास की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करना और सर्वहारा तथा मेहनतकश जनसमुदाय के बुनियादी हितों को नुकसान पहुंचाना।

इसलिए, मितव्ययिता लागू की जाती है या नहीं, यह प्रथमतः इस प्रश्न से जुड़ा है कि क्या समाजवादी अर्थव्यवस्था के वस्तुगत नियम स्वीकार होते हैं और क्या सर्वहारा तथा मेहनतकश जनसमुदाय के बुनियादी हितों का ध्यान रखा जाता है। किफायतशारी पर सख्ती से अमल करना समाजवादी अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भरता के जरिए संचय बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन होता है। बड़े पैमाने पर आर्थिक निर्माण के लिए समाजवादी देश को भारी मात्रा में धन की जरूरत पड़ती है। यह धन कहां से आता है? पूंजीवादी-साम्राज्यवाद और सामाजिक-साम्राज्यवाद की तरह समाजवादी देश अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए अपनी ही जनता का शोषण, दूसरे देशों पर चढ़ाई और लूट या राष्ट्रीय संसाधनों को बेचने का काम नहीं कर सकता। समाजवादी देश संचय के लिए अपनी मेहनतकश जनता के लगनशील श्रम और आंतरिक मितव्ययिता पर ही भरोसा कर सकता है। एक ओर उत्पादन इकाई के लिए यह जरूरी होता है कि वह यथासम्भव जनशक्ति, कच्चे माल और धन की बचत करे, धन का आवंटन तार्किक ढंग से करे और उत्पादन का पैमाना लगातार विस्तारित करता जाए। दूसरी ओर गैर-उत्पादन इकाइयों, जैसे राज्य की शाखाओं, सैन्य इकाइयों, स्कूलों, और जन संगठनों को मितव्ययिता बरतनी चाहिए और बर्बादी को पूरी तरह खत्म कर देना चाहिए ताकि राज्य के बजट में गैर-उत्पादन व्यय का हिस्सा कम से कम रहे। इस तरीके से आर्थिक निर्माण के लिए भारी मात्रा में धन जुटाया जा सकता है। समाजवादी देश अगर किफायतशारी पर सख्ती से अमल करेगा और संसाधनों की बर्बादी पर रोक लगाएगा तभी वह समाजवादी निर्माण को तेज कर सकेगा और राज्य तथा लोगों की लगातार बढ़ती जरुरतों को पूरा कर पाएगा।

चीन के समाजवादी निर्माण के लिए मितव्ययिता बेहद महत्वपूर्ण है। चीन न केवल एक बड़ा देश है, बल्कि यह आर्थिक रूप से पिछड़ा और गरीब देश है, एक विकासशील देश है। जैसा कि अध्यक्ष माओ ने कहा है, ''हम बड़े पैमाने पर निर्माण करना चाहते हैं, लेकिन हमारा देश अब भी बहुत गरीब है—यह एक अन्तरविरोध है। इसे हल करने का एक तरीका यह है कि हर क्षेत्र में सख्ती से किफायतशारी बरतने के लिए निरंतर प्रयास किये जाएं।''[2]

इसलिए अध्यक्ष माओ ने सारी जनता का आह्वान किया कि वह ''कारखानों को अध्यवसाय और मितव्ययिता के साथ चलाएं, दुकानों को अध्यवसाय के साथ चलाएं, सभी राजकीय उद्यमों और सहकारी उद्यमों को अध्यवसाय और बचत का सिद्धांत हर चीज पर लागू होना चाहिए। यही

मितव्ययिता का सिद्धान्त है।''[3]

उत्पादन की अगली कतारों में संघर्षरत मजदूर और गरीब तथा निम्न मध्यवर्गीय किसान अध्यक्ष माओ के निर्देशों पर पूरा ध्यान देते हैं। वे मितव्ययिता के महत्व को समझते हैं। मेहनतकश जनता इसे बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त करती है, ''बचत के बिना अध्यवसाय का मतलब है मेहनत की बर्बादी।'' केवल अध्यवसाय और कमखर्ची के द्वारा ही मेहनतकश जनसमुदाय समृद्धि का निर्माण कर सकते हैं और चीन जल्दी ही एक मजबूत समाजवादी देश बन सकता है। साथ ही, हमारे देश को अपनी अंतरराष्ट्रीय जिम्मेदारियां भी पूरी करनी होती हैं। घरेलू बचत बढ़ाकर ही हम विश्व क्रान्ति के लिए ज्यादा योगदान कर सकते हैं।

अध्यक्ष माओ ने कहा है, ''हमारे देश के सभी 60 करोड़ लोगों को उत्पादन बढ़ाने व बचत करने, तथा फिजूलखर्ची और बर्बादी रोकने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह केवल आर्थिक रूप से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक रूप से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।[4] अध्यवसाय और मितव्ययिता हमेशा से सर्वहारा और मेहनतकश जनसमुदाय के गुण रहे हैं। माओ त्से-तुङ् की क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में चीन की व्यापक जनता अध्यवसाय और मितव्ययिता का पालन करती है। यह एक आम आदत बन गई है। आडम्बरपूर्ण दिखावा और फिजूलखर्ची बुर्जुआ और सभी शोषक वर्गों का जहर है। शाहखर्ची और बर्बादी शोषक वर्गों की प्रकृति का अंग है। अपने गुरु कनफ्यूशियस की तरह ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ गुटों में ऐसे ही लोग थे जिन्होंने कभी अपने हाथों से काम नहीं किया था और जो धान व मोथे के बीच फर्क नहीं बता सकते थे। वे ''अध्यवसाय और मितव्ययिता के साथ देश के निर्माण'' की अध्यक्ष माओ की नीति से नफरत करते थे। निर्माण कार्यों में उन्होंने ''बड़ी, विदेशी और ग्लैमर वाली'' परियोजनाओं को प्राथमिकता दी। संसाधनों के प्रबंधन में उन्होंने वह तरीका अपनाया है जिसे ''उदार बजट और उदार व्यय'' कहा गया है। कार्रवाइयों के समग्र प्रबंधन में वे यह तर्क देने की हद तक चले गये कि ''अगर तीन वर्ष तक भी लेखा-जोखा नहीं लिया जाता तो भी हमें धन के विदेश चले जाने की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।'' उनका अपराधिक इरादा क्रान्तिकारी कतारों में कमजोर संकल्प वाले लोगों का दृष्टिकोण भ्रष्ट करके राष्ट्रीय संसाधनों की बर्बादी, समाजवाद को कमजोर करने, सर्वहारा अधिनायकत्व के विरुद्ध षडयंत्र करने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने का था। इसलिए, किफायतशारी बरतने और बर्बादी रोकने के जरिए हम न केवल समाजवादी निर्माण को तेज करेंगे बल्कि ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ जैसे लोगों पर एक जबर्दस्त राजनीतिक वार भी करेंगे। यह दिशा अपने आप में पाम्परिक अवधारणाओं और रूढ़िवादी सोच की विस्तृत आलोचना भी है। हमें सचेतन तौर पर बुर्जआ विचारधारा के हमलों और इसके क्षरणकारी प्रभावों का प्रतिरोध करना चाहिए और सर्वहारा की गौरवशाली परम्पराओं को आगे बढ़ाना चाहिए। यानी हमें जोश के साथ नये उद्यमों की स्थापना करनी चाहिए और अध्यवसाय तथा मितव्ययिता से काम करना चाहिए। ''हमें अपने सभी युवाओं को यह समझने में मदद करनी चाहिए कि हमारा देश अब भी बेहद गरीब है, कि हम थोड़े से समय में इस स्थिति को मूलभूत रूप से बदल नहीं सकते और नई पीढ़ी तथा सारी जनता के एकजुट प्रयासों और कड़ी मेहनत से ही चीन कुछ दशकों में मजबूत और समृद्ध बन सकता है।''[5]

समाजवादी व्यवस्था मितव्ययिता का मार्ग प्रशस्त करती है

समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण की यह वस्तुगत मांग होती है कि हम किफायतशारी पर सख्ती से अमल करें, लेकिन साथ ही समाजवादी व्यवस्था खुद मितव्ययिता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। समाजवादी समाज में, मेहनतकश जनता ही स्वामी होती है। जनशक्ति, भौतिक संसाधनों और धन की अधिकतम सम्भव बचत करने का अंतिम उद्देश्य सर्वहारा और जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। इसलिए बचत पर सख्ती से अमल करना मेहनतकश जनसमुदाय के मूलभूत हितों के अनुकूल है और इसलिए मितव्ययिता व्यापक मेहनतकश अवाम की सचेतन गतिविधि बन सकती है। जब एक बार जनता का समाजवादी उत्साह जागृत हो जाता है तो मितव्ययिता के सभी उपाय लागू किये जाते हैं। भौतिक संसाधनों के पूरे इस्तेमाल के लिए भंडारगृहों और गोदामों के स्टाक की पूरी सूची बनायी जाती है। अप्रयुक्त उपकरणों के पूरे इस्तेमाल के लिए तकनीकी सुधार किये जाते हैं, श्रम शक्ति के पूरे इस्तेमाल के लिए श्रम संगठन और काम की पद्धतियों में सुधार किया जाता है और ''कचरे'' तथा ''फालतू'' को उपयोगी व मूल्यवान चीजों में तब्दील करने के लिए अभियान चलाए जाते हैं। उदाहरण के लिए चीन में नार्थईस्ट फार्मास्युटिकल्स के मुख्य संयंत्र ने बहुउद्देशीय उपयोग के ऐसे अभियान के लिए लोगों को गोलबंद किया। मेहनतकश आबादी और तकनीशियन ठोस, द्रव और गैसीय कचरे के इस्तेमाल के तरीके ढूंढ़ने में लग गये। परिणामस्वरूप वहाँ कई नये उत्पाद सामने आये। पीकिङ की मुख्य डिस्टलरी पहले सिर्फ शराब का उत्पादन करती थी। उत्पादन बढ़ाने और सख्ती से बचत करने के लिए एक जन अभियान छेड़ने के बाद संयंत्र के तीन तरह के कचरे से कई नये उत्पाद बनने लगे। यह एक ऐसा उद्यम बन गया जो विविध प्रकार की चीजों का उत्पादन करता था। व्यापक मेहनतकश आबादी हजारों तरीकों से मितव्ययिता का पालन करती है। पूंजीवादी समाज में यह सम्भव नहीं है। पूंजीवाद के तहत, पूंजीपति सिर्फ अपने उद्यम के भीतर मितव्ययिता का पालन करता है। उसका उद्देश्य होता है लागत को कम से कम करना और अधिकतम अतिरिक्त मूल्य निचोड़ना। उसकी मितव्ययिता का असल उद्देश्य मजदूर के शोषण को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना होता है। मार्क्स ने कहा है, ''संचलन (सर्कुलेशन) की प्रक्रिया तथा प्रतिस्पर्धा की ज्यादातियों से अलग करके देखें तो पूंजीवादी उत्पादन मालों में शामिल मूर्त श्रम की दृष्टि से काफी कम खर्चीला होता है। लेकिन उत्पादन की किसी भी अन्य पद्धति के मुकाबले यह इंसानी जिन्दगियों यानी जीवित श्रम की, और केवल हाड़-माँस की नहीं बल्कि दिलो-दिमाग की भी बर्बादी करता है।''[6] पूंजीपति की तथाकथित मितव्ययिता से मेहनतकश अवाम नफरत करता है और वह इसका जमकर प्रतिरोध करता है।

समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व के तहत मितव्ययिता का नियम न केवल विभिन्न उद्यमों के भीतर बल्कि पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में भूमिका निभाता है, जो ज्यादा महत्वपूर्ण बात है। समाजवादी अर्थव्यवस्था नियोजित अर्थव्यवस्था होती है। ''एक सुनिश्चित सामाजिक योजना के अनुसार श्रमकाल का बंटवारा अलग-अलग तरह के कामों और समाज की विभिन्न जरुरतों के बीच उचित अनुपात बनाये रखता है।'' [7] राष्ट्रीय आर्थिक योजना के जरिए समाजवादी देश श्रमशक्ति, भौतिक संसाधनों और धन का तार्किक ढंग से उपयोग कर सकता है, उत्पादन और वितरण को केन्द्रीय रूप से संगठित कर सकता है, पूरे देश में समाजवादी सहकार लागू कर सकता है और अलग-अलग उद्यमों की मितव्ययिता को पूरे समाज की मितव्ययिता से जोड़ सकता है। पूंजीवाद में, विभिन्न उद्यमों के बीच प्रतिस्पर्धा और सामाजिक उत्पादन की अराजकता के कारण पूरे समाज में व्यवस्थित ढंग से किफायतशारी लागू करना बुनियादी तौर पर सम्भव ही नहीं होता। खास तौर पर, बीच-बीच में आने वाले व्यापारिक मंदी और संकट के दौरों के कारण जनशक्ति, भौतिक संसाधनों और धन की बड़े पैमाने पर बर्बादी होती है। मार्क्स ने कहा है, ''पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली एक ओर तो अलग-अलग उद्यमों में किफायतशारी लागू करती है, लेकिन दूसरी ओर, प्रतिस्पर्धा की अपनी अराजक व्यवस्था के कारण श्रमशक्ति और उत्पादन के सामाजिक साधनों की भयंकर बर्बादी करती है।''[8]

हालांकि समाजवादी व्यवस्था ने मितव्ययिता के लिए रास्ता खोल

दिया है, पर यदि इसे वास्तविकता में बदलना है तो हमें आम जनता और कार्यकर्ताओं को विचारधारात्मक एवं राजनीतिक लाइन की शिक्षा देनी होगी, बर्बादी के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना होगा, और अध्यवसाय, मितव्ययिता तथा कठिन संघर्ष के जरिए देश के निर्माण के विचार को लोगों के दिलो-दिमाग में बैठाना होगा। साथ ही, हमें विचारधारात्मक और राजनीतिक काम को संश्लिष्ट आर्थिक काम से जोड़ना होगा और ऐसे काम को चलाने के लिए नियम-विधानों की तर्कसंगत पद्धतियां स्थापित करनी होंगी। विभिन्न उद्यमों में तथा समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक लेखा को सुदृढ़ करना और आर्थिक लेखा के आधार पर समाजवादी उद्यमों का संचालन मितव्ययिता के सिद्धांत पर अमल के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं।

आर्थिक लेखा ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है

ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणाम हासिल करने के लिए आर्थिक लेखा का इस्तेमाल करो

आर्थिक लेखा के तहत उत्पादन (या प्रबंधन) प्रक्रिया में उत्पादक उपभोग* तथा उत्पादक परिणाम के अंकन, आकलन, विश्लेषण तथा तुलनात्मक अधययन की गतिविधियाँ आती हैं। इसे आम तौर पर हिसाब-किताब रखना या बैलेंसशीट तैयार करना कहते हैं। उत्पादन के लिए संघर्ष के दौरान लोगों ने बहुत पहले ही आर्थिक लेखा के इस्तेमाल का महत्व समझ लिया था। भारत में आदिम कम्यून में खेती तथा उससे जुड़ी सभी घटनाओं को दर्ज करने के लिए एक व्यक्ति तय होता था।[9] मार्क्स ने बुर्जआ अर्थशास्त्रियों के बीच लोकप्रिय राबिन्सन क्रूसो की कहानी के माध्यम से उत्पादन प्रक्रिया में हिसाब-किताब की आवश्यकता समझायी है, '' कम ही सही, लेकिन उसे कुछ अपनी कुछ आवश्यकताएं तो पूरी करनी ही थीं, और इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के उपयोगी काम, जैसे औजार और फर्नीचर बनाना, बकरियां पालना, मछली मारना, शिकार करना आदि करने पड़ते थे। ....आवश्यकता उसे बाध्य करती है कि वह अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों के बीच समय का बंटवारा सटीक ढंग से करे। .... उसकी हिसाब की कापी में उसके पास मौजूद उपयोगी सामानों की सूची, उनके उत्पादन के लिए आवश्यक कार्रवाई का ब्योरा और अन्त में इन सामानों की अलग-अलग मात्रा के उत्पादन में खर्च हुए उसके श्रमकाल की सूची दर्ज है।''[10] उत्पादन प्रक्रिया जितनी अधिक समाजीकृत होती है, आर्थिक लेखा की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जाती है। ''दस्तकारी और किसानी अर्थव्यवस्था के बिखरे हुए उत्पादन के मुकाबले पूंजीवादी उत्पादन में हिसाब-किताब रखना ज्यादा जरूरी होता है और पूंजीवादी उत्पादन के मुकाबले सामूहिक उत्पादन में और भी जरूरी होता है।''[11]

अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाओं में आर्थिक लेखा का रूप, अंतर्वस्तु और सामाजिक परिणाम अलग-अलग होते हैं। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति न्यूनतम सम्भव पूंजी निवेश कर अधिकतम सम्भव मात्रा में अतिरिक्त मूल्य निचोड़ने के लिए आर्थिक लेखा का इस्तेमाल करता है। यह लेखा जितनी ही सख्ती से लागू होता है, उतनी ही ज्यादा पूंजी बचती है, भाड़े के श्रम का शोषण उतना ही निर्मम होता जाता है और मेहनतकश अवाम की गरीबी उतनी ही बढ़ती जाती है। समाजवादी समाज में आर्थिक लेखा पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित नहीं करता। इसके बजाय यह समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को अभिव्यक्त करता है। समय की बचत को बढ़ावा देकर समाजवादी आर्थिक लेखा समाजवादी उत्पादन की निर्बाध वृद्धि को प्रोत्साहित करता है और इस तरह राज्य तथा जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती जरूरतों को बेहतर ढंग से पूरा करने में मदद करता है।

किफायतशारी को सख्ती से लागू करने के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में समाजवादी आर्थिक लेखा चौतरफा बचत की मांग करता है। इसकी मांग होती है कि ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी अर्थव्यवस्था के चतुर्दिक विकास को एकीकृत समग्र के रूप में देखा जाए। उत्पादन में यदि हम मितव्ययिता बरतें, कच्चे माल, ईधन और श्रम की खपत घटाएं और इस तरह लागत कम कर दें तो उतने ही श्रम, कच्चे माल तथा धन से अधिक उत्पादन किया जा सकता है। उत्पादों तथा परियोजनाओं के डिजाइन में सुधार तथा गैर जरूरी क्रिया-विधियों व कामों को छांट देने से उत्पाद तैयार होने और निर्माण परियोजनाओं के पूरा होने के लिए आवश्यक समय कम हो सकता है, जीवित तथा मूर्त श्रम की खपत घट सकती है तथा उत्पादन व निर्माण की रफ्तार तेज हो सकती है। महंगे और खराब गुणवत्ता के कच्चे मालों के इस्तेमाल से उत्पादन लागत घटाकर उत्पादों और परियोजनाओं की गुणवत्ता बढ़ाई जा सकती है। हमें इन अलग-अलग तत्वों को एक-दूसरे के विरूद्ध नहीं समझना चाहिए। लेकिन साथ ही, इनमें अंतरविरोध का भी पहलू है। यदि हम इन तत्वों के बीच अंतरविरोध के पहलू की अनदेखी करेंगे और एकांगी ढंग से बचत पर जोर देंगे—जो कि अंततः उत्पादों और परियोजनाओं की गुणवत्ता को प्रभावित करेगा—तो परिणाम न केवल ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, व ज्यादा बेहतर नहीं होंगे बल्कि वास्तव में ज्यादा किफायती भी नहीं होंगे। इसके बजाय और भी ज्यादा बर्बादी होगी।

मेहनतकश जनता आर्थिक लेखा में माहिर होती है

समाजवादी आर्थिक लेखा मितव्ययिता को सख्ती से लागू करने और समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। लेकिन इसे व्यापक मेहनतकश जनता की सचेतन सक्रियता पर भरोसा करके ही सम्भव बनाया जा सकता है। यह पूंजीवादी आर्थिक लेखा से एकदम भिन्न स्थिति है। चूंकि पूंजीवादी उद्यम में आर्थिक लेखा बुजुर्आ वर्ग की सेवा करता है और मेहनतकश जनता के हितों के विरूद्ध होता है, इसलिए आर्थिक लेखा महज पूंजीपति द्वारा नियुक्त कुछ विशेषज्ञों का ही काम होता है। समाजवादी आर्थिक लेखा मेहनतकश जनता की सेवा करता है और उसके बुनियादी हितों के अनुकूल होता है। इसलिए समाजवादी उद्यम में आर्थिक लेखा महज कुछ विशेषज्ञों का काम नहीं होता बल्कि यह एक ऐसी आर्थिक गतिविधि होती है जिसमें मेहनतकश जनता की सचेतन भागीदारी होती है।

विशेषज्ञों द्वारा आर्थिक लेखा और जनता द्वारा आर्थिक लेखा को मिलाना समाजवादी व्यवस्था में एक आवश्यकता होती है और वह इसे वस्तुगत रूप से सम्भव भी बनाती है। चीन का अनुभव यह दिखाता है कि आर्थिक लेखा अच्छी तरह करने के लिए जनता की भागीदारी जरूरी है। विशेषज्ञों द्वारा आर्थिक लेखा को जनता के लेखा पर आधारित होना चाहिए। उत्पादन के मोर्चे पर लम्बे और कठिन संघर्ष के दौरान अर्जित व्यावहारिक अनुभव के कारण व्यापक मेहनतकश अवाम उत्पादन की अपनी स्थितियों से अच्छी तरह परिचित होता है। वे सभी तरह जानते हैं कि कहां-कहां बर्बादी होती है और और कहां मितव्ययिता को और बढ़ाया जा सकता है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि कुशलता बढ़ाने के लिए तकनीकों में सुधार कैसे किया जाए, और ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणाम हासिल करने के लिए श्रम लागत, भौतिक संसाधनों और धन की गणना कैसे की जाए।

* उत्पादक या औद्योगिक उपभोग का मतलब उत्पादन प्रक्रिया में मशीनरी, कच्चे माल, अर्द्ध निर्मित मालों आदि का उपयोग (खपत) होता है।

चीन के समाजवादी उद्यमों में सामूहिक लेखा, आर्थिक देख-रेख के लिए संगठन, तथा आर्थिक गतिविधियों के विश्लेषण के लिए सम्मेलन आर्थिक लेखा के ऐसे कुछ बेहतर रूप हैं जो जनता द्वारा वित्तीय प्रबंधन अपने हाथ में लेने और मेहनतकश जनता एवं विशेषज्ञों के अलग-अलग ढंग से हुए मेल के परिणामस्वरूप सामने आये हैं। समाजवादी उद्यमों में, जनसाधारण, खुद अपने स्वामी के रूप में, सामूहिक लेखा, आर्थिक गतिविधियों के विश्लेषण और वित्तीय प्रबंधन में भाग लेते हैं। इस तरह, आर्थिक लेखा ने केवल ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणाम हासिल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, बल्कि यह नेतृत्वकारी कर्मियों और आम कार्यकर्ताओं पर भी यह दबाव बनाये रखता है कि वे पार्टी की आम लाइन और इसकी आम एवं विशिष्ट नीतियों के अनुसार काम करें ताकि उद्यम समाजवादी मार्ग पर आगे बढ़ता रहे।

समाजवादी आर्थिक लेखा में विशेषज्ञों का इस्तेमाल करना बहुत जरूरी है। किसी उद्यम के विभिन्न वर्कशापों और विभागों की जानकारी लेते रहने के कारण विशेषज्ञ पूरे उद्यम की स्थिति से परिचित हो सकते हैं और अनेक विविध आर्थिक गतिविधियों को नेतृत्व दे सकते हैं। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। विशेषज्ञों को उत्पादन के निचले स्तरों तक जाना चाहिए, उन्हें जनता पर पूरा भरोसा करना चाहिए, जॉच और शोध को बढ़ाना चाहिए, जनता की सृजनात्मकता का सम्मान करना चाहिए और उत्पादन प्रक्रिया के दौरान पैदा होने वाली आर्थिक लेखा की समस्याओं को अविलम्ब हल करना चाहिए। इसी ढंग से वे अपनी सही भूमिका निभा सकते हैं।

आर्थिक लेखा की प्रणाली समाजवादी उद्यम के प्रबंधन की एक प्रणाली है

आर्थिक लेखा की प्रणाली राज्य और राजकीय उद्यमों के बीच के सम्बन्धों तथा राजकीय उद्यमों के आपसी सम्बन्धों को मूर्त करती है

समाजवादी देश में समाजवादी राजकीय अर्थव्यवस्था की स्थापना होने के बाद राजकीय उद्यमों का प्रबंधन कैसे किया जाना चाहिए ?

राजकीय अर्थव्यवस्था समस्त मेहनतकश जनता की सम्पत्ति होती है। समाजवादी राज्य समस्त मेहनतकश जनता के प्रतिनिधि के तौर पर राजकीय अर्थव्यवस्था का नियंत्रण और प्रबंधन करता है। समाजवादी राज्य राजकीय उद्यमों के लिए उत्पादन लक्ष्य और कार्य योजनाएं तय करता है तथा उनके उत्पादन व आय का केन्द्रीय स्तर पर आवंटन इस ढंग से करता है जिससे राज्य तथा जनता की आवश्यकताएं सही ढंग से पूरी हों।

क्या अर्थव्यवस्था के राजकीय प्रबंधन का यह मतलब होता है कि अनेक राजकीय उद्यमों में कोई सापेक्षिक स्वतंत्रता नहीं होती ? क्या इसका यह मतलब होता है कि उत्पादन के सभी साधन तथा मजदूरों के वेतन आदि के लिए धन राजकीय उद्यम को मुफ्त उपलब्ध कराया जाता है, राजकीय उद्यम के सभी उत्पाद राज्य को बिना किसी भुगतान के सौंप दिये जाते हैं और राजकीय उद्यमों में नफा-नुकसान का कोई स्वतंत्र लेखा-जोखा नहीं होता? इस किस्म की उद्यम प्रबंधन प्रणाली, जिसे ''फ्री सप्लाई सिस्टम'' कहते हैं, एक बार लागू हो चुकी है। सोवियत संघ में 1918 से 1920 की अवधि में राजकीय उद्यम प्रबंधन की यह प्रणाली अपनायी गई थी और युद्ध कम्युनिज्म की ऐतिहासिक स्थितियों में यह जरूरी भी थी। लेकिन समाजवाद के निर्माण की आम स्थितियों में यह व्यवहार्य नहीं है। मुफ्त आपूर्ति प्रणाली में नफा-नुकसान का स्वतंत्र लेखा नहीं होने से यह पता लगाना मुश्किल होगा कि उत्पादन और कार्रवाई की प्रक्रिया में कहां-कहां अकुशलता या बर्बादी हो रही है। नतीजतन, राजकीय उद्यमों के मजदूरों को इन उद्यमों को चलाने की जिम्मेदारी सम्भालने के लिए गोलबंद करने के लिए स्थितियां अनुकूल नहीं होंगी और मितव्ययिता के सिद्धान्त को लागू करना इन स्थितियों में कठिन होगा।

तब क्या राजकीय उद्यमों को अपने नफा-नुकसान के लिए स्वतंत्र जिम्मेदारी दी सकती है ? यह तो और भी कम व्यावहारिक होगा। यदि इस प्रणाली को लागू किया गया तो समस्त जनता के स्वामित्व की समाजवादी प्रणाली महज नाम के लिए रह जाएगी। यह भ्रष्ट होकर उद्यम-स्वामित्व की प्रणाली, छोटे-छोटे ग्रुपों के स्वामित्व की प्रणाली और अन्ततः पूंजीवादी स्वामित्व की प्रणाली में बदल जाएगा।

समाजवादी समाज में राज्य द्वारा उद्यमों के आर्थिक प्रबंधन के लिए आर्थिक लेखा की एक प्रणाली का होना एक वस्तुगत आवश्यकता है। आर्थिक लेखा प्रणाली है क्या ? सरल रूप में, यह एक ऐसी आर्थिक प्रबंध प्रणाली है जो राज्य के केन्द्रीय नेतृत्व को सुनिश्चित करने के साथ-साथ उद्यमों को काम करने की सापेक्षिक आजादी भी देती है।

अध्यक्ष माओ ने 1942 में ही राजकीय अर्थव्यवस्था के सभी सेक्टरों में आर्थिक लेखा की प्रणाली लागू करने के अपने निर्देश में ''नेतृत्व में केन्द्रीयता और प्रबंधन में विकेन्द्रीकरण'' का सिद्धान्त दिया था। केन्द्रीकृत नेतृत्व का अर्थ केन्द्रीय लाइन, निर्देशों और नीतियों के अनुसार राजकीय उद्यम का नियोजित प्रबंधन है। ठोस स्थितियों की रोशनी में उद्यमों को विविधता, मात्रा गुणवत्ता, उत्पाद मूल्य, श्रम उत्पादकता, लागत तथा लाभ को ध्यान में रखकर अलग-अलग लक्ष्य दिये जाते हैं। उद्यम को राज्य के प्रति जवाबदेह होना होता है और उसे राजकीय योजना में निर्धारित लक्ष्य पूरे करने होते हैं। विकेन्द्रीकृत प्रबंधन का अर्थ होता है कि राज्य राजकीय उद्यम को उसकी आवश्यकतानुसार कोष मुहैया कराता है और वह उद्यम खुद अपने उत्पादन, आपूर्ति और विपणन गतिविधियों का संगठन करता है। लेकिन ऐसा उसे राज्य द्वारा दिये गये योजना कार्यभार के आधार पर ही करना होता है। हरेक राजकीय उद्यम के पास काम करने की एक निश्चित सापेक्षिक स्वतंत्रता होती है। हरेक उद्यम को स्वतंत्र रूप से गणना करके अपने हानि-लाभ का हिसाब करना चाहिए और हरेक को अपनी आय से खर्च को पूरा करने के बाद राज्य के संचित कोष में योगदान करना चाहिए। केन्द्रीय राजकीय नेतृत्व के तहत विकेन्द्रीकृत प्रबंधन के लिए जरूरी होता है कि राजकीय उद्यम उत्पादन और कार्रवाई के प्रबंधन में सुधार करें, आर्थिक लेखा को मजबूत करें और राजकीय योजना के पूरा होने की गारंटी करें। दूसरी ओर, राज्य को ऐसी आवश्यक स्थितियां निर्मित करनी चाहिए जिनमें राजकीय उद्यम उत्पादन और कार्रवाई में सुधार कर सकें। उदाहरण के लिए, उत्पादन योजनाएं समय से घोषित की जानी चाहिए और कच्चे मालों की आपूर्ति तथा व्यापक समाजवादी सहयोग को उचित ढंग से संगठित किया जाना चाहिए। आर्थिक लेखा प्रणाली के जरिए राज्य द्वारा राजकीय उद्यम का प्रबंधन राज्य द्वारा राजकीय उद्यम पर केन्द्रीकृत नेतृत्व को सुनिश्चित करता है और साथ ही उद्यम द्वारा काम करने में समाजवादी पहलकदमी को भी सम्भव बनाता है। यह व्यवस्था अत्यधिक नियंत्रण से भी बचाती है जो उद्यम के स्तर पर आर्थिक लेखा के अनुकूल नहीं होता, और उद्यम की अत्यधिक स्वतंत्रता पर भी अंकुश रखती है जो स्वच्छन्द कार्रवाई की बुर्जुआ प्रवृत्ति तक ले जा सकती है।

आर्थिक लेखा प्रणाली के तहत राजकीय उद्यमों के बीच आर्थिक सम्बन्ध संयुक्त सहयोग और स्वतंत्र लेखा के रूप में होते हैं। राजकीय उद्यम सर्वहारा तथा समस्त मेहनतकश जनता की सम्पत्ति होते हैं। वे केवल सामाजिक श्रम विभाजन द्वारा ही नहीं बल्कि इस तथ्य द्वारा भी एक-दूसरे से जुड़े होते हैं कि उनके स्वामी एक ही होते हैं और उनमें आपसी समन्वय तथा अपनी पहलकदमी पर घनिष्ठ सहयोग एक वस्तुगत आवश्यकता होती है। ये उद्यम निजी स्वामित्व पर आधारित पूंजीवादी उद्यमों से बुनियादी रूप से भिन्न होते हैं। हालांकि आर्थिक लेखा प्रणाली लागू करने की

परिस्थितियों के तहत, राजकीय उद्यम सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र प्रबंधन वाली इकाइयां भी होते हैं। इसलिए, जब राजकीय उद्यमों के बीच जनशक्ति, भौतिक संसाधनों और धन का विनिमय होता है, तो न केवल कम्युनिज्म की सहकारी शैली को प्रोत्साहित करना जरूरी होता है, बल्कि समान मूल्यों के विनिमय के सिद्धान्त का पालन करना और हिसाब-किताब रखना भी जरूरी होता है, ताकि आर्थिक प्रभावों की गणना की जा सके।

आर्थिक लेखा प्रणाली के तहत राज्य तथा राजकीय उद्यमों के बीच के सम्बन्ध आपसी और राजकीय उद्यमों के बीच के आपसी सम्बन्ध सैकड़ों हजार राजकीय उद्यमों को घनिष्ठता से सहयोग करने और एक एकीकृत समग्र के रूप में समन्वित ढंग से उत्पादन संगठित करने का, तथा साथ ही अपनी अलग-अलग प्रबंधकीय जिम्मेदारी और पहलकदमी के अनुसार काम करने का अवसर प्रदान करते हैं। लेनिन ने एक जगह लिखा है : ''ट्रस्टों और फैक्टरियों को इसीलिए आत्मनिर्भर आधार पर खड़ा किया गया है, कि उनके उद्यमों के बिना घाटा उठाये चलते रहने के लिए वे ही, पूरी तरह, जिम्मेदार हों।''[12] कुछ लोग सोचते हैं : जब सभी राजकीय उद्यम राज्य की सम्पत्ति हैं, तो उनके लिए इतनी परिष्कृत लेखा प्रणाली लागू करना क्यों जरूरी है? आर्थिक लेखा प्रणाली को खारिज करने वाला यह विचार मितव्ययिता के समाजवादी सिद्धान्त का उल्लंघन करता है। समाजवादी समाज में, उत्पादन का विस्तार और किफायतशारी पर सख्ती से अमल मुख्यत: पार्टी के विचारधारात्मक एवं राजनीतिक काम पर, कार्यकर्ताओं तथा जनता की चेतना का स्तर ऊपर उठाने की इसकी क्षमता पर निर्भर करता है। लेकिन कार्रवाई और प्रबंधन की दृष्टि से जिम्मेदारी की एक प्रणाली स्थापित करना भी जरूरी है। यदि आर्थिक लेखा प्रणाली लागू नहीं की जाती है, तो प्रबंधकीय कर्मियों की काम की जिम्मेदारी को सुनिश्चित करना मुश्किल होगा, जिसके परिणामस्वरूप जनशक्ति, भौतिक संसाधनों और धन की खासी बर्बादी होगी।

ग्रामीण जन कम्यूनों में आर्थिक लेखा प्रणाली के जरिए प्रबंधन सुदृढ़ करो

आर्थिक लेखा के माध्यम से प्रबंधन को लागू करना केवल राजकीय अर्थव्यवस्था में ही नहीं बल्कि सामूहिक अर्थव्यवस्था में भी बेहद जरूरी होता है। मेहनतकश जनता के समाजवादी सामूहिक स्वामित्व की अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन और उत्पाद हरेक सामूहिक आर्थिक संगठन के होते हैं। हरेक सामूहिक आर्थिक संगठन एक लेखा इकाई होती है। यह राजकीय योजना के निर्देशन में उत्पादन संगठित करता है और राज्य द्वारा निर्धारित मूल्यों पर मालों को बेचता है। यह स्वतंत्र रूप से काम करता है और अपने हानि तथा लाभ के लिए खुद जिम्मेदार होता है। उत्पादन और आय का वितरण सामूहिक के भीतर चलता है। साथ ही, करों के जरिए राजकीय कोष के लिए योगदान किया जाता है। समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एक एकीकृत समग्र होती है। राज्य द्वारा तैयार एकीकृत राष्ट्रीय आर्थिक योजना में राजकीय अर्थव्यवस्था ही नहीं, सामूहिक अर्थव्यवस्था भी शामिल होती है। सामूहिक अर्थव्यवस्था में उपयुक्त आर्थिक लेखा प्रणाली के साथ प्रबंधन लागू करने और सामूहिक अर्थव्यवस्था की हरेक इकाई द्वारा आर्थिक लेखा को सुदृढ़ करने से समग्रता में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को तो लाभ होगा ही, सामूहिक अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण और विकास में भी मदद होगी।

मेहनतकश जनता के सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली के तहत चीन की समाजवादी अर्थव्यवस्था कृषि, उद्योग (दस्तकारी उद्योग सहित), यातायात और वाणिज्य के क्षेत्र में मौजूद है। लेकिन कृषि में यह सबसे महत्वपूर्ण है। यहां हम मुख्यत: ग्रामीण जन कम्यून की सामूहिक अर्थव्यवस्था में आर्थिक लेखा प्रणाली के जरिए प्रबंधन को सुदृढ़ करने पर चर्चा करेंगे।

इस समय चीन के ग्रामीण जन कम्यून में कम्यून, उत्पादन बिग्रेड और उत्पादन टीम के त्रिस्तरीय स्वामित्व की प्रणाली का इस्तेमाल होता है। कम्यून, ब्रिगेड और उत्पादन टीम, ये सभी अपना-अपना लेखा रखने वाली इकाइयां हैं जो स्वतंत्र रूप से काम करती हैं और अपने-अपने हानि तथा लाभ के लिए जिम्मेदार होती हैं। कम्यून, उत्पादन ब्रिगेड और उत्पादन टीम के बीच वित्तीय कारोबार तथा भौतिक संसाधनों एवं श्रमशक्ति का आवंटन ''स्वैच्छिक और परस्पर लाभप्रद आधार पर समतुल्यों के विनिमय'' के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए।

सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली के तहत ग्रामीण जन कम्यून की अर्थव्यवस्था में आर्थिक लेखा प्रणाली के जरिए प्रबंधन को कम्यून-संचालित उद्यमों में कम्यून द्वारा और ब्रिगेड-संचालित उद्यमों में ब्रिगेड द्वारा लागू किया जाता है। कम्यून और ब्रिगेड अपने-अपने उद्यमों में केन्द्रीकृत नेतृत्व लागू करते हैं। वे हरेक उद्यम को निश्चित मात्रा में धन आवंटित करते हैं और यह मांग करते हैं कि इस धन का इस्तेमाल जिम्मेदाराना ढंग से किया जाये ताकि राज्य, कम्यून और ब्रिगेड द्वारा उन्हें दिये गये उत्पादन योजना-लक्ष्य पूरे हो सकें। उनसे यह तकाजा किया जाता है कि वे अपना खर्च अपनी आमदनी से पूरा करें और कम्यून तथा ब्रिगेड द्वारा निर्धारित संचय-लक्ष्य को पूरा करें या उससे ज्यादा योगदान करें। कम्यून एवं ब्रिगेड-संचालित उद्यमों के विकास और विभिन्न स्तरों पर सामूहिक अर्थव्यवस्था के विकास के साथ जन कम्यून की ज्यादा से ज्यादा इकाइयां आर्थिक लेखा प्रणाली के जरिए प्रबंधन अपना रही हैं और इसे उत्तरोत्तर सुदृढ़ किया जाना चाहिए।

उत्पादन टीम एक बुनियादी लेखा इकाई है जो स्वतंत्र रूप से काम करती है। उत्पादन टीम के सामूहिक कोष का आवंटन उत्पादन ब्रिगेड या कम्यून द्वारा नहीं किया जाता है। यह उत्पादन टीम के सदस्यों के योगदान और संचय से आता है। सामूहिक अर्थव्यवस्था का विकास करने में उत्पादन टीम को कम्यून और ब्रिगेड द्वारा नेतृत्व, मदद और समर्थन दिया जाना चाहिए। वे कम्यून या ब्रिगेड की अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए उत्पादन टीम के कोष का इस्तेमाल नहीं कर सकते हैं। उत्पादन ब्रिगेड और उत्पादन टीम के बीच, आर्थिक लेखा प्रणाली द्वारा प्रबंधन का सम्बन्ध नहीं होता है। यानी, उत्पादन टीम के लाभ या हानि की अंतिम जिम्मेदारी उत्पादन ब्रिगेड की नहीं होती। टीमें अपने लाभ या हानि के लिए खुद ही जिम्मेदार होती हैं।

हालांकि कम्यून, उत्पादन ब्रिगेड और उत्पादन टीम के बीच आर्थिक लेखा प्रणाली द्वारा प्रबंधन का सम्बन्ध नहीं होता है, लेकिन उत्पादन टीम को भी आर्थिक लेखा अपनाना चाहिए। उत्पादन टीम में आर्थिक लेखा के तहत मुख्यत: उत्पादन में पदार्थीकृत एवं जीवित श्रम की वार्षिक खपत की गणना, वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा रखना, खर्च एवं लागतों को घटाना, अनुत्पादक श्रम एवं अन्य ऐसे खर्चों से बचना और शाहखर्ची एवं बर्बादी का दृढ़ता से विरोध करना शामिल है। वित्तीय प्रबंधन की एक पक्की व्यवस्था कायम करना खास तौर पर जरूरी होता है। सभी वित्तीय खर्चे अनुमोदन की आवश्यक प्रक्रिया से गुजरने चाहिए। वित्तीय मामलों में जनवाद पर अमल होना चाहिए। सभी आने और जाने वाली वस्तुओं की जानकारी प्रति माह सदस्यों को दी जानी चाहिए। अत्यधिक खपत, चोरी और घाटे से बचने के लिए खाद्यान्न, भौतिक संसाधनों, धन और लेखा के लिए लोगों को अलग-अलग जिम्मेदारियां दी जानी चाहिए। आर्थिक लेखा सुदृढ़ होने और वित्तीय प्रबंधन प्रणाली में सुधार के बाद उत्पादन लागतें घटाई जा सकती हैं, तथा उत्पादन कोष में संचय एवं सदस्यों की आय बढ़ाई जा सकती है तब आम सदस्य सामूहिक अर्थव्यवस्था को ज्यादा प्यार करेंगे और इसके विकास एवं सुदृढ़ीकरण तथा स्वत:स्फूर्त पूंजीवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष करेंगे।

उपयोग मूल्य में गणना और मूल्य में गणना के बीच अन्तरविरोध को सही ढंग से हल करो

आर्थिक लेखा के जरिए प्रबंधन लागू करने वाली राजकीय अर्थव्यवस्था और सामूहिक अर्थव्यवस्था—दोनों में उत्पादन में खपत और उत्पादन प्रक्रिया के उत्पादक परिणामों की तुलना और गणना की जरूरत पड़ती है। समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया एक साथ प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया और मूल्य-सृजन प्रक्रिया दोनों होती है। प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया के रूप में, मजदूर, योजनाओं के अनुसार, विभिन्न उपयोग मूल्य सृजित करते हैं जो राज्य और जनता की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मूल्य-सृजन प्रक्रिया के रूप में, मजदूर, उत्पादन के साधनों और कच्चे मालों के पुराने मूल्य को उत्पादों में हस्तांतरित करने के साथ-साथ नये मूल्य भी सृजित करते हैं। इस तरह, उपयोग मूल्य के अनुसार गणना या लेखा (भौतिक खपत और भौतिक उत्पादन) तथा मूल्य के अनुसार गणना (या लेखा) समाजवादी आर्थिक लेखा के दो पहलू होते हैं।

उपयोग मूल्य के अनुसार गणना और मूल्य के अनुसार गणना में एकता और अन्तरविरोध दोनों पहलू होते हैं। उपयोग मूल्य, मूल्य का भौतिक वाहक है। आम तौर पर, किसी उत्पाद की ज्यादा मात्रा और उच्चतर गुणवत्ता ज्यादा मूल्य लाती है। इसलिए, आम तौर पर, यदि कोई उद्यम उत्पादों की विविधता, निर्धारित मानकों, उत्पादन की मात्रा और गुणवत्ता आदि के मामले में राज्य द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करता है, तो वह उत्पादन मूल्य, राज्य को समर्पित लाभ (राज्य को दे दिये गये लाभ) आदि के भी उपयोग मूल्य-लक्ष्यों को पूरा कर सकता है। यह उपयोग मूल्य में गणना और मूल्य में गणना के बीच एकता का पहलू है। लेकिन उपयोग मूल्य में गणना और मूल्य में गणना आखिर, दो अलग-अलग कोणों से की गई दो भिन्न किस्म की गणनाएं हैं, और इसलिए, उनमें अन्तरविरोध का पहलू भी होना ही चाहिए। राज्य द्वारा उद्यम को दिये गये मूल्य-लक्ष्य जैसे, उत्पादन मूल्य, समर्पित लाभ आदि संयुक्त लक्ष्य हैं (जो मुद्रा एवं दामों के परिमाण में अभिव्यक्त होते हैं)। दूसरी ओर राज्य द्वारा उद्यम को दिये गये उपयोग मूल्य-लक्ष्य जैसे, विविधता, उत्पादन की मात्रा आदि एक पृथक लक्ष्य के रूप में स्पष्टत: निर्धारित होते हैं। जब उद्यम कुल मिलाकर, उत्पादन मूल्य, समर्पित लाभ आदि के मूल्य-लक्ष्यों को पूरा कर लेता है, तो इसका अनिवार्यत: यह मतलब नहीं होता कि उसने विविधता, उत्पादन की मात्रा आदि के उपयोग मूल्य-लक्ष्यों को भी पूरा कर लिया है। इस प्रकार, आर्थिक लेखा की प्रक्रिया में उद्यम को प्राय: उपयोग मूल्य में गणना और मूल्य में गणना के बीच अन्तरविरोध का सामना करना पड़ता है।

उपयोग मूल्य में गणना और मूल्य में गणना के बीच के अन्तरविरोध को सही ढंग से हल करने के लिए, हमें सबसे पहले समाजवादी आर्थिक लेखा में मूल्य-श्रेणियों की प्रकृति की सही समझदारी होनी चाहिए।

समाजवादी आर्थिक लेखा प्रणाली में पूंजी कोष, उत्पादन लागतें, मुनाफा तथा अन्य मूल्य-श्रेणियां समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व से जुड़ी हुई हैं, इसलिए वे निश्चित उत्पादन-सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती हैं और पूंजीवादी आर्थिक लेखा प्रणाली में पूंजी, उत्पादन लागतों, मुनाफे तथा अन्य मूल्य-श्रेणियों से भिन्न होती हैं। पूंजीवाद के तहत, पूंजी वह मूल्य है जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है और यह मूल्य-श्रेणी पूंजी तथा भाड़े के श्रम के बीच के शोषणपूर्ण सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती है। समाजवादी राजकीय उद्यम में पूंजी कोष राज्य की संचित सम्पत्ति का भाग होता है जिसे उत्पादन एवं कार्रवाई के लिए खर्च किया जाता है। इस कोष का उद्यम द्वारा उत्पादन एवं कार्रवाई में इस्तेमाल राज्य तथा जनता की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति के समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम के अनुसार होता है और विस्तारित पुनरुत्पादन के काम आता है। पूंजी कोष का तर्कसंगत ढंग से इस्तेमाल समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है।

पूंजीवादी उद्यम में लागत का मतलब पूंजी की खपत होता है। पूंजीवादी उद्यम में लागत घटाने का मतलब पूंजी की बचत और श्रम के शोषण को बढ़ाना होता है। समाजवादी उद्यम में लागत का मतलब होता है एक निश्चित मात्रा में उत्पादों के उत्पादन में हुआ खर्च। चूंकि आर्थिक लेखा प्रणाली के तहत उद्यम खर्च पूरे करने और लाभ अर्जित करने के लिए उत्पादों की बिक्री पर निर्भर करते हैं, इसलिए उत्पादन लागत में लगातार कमी का मतलब है श्रम काल में उत्तरोत्तर कमी और श्रम उत्पादकता में बढ़ोत्तरी। इस तरह, राज्य या सामूहिक उद्यम ज्यादा संचय कर सकता है और परिणामस्वरूप राज्य तथा जनता की जरूरतों को पूरा करने के लिए ज्यादा उत्पादन किया जा सकता है।

पूंजीवादी मुनाफा पूंजीपति द्वारा हड़पा गया अतिरिक्त मूल्य होता है। समाजवादी उद्यमों में मुनाफा मेहनतकश जनता द्वारा सृजित कुल सामाजिक आय होती है। यह मुनाफा करों तथा उद्यमों द्वारा दिये गये मुनाफे के दो रूपों में राज्य के हाथों में केन्द्रीकृत होता है, और इसका इस्तेमाल मुख्यत: समाजवादी उत्पादन का विस्तार करने तथा जनता के जीवनस्तर को उन्नत करने के लिए किया जाता है।*

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुनाफे को समग्रता में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। कुछ खास स्थितियों में, समाजवादी राज्य कुछ उद्यमों को यह अनुमति दे सकता है कि वे केवल लागत निकलाने भर या घाटे में चलते हुए भी काम करते रहें।

---

* इस हिस्से में, जहां समाजवादी मुनाफे की तुलना पूंजीवादी मुनाफे से की गई है, कहीं-कहीं *यिंग-ली* शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द प्राप्ति या अर्जन तथा मुनाफे का मिला-जुला भाव देता है और प्रकटत: इसका इस्तेमाल समाजवादी मुनाफे को पूंजीवादी मुनाफे से अलग करने के लिए किया गया है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में, सामाजिक उत्पादन में उजरती श्रम का शोषण और श्रम शक्ति पर पराये, शत्रुतापूर्ण हित दायी नहीं होते। मुनाफा न तो उत्पादन का लक्ष्य होता है और न वह पैमाना जिस आधार पर संसाधनों का आवंटन और उद्यमों के कामकाज का आकलन किया जाता है। राष्ट्रीय तथा उद्यम—दोनों स्तरों पर राजनीति उत्पादन की दिशा निर्धारित करती है। निजी लाभ समाज का प्रेरक और संगठन तत्व नहीं रह जाता।

समाजवाद के तहत, मुनाफा या शुद्ध आय का मतलब अतिरिक्त संचय से होता है। यह सामाजिक अधिशेष सामूहिक और गैर-शोषक समाजवादी श्रम प्रक्रिया का उत्पाद होता है और समाजवादी राज्य इसका इस्तेमाल सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने तथा समाज एवं विश्व के क्रान्तिकारीकरण के लिए करता है। मुद्रा के रूप में यह अधिशेष समाजवादी उद्यम के स्तर पर उत्पादन लागत एवं अंतिम दाम के बीच के अंतर से निकलता है। ऐसा तीन परिस्थितियों के तहत होता है : को उद्यम की उत्पादक गतिविधियां केन्द्रीय योजना के अंग के रूप में पहले से निर्धारित हैं (दाम तथा मुनाफा न तो उत्पादन के प्रकार या मात्रा का निर्धारण करते हैं और नही तकनीकी सुधार की दिशा का; ख) सभी लागतों और उत्पादों का दाम उद्यम को राज्य द्वारा दिया गया है (वह अपने से कोई दाम नहीं लगा सकता); और ग) अलग-अलग उत्पाद न इकाइयों का मुनाफा समग्र सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

साथ ही, इस पाठ में इस बात पर केंद्रित किया गया है कि मुनाफा समाजवादी अर्थव्यवस्था में गौण ही सही, लेकिन आवश्यक भूमिका निभाता है, और यह आवंटन तथा कुशलता के मानदंडों और उत्पादन गतिविधियों पर नकारात्मक प्रभाव डालता है—जिनकी दिशा सामाजिक हितों की पूर्ति के बजाय आय को अधिकाधिक बढ़ाने की ओर होती है। – संपादक

उदाहरण के लिए, देश भर में औद्योगिक क्षमता के तर्कसंगत वितरण के उद्देश्य से सुदूरवर्ती इलाकों में स्थानीय उद्योगों का विकास किया जाता है। हो सकता है कि विपरीत परिस्थितियों के चलते इनमें से कुछ उद्यम कुछ समय तक मुनाफे में नहीं चल पायें। फिर भी राज्य उनके विकास के लिए मदद करता है। या, एक अन्य उदाहरण लें। कुछ औद्योगिक उत्पाद—खासकर नये उत्पाद, या कृषि-उपयोगी उत्पाद—बनाने वाले उद्यम एक निश्चित समय तक घाटे में चल सकते हैं। लेकिन, समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के हित में और किसान-मजदूर संश्रय को मजबूत बनाने के लिए अस्थायी तौर पर नियोजित ढंग से घाटे की अनुमति दी जाती है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के समग्र हित के नजरिये से देखने पर, इस किस्म के मुनाफे को ''ऊंचे स्तर का मुनाफा'' (या ''ऊंचे स्तर की उपलब्धि'') कहा जाता है। यह ''ऊंचे स्तर का मुनाफा'' समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता का द्योतक है। निश्चित तौर पर, इसका यह मतलब नहीं हुआ कि अलग-अलग उद्यमों या सेक्टरों में मुनाफा होना महत्वपूर्ण नहीं है या उद्यमों द्वारा खराब प्रबंधन के लिए इस बात को बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया जाये। समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मुनाफा अंतत: अलग-अलग उद्यमों और सेक्टरों पर ही निर्भर करता है। इसलिए, अस्थायी तौर पर भी घाटा उठा रहे उद्यमों को काम के तरीकों में सुधार करने, लागत घटाने, घाटा कम करने और घाटे को मुनाफे में तब्दील करने के लिए कड़ी मेहनत करनी चाहिए ताकि समाजवादी संचय बढ़ाया जा सके।

उपरोक्त विश्लेषण से यह देखा जा सकता है कि समाजवादी आर्थिक लेखा में पूंजी कोष, लागत, मुनाफे तथा अन्य मूल्य श्रेणियां समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को अभिव्यक्त करती हैं। सर्वहारा वर्ग इन श्रेणियों का इस्तेमाल समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाने के लिए करता है। इसलिए, उपयोग मूल्य के अनुसार लेखा और मूल्य के अनुसार लेखा के अन्तरविरोध में हम राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य-लक्ष्यों को पूरा करने को गैर-महत्वपूर्ण नहीं मान सकते, बल्कि हमें इसे गम्भीरता से लेना चाहिए और विभिन्न मूल्य-लक्ष्यों को ठीक से पूरा करने के लिए सक्रियता से प्रयास करने चाहिए।

दूसरी ओर, इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि मूल्य श्रेणियां, आखिरकार निजी स्वामित्व की आर्थिक व्यवस्था के ही अवशेष हैं। मूल्य श्रेणियां माल व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं और बुर्जुआ अधिकार इनमें निहित होता है। उदाहरण के लिए, चूंकि दाम मूल्य से अलग हो जाते हैं, इसलिए समान परिमाण में श्रम खर्च कर भिन्न-भिन्न प्रकार और गुणवत्ता के उत्पाद बनाने वाले उद्यम अलग-अलग मात्रा में उत्पाद मूल्य तथा मुनाफा हासिल करेंगे। यदि ये उद्यम ज्यादा मूल्य और ज्यादा मुनाफा देने वाले उत्पाद ज्यादा पैदा करते हैं तो उनके लिए राज्य द्वारा निर्धारित उत्पाद मूल्य एवं मुनाफे के लक्ष्य को पूरा करना ज्यादा आसान होगा। यदि वे कम मूल्य और कम मुनाफे वाले उत्पाद ज्यादा पैदा करेंगे तो उनके लिए राज्य द्वारा निर्धारित लक्ष्य को पूरा करना अपेक्षाकृत कठिन होगा। यह बुर्जुआ अधिकार का एक और उदाहरण है।

सर्वहारा के वर्ग हित का यह तकाजा है कि उपयोग मूल्य के अनुसार लेखा और मूल्य के अनुसार लेखा के बीच अन्तरविरोध को हल करने के दौरान लोग सचेतन रूप से इस तरह के बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश लगायें, ''उत्पाद मूल्य को पहले रखने'' तथा ''मुनाफे को कमान में रखने'' की लाइन की आलोचना करें, राज्य तथा जनता की जरूरतें पूरे करने वाले उपयोग मूल्यों के सृजन को प्राथमिकता दें और मूल्य के अनुसार गणना को उपयोग मूल्य के अनुसार गणना के मातहत रखें। बुर्जुआ वर्ग तथा पार्टी के भीतर मौजूद इसके प्रतिनिधि बुर्जुआ अधिकार का प्रयोग और विस्तार करना और अपने नियंत्रण वाले विभागों एवं उद्यमों में ''उत्पाद मूल्य को पहले रखने'' तथा ''मुनाफे को कमान में रखने'' की लाइन लागू करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि ज्यादा मुनाफा देने वाले उत्पाद ज्यादा पैदा किये जायें, कम मुनाफा देने वाले उत्पाद कम पैदा किये जायें और मुनाफा नहीं देने वाले उत्पादों का उत्पादन ही न किया जाये। सोवियत संशोधनवादी गुट द्वारा लागू की गई ''सम्पूर्ण आर्थिक लेखा प्रणाली'' मुनाफे को कमान में रखने के इसी पूंजीवादी सिद्धान्त को अमल में लाने के लिए बनाई गई है। इस ''सम्पूर्ण आर्थिक लेखा प्रणाली'' में ''उद्यमों की वित्तीय गतिविधियों के सबसे महत्वपूर्ण संकेतक हैं मुनाफा और मुनाफे की दर।'' वास्तव में उद्यम सम्भावित मुनाफे के अनुसार ही उत्पादन की विविधता और परिमाण तय करता है। मुनाफा बढ़ाने के लिए उद्यम मजदूरों को निकाल सकता है और ''उत्पादन लागत घटाने'' के लिए श्रम सघनता बढ़ा सकता है। मुनाफे को कमान में रखने वाली यह ''सम्पूर्ण आर्थिक लेखा प्रणाली'' सोवियत संघ की जनता पर सोवियत संशोधनवादी नौकरशाह एकाधिकारी बुर्जुआ गुट द्वारा थोपी गयी शोषण की व्यवस्था का रूप ले चुकी है और सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का यह एक प्रमुख साधन बनी है।

इस तरह, हम देख सकते हैं कि समाजवादी आर्थिक लेखा में उपयोग मूल्य के अनुसार गणना और मूल्य के अनुसार गणना के बीच का अन्तरविरोध सर्वहारा और बुर्जुआ के बीच तथा समाजवादी रास्ते और पूंजीवादी रास्ते के बीच संघर्ष में अभिव्यक्त होता है। इन दो वर्गों और दो रास्तों के बीच संघर्ष की इस कुंजीभूत कड़ी को अच्छी तरह समझकर तथा मूल्य लेखा के क्षेत्र में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश लगाकर ही हम इस अन्तरविरोध को सही ढंग से समझ और हल कर सकते हैं, मूल्य के अनुसार गणना को उपयोग मूल्य के अनुसार गणना के मातहत कर सकते हैं तथा आर्थिक लेखा को राह भटकने से रोक सकते हैं।

अध्ययन के लिए प्रमुख संदर्भ

मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन एवं स्तालिन की कम्युनिस्ट समाज के बारे में लिखी रचनाएं

माओ, ''मेहनत और किफायत से सहकारी समितियों का संचालन'' की भूमिका, *माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण* में, पृ. 236

माओ, ''अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', अध्याय 11

समीक्षात्मक प्रश्न

1. हम यह क्यों कहते हैं कि केवल एक समाजवादी अर्थव्यवस्था ही पूर्ण रूप से मितव्ययिता का पालन कर सकती है?

2. आर्थिक लेखा प्रणाली द्वारा प्रबंधन अपनाने का कम खर्च पर ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर नतीजों के साथ समाजवादी अर्थक्ष्यवस्था के निर्माण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

3. समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुनाफे के प्रश्न को सही ढंग से कैसे हल किया जा सकता है?

टिप्पणियां

1. मार्क्स, ग्रुंडरिशे, पृ. 173

2. माओ, 'अंतरविरोधों का सही ढंग से हल करने के बारे में', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 474 **3.** माओ, रेड बुक, पृ. 187

4. माओ, 'अंतरविरोधों का सही ढंग से हल करने के बारे में', सेलेक्टेड रीडिंग्स, पृ. 475 **5.** पूर्वोक्त, पृ. 459 **6.** मार्क्स, पूंजी, खंड 3, पृ. 396

7. पूर्वोक्त, खंड 1 पृ. 83 **8.** पूर्वोक्त, पृ. 496

9. पूर्वोक्त, पृ. 337 **10.** पूर्वोक्त, पृ. 81

11. पूर्वोक्त, खंड 2, पृ. 135 **12.** लेनिन, 'जी.आई. सोकोल्निकोव को पत्र', कलेक्टेड वर्क्स 35, (1973) पृ. 546

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (***दि शंघाई टेक्स्टबुक*** के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद **: सत्यम वर्मा**)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' पुस्तक का प्रथम खण्ड **राहुल फाउण्डेशन,** 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 से प्रकाशित। दूसरा खण्ड शीघ्र प्रकाश्य।

पुस्तक चर्चा

'बियॉण्ड कैपिटल'

'बियॉण्ड कैपिटल', *लेखक :* **इस्तवान मेस्जारोस**
प्रथम प्रकाशन, 1995-मर्लिन प्रेस, लन्दन।
1996 में मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयार्क, से भी प्रकाशित।

यदि आप यह सोचते हैं कि कि 'बियाण्ड कैपिटल' पूंजी का उत्तरभाग है तो आपको निराशा होगी। छोटे अक्षरों में छपी हुई 950 से भी अधिक पृष्ठों को खपाने वाली यह पुस्तक वर्तमान समय के पूंजीवाद (या पूंजी) अथवा साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली की व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करती। जिस 'पूंजीतंत्र' की बात लेखक करता है उसके गति के नियमों को उद्घाटित करने का कोई भी प्रयास इसमें नहीं दिखायी देता। 'बियाण्ड कैपिटल' किसी 'समाजवादी प्रकल्प' (Socialist Project) के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहती है। पुस्तक का विज्ञापन यह एलान करता है कि ''पूंजी की ही भांति, यह भी लेखक की जिन्दगी भर की मेहनत है।'' यह वास्तव में है भी। इसमें लगभग सभी कुछ है। लेखक ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान इस पुस्तक में ठूंस दिया है। विषय क्षेत्र के ठीक-ठीक निर्धारण के बिना यह स्थूल वृहद ग्रन्थ फैलता गया है और अत्यधिक दोहराव का शिकार हो गया है। यह पर्यावरण की चिन्ता, नारी मुक्ति, बेरोजगारी, समाजवाद, मजदूर आन्दोलन से सम्बन्धित रणनीति, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, सैन्य-औद्योगिक तंत्र (Military-Industrial Complex) और जितने भी विषय हो सकते हैं उन सबकी 'विवेचना' करता है। यह पुस्तक थैचर, टोनी ब्लेयर, बुश, हावेल, 'दी इकॉनमिस्ट' आदि पर खण्डन-मण्डनात्मक कटाक्षों से अटी पड़ी है, लेकिन किसी भी चीज की सारगर्भित आलोचना यह प्रस्तुत नहीं करती। मेस्जारोस 'प्राग स्प्रिंग'[1] जैसी घटनाओं तथा एमर नेगी[2], सोलझिनित्सिन[3], त्रात्स्की जैसे लोगों व मास्को मुकदमे[4] के अभियुक्तों के साथ पूरी तौर पर खड़ा है और स्वीजी एवं मैगडाफ जैसों की रचनाओं को प्रशंसा की दृष्टि से देखता है और दुनिया के बुर्जुआओं के लिए आतंक का पर्याय बने स्तालिन पर एकदम टूट पड़ता है। उसने ऐसे श्रम शिविरों को ढूंढ़ निकाल है जो हठी कामगार जनता (सोल्जेनित्सिन जैसे कामगार....?) के लिए बनाये गये थे। 'एक देश में समाजवाद' की वह भर्त्सना करता है और 'बाजार समाजवाद' की अवधारणा को स्तालिन के मत्थे मढ़ देता है। जबकि वह बड़ी चालाकी से क्रान्तिकारी खेमे द्वारा इस विषय पर लिखे गये उस व्यापक साहित्य के उल्लेख से बचता है जिसमें बाजार समाजवाद के सिद्धान्त के विकास को स्तालिन की नीतियों के विरोध में चिन्हित किया गया है। इसकी जगह वह बड़े विस्तार से हंगारी नेता लूकाच की चर्चा करता है।

फूस के पुतलों को धराशायी कर देना कोई कठिन काम नहीं है। फिर भी हम पुस्तक के उन कुछ पहलुओं पर इस चर्चा को केन्द्रित करेंगे जिनसे इस पुस्तक के मुख्य जोर का पता चलता है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में 'ट्रिकिल डाउन प्रभाव' पर सवाल खड़े किये जा रहे हैं, लेकिन इसके बावजूद क्रान्तिकारी कम्युनिज्म के सैद्धान्तिक क्षेत्र में यह काफी असरदार साबित हो रहा है। अकादमिक मार्क्सवाद अपने फीके सिद्धान्तों के साथ आज व्यापक रूप से हमारे खेमे में फैल चुका है। इसके खिलाफ फैसलाकुन संघर्ष में उतरने की जरूरत है।

मेस्जारोस 'बियाण्ड कैपिटल' जाना चाहता है। उसकी थीसिस यह है कि पूंजीवादी समाज के बाद की व्यवस्थाएं समाजवादी नहीं थीं और न ही उन्हें राजकीय पूंजीवाद का नाम दिया जा सकता है। वह उनकी आर्थिक व्यवस्था को 'पूंजी की उत्तर पूंजीवादी व्यवस्था' के रूप में वर्णित करते हैं। सबसे अच्छा यही होगा कि हम स्वयं लेखक के मुंह से ही सुनें —

''मैंने कई बार इंगित किया है कि मार्क्स ने अपनी प्रमुख रचना को 'पूंजीवाद' नहीं बल्कि 'पूंजी' शीर्षक दिया है और मैंने यह भी रेखांकित किया है कि खण्ड एक का उपशीर्षक 'पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया' एंगेल्स की देखरेख में किया गया एक गलत अनुवाद है (एंगेल्स को मार्क्स की बिल्कुल समझ नहीं थी, क्यों जनाब मेस्यारोस)। जबकि वास्तव में इसे 'पूंजी की उत्पादन प्रक्रिया' होना चाहिए और इसका बुनियादी रूप से भिन्न अर्थ निकलता है। यहां बेशक यह बात ही दांव पर लगी हुई है कि समाजवादी रूपान्तरण का प्रयोजन, लक्ष्य पूंजी की सत्ता पर काबू पाना है। इस उद्यम में पूंजीवाद अपेक्षाकृत आसान लक्ष्य होता है क्योंकि क्रान्तिकारी उथलपुथल के जरिए और राजनीति के स्तर पर हस्तक्षेप करके तथा पूंजीपतियों का सम्पत्ति हरण करके एक मायने में पूंजीवाद का खात्मा किया जा सकता है। आपने पूंजीवाद को तो समाप्त कर दिया है जबकि ऐसा करके आप पूंजी की सत्ता को छू भी नहीं सके हैं। पूंजी पूंजीवाद की शक्ति पर निर्भर नहीं होती है और यह बात इस अर्थ में और भी महत्वपूर्ण हो जाती है कि पूंजीवाद के हजारों साल पूर्व भी पूंजी का अस्तित्व था। पूंजी पूंजीवाद को जीवित रख सकती है, सिर्फ हजारों साल तक ही नहीं, बल्कि यहां तक कि जब सीमित क्षेत्र में पूंजीवाद को उखाड़ फेंका जाता है तब भी पूंजी की सत्ता बरकरार रहती है चाहे यह वर्णसंकर रूप में ही क्यों न हो।

''सोवियत संघ पूंजीवादी देश नहीं था। न ही वहां राजकीय पूंजीवाद था। फिर भी पूंजी की सत्ता वहां प्रभावी थी: श्रम का विभाजन अपने उसी रूप में मौजूद था, पूंजी की श्रेणीबद्ध कमाण्ड संरचना जस की तस थी। पूंजी पूरे तंत्र को अपने कमान में रखती है और उसकी प्रकृति संचय मूलक होती है और यह संचय भिन्न-भिन्न तरीकों से संरक्षित हो सकता है...।'' (पृ. 980)

पूंजी का अस्तित्व पूंजीवाद के 'हजारों वर्ष' पूर्व भी था (!) यह पूंजीवाद की शक्ति पर निर्भर नहीं है। पूंजीवाद का नाश किया जा सकता

1. **प्राग स्प्रिंग**-1968 में दुबचेक के संशोधनवादी गुट ने चेकोस्लोवाकिया कम्युनिस्ट पार्टी को हस्तगत कर लिया। जनतंत्र की दुहाई देते हुए वे अर्थव्यवस्था को पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए खोल देना चाहते थे। यह 'प्राग स्प्रिंग' के नाम से जाना जाता है जिसे बाद में सोवियत टैंकों द्वारा कुचल दिया गया था। अन्तरराष्ट्रीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन ने इस कार्रवाई की भर्त्सना की थी।

2. **एमर नेगी**-1956 में साम्राज्यवाद समर्थित हंगारी प्रतिक्रान्तिकारी तख्तापलट का नेता था।

3. **सोल्झिनित्सिन**-साम्राज्यवादी शक्तियों का चहेता और कुलीनवर्गीय वंश परम्परा का रूसी उपन्यासकार। अक्टूबर क्रान्ति का विरोधी और जारकालीन रूस में 'राजसी जीवन' का समर्थक।

4. **मास्को मुकदमा**-बुखारिन, जिनोवियेव, कामेनेव और कई अन्य लोगों पर सोवियत राज्य के खिलाफ देशद्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया था और उन्हें मौत की सजा सुनाई गई थी। मुकदमे की सुनवाई सन् 1936 और 1938 के बीच हुई थी। इसके प्रमुख अभियुक्त संशोधनवादी थे जिन्हें इस मुकदमे के काफी पहले सी.पी.एस.यू. से निष्कासित कर दिया गया था।

है लेकिन पूंजी की ताकत बनी रहती है—इस ढंग से मेस्जारोस साहब तर्क करते हैं। यह सही है कि पूंजी अपने अस्तित्व के लिए पूंजीवाद की शक्ति पर निर्भर नहीं करती लेकिन यह ताकतवर पूंजीवादी समाज में ही बनती है। बुर्जुआ अर्थतंत्र के उत्पादन सम्बन्धों को प्रकट करने वाली कोटियां (Categorie) सर्वाधिक विविधतापूर्ण सामाजिक आर्थिक संरचनाओं में भी पायी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए हम मुद्रा को लें। मानव इतिहास के बहुत प्रारम्भिक काल में ही इसका प्रादुर्भाव हो चुका था। लेकिन ''यह अत्यन्त साधारण कोटि समाज के अत्यन्त उन्नत अवस्थाओं में पहुंचने तक ऐतिहासिक तरीके से अपने प्रबलतम रूप में सामने नहीं आयी थी और नि:सन्देह सभी आर्थिक सम्बन्धों में (पूंजीवादी समाज के पूर्व) इसका प्रवेश नहीं हुआ था'' (मार्क्स, मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएं, अंग्रेजी संस्करण खण्ड 28, पृ. 40)। मार्क्स ने (अपने समय की) बुर्जुआ अर्थव्यवस्था की अभिनव लाक्षणिकताओं में से एक—ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों की मौजूदगी को भी नोट किया जो उस समय अपनी प्रारम्भिक अल्पविकसित अवस्था में ही थीं। इस प्रकार, हालांकि यह सच है कि बुर्जुआ अर्थव्यवस्था की ये कोटियां समाज की अन्य सभी अवस्थाओं में भी मौजूद थीं, तो भी यह प्रमुख बात नहीं है क्योंकि उनमें ये कोटियां हमेशा सारभूत भिन्नताओं के साथ विकसित, अवरुद्ध, भौंडे आदि विभिन्न रूपों में मौजूद रह सकती हैं।

पूंजीवादी समाज में अत्यन्त विकसित स्तर का श्रम विभाजन होता है, और श्रम विभाजन के बिना पूंजीवाद सम्भव भी नहीं है। पेरू में प्राचीन इन्का समुदाय में भी श्रम का विभाजन माल उत्पादन और मुद्रा के बगैर अपने विकसित रूप में मौजूद था। लेकिन पूंजीवाद के आने के बाद ही श्रम विभाजन, माल-मुद्रा सम्बन्ध विकसित होता है और फलता-फूलता है। ये आर्थिक कोटियां पूंजीवाद के साथ अपने विकटतम रूप में आती हैं और कहने की जरूरत नहीं कि पूंजी भी एक प्रभावी ताकत तभी बनती है। मेस्जारोस का यह दावा कि राजनीतिक क्रान्ति के जरिए पूंजीवाद का खात्मा हो जाता है परन्तु पूंजी की सत्ता बरकरार रहती है हजम करने लायक नहीं है। सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता हासिल करने के बाद समाजवादी समाज के निर्माण का कार्य बस प्रारम्भ ही होता है। पूंजीवाद का नाश एक झटके में नहीं हो जाता और पूंजी की सत्ता कायम रहती है (लेनिन और स्तालिन ने अक्टूबर क्रान्ति के बाद राजकीय पूंजीवाद की मौजूदगी को चिन्हित किया था)। इसके बावजूद सम्पत्ति हरण करने वालों का सम्पत्ति हरण तथा सर्वहारा सत्ता के हाथों में उत्पादन के साधनों के संक्रेन्द्रित होने के साथ ही पूंजी नियन्ता की हैसियत से बेदखल हो जाती है। छोटे उत्पादकों की सम्पत्ति जब्त नहीं की जाती है। बुर्जुआ अर्थव्यवस्था की कोटियां लम्बे समय तक मौजूद रहती हैं। माल-मुद्रा सम्बन्ध बरकरार रहता है। यह उन अर्थव्यवस्थाओं के बारे में ज्यादा सही होता है जिसमें काफी हद तक प्राक्पूंजीवादी अवशेष मौजूद रहते हैं। लेकिन मूल्य के नियम के संचलन का क्षेत्र उत्तरोत्तर सीमित होता जाता है। सोवियत संघ में स्तालिन के नेतृत्व में उत्पादन के नियामक के रूप में मूल्य के नियम का संचलन बन्द हो चुका था।

स्पष्टत: मेस्जारोस यहां उत्पादन सम्बन्ध के उस अवरुद्ध रूप को (इस मामले में पूंजी) अलग करके नहीं देख पाते हैं जिसका अस्तित्व पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के उद्भव के पहले से ही था। पूंजीवादी समाज के बाद के काल में भी वह पूंजी के अस्तित्व को बहिर्वेशित (extrapolate) करता है। इसे वह उत्पादन के एक सामाजिक सम्बन्ध के रूप में नहीं देखता बल्कि श्रम प्रक्रिया के साथ गड्डमड्ड कर देता है। यही वह कारण है जो पूंजी के इस प्रकार के बहिर्वेशन को संभव बनाता है और इसी के चलते मेस्जारोस की यह धारणा बनती है—पूंजी अपने आप ही श्रम प्रक्रिया की विरासत में विरोधी संरचनामूलक घटक के रूप में अन्तर्निहित रहती है'' (पृ. 616)। परन्तु मार्क्स के लिए पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया 'श्रम प्रक्रिया एवं मूल्य निर्धारण प्रक्रिया' की एकता होती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न माल में उपयोग मूल्य व विनिमय मूल्य की एकता होती हैं।'' मनुष्य एक निश्चित 'सामाजिक सम्बन्धों' के अन्तर्गत उत्पादन करता है। 'श्रम प्रक्रिया का यह ''विरोधी संरचनात्मक घटक'' जिस सामाजिक सम्बन्ध से निकलता है वह है—पूंजी के अन्तर्गत श्रम की अधीनता। 'कारखाने में तानाशाही' की जिस बात से मेस्जारोस को 'पूंजी की सत्ता' का मूल विचार मिलता है, उस पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स लिखते हैं—''फैक्टरी की यह नियमावली जिसमें पूंजी निजी कानून बनाने वाले व्यक्ति की तरह और अपनी इच्छा के अनुसार मजदूरों के ऊपर अपनी निरंकुशता को सूत्रबद्ध करती है...**श्रम प्रक्रिया के उस सामाजिक नियमन का पूंजीवादी व्यंग चित्र मात्र होती है, जो एक विशाल पैमाने की सहकारिता में और श्रम के औजारों—विशेषकर मशीनों के सामूहिक उपयोग में आवश्यक होती है।** गुलामों को मार-मारकर काम लेने वाले सरदार के कोड़े का स्थान फोरमैन का जुर्माने का रजिस्टर ले लेता है।'' (पूंजी, खण्ड एक, पृ. (400)। (जोर हमारा)

मेस्जारोस स्वयं में श्रम प्रक्रिया तथा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत प्रकट होने वाली श्रम प्रक्रिया के बीच अन्तर कर पाने में अक्षम है। पूंजीवादी प्रणाली के लिए क्या विशिष्ट होता है और सहकारी श्रम प्रक्रिया व औजारों, विशेषकर यंत्र (मशीनरी) के साझा प्रयोग से उसके लिए क्या आवश्यक बन जाता है इसमें मार्क्स फर्क करते हैं। मार्क्स 'प्रक्रिया को समन्वित और एकीकृत करने'' के लिए एक ''कमान में लाने वाली इच्छाशक्ति'' (Commanding Will) की जरूरत को दर्शाते हैं और इसे वह 'उत्पादक काम' कहते हैं। पूंजीवाद के अन्तर्गत इस काम में दबाव और प्रतिरोध उसी प्रकार कार्य करता है जैसा कि प्रत्यक्ष उत्पादक और उत्पादन के साधनों के स्वामी के बीच विरोध पर आधारित किसी भी ऐसी उत्पादन प्रणाली में। (पूंजी खण्ड तीन, पृ. 383-387) परन्तु मेस्जारोस इन सभी बातों को खारिज कर देता है। वह कहता है ''जब एक बार किसी बाहरी (Alien) निर्देशित करने वाली शक्ति की सर्वसत्तावादी परिभाषा को एक प्राकृतिक नियम मान लिया जाता है तो इससे श्रम की स्थायी संरचनात्मक अधीनता की बात अपने आप निकल कर आती है (पृ. 803)। समाजवाद के अन्तर्गत यह 'निर्देशित करने वाली शक्ति निश्चित ही ''बाहरी'' नहीं रहेगी लेकिन मेस्जारोस ने यहां वास्तव में 'निर्देशित करने वाली शक्ति' के पूर्व इस विशेषण का प्रयोग कर इस पूरी शब्दावली को ही भ्रमपूर्ण बना दिया है। वस्तुत: वह किसी भी तरह की निर्देशित करने वाली शक्ति की जरूरत को खारिज कर देता है। वह इस निर्देशक शक्ति के जवाब में श्रम प्रक्रिया में काम करने का 'जनवादी' तौर तरीका प्रस्तुत करता है। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने स्थापित किया है कि श्रम प्रक्रिया के 'जनवादी' तौर तरीके निर्देशित करने वाली शक्ति के साथ संगतता में हैं। लेनिन ने 'एक सदस्यीय प्रबंधन' की जरूरत पर जोर दिया है। यह तथ्य बहुत अच्छी तरह ज्ञात है कि इस तरह का प्रबन्धन जनतांत्रिक और भारी उत्तरदायित्व वहन करने वाला था। सोवियत संघ में स्तालिन के बाद संशोधनवादियों द्वारा सत्ता हस्तगत करने के साथ ही यह सब कुछ बदल गया।* मेस्जारोस ने इस पूरे मामले को धूमिल करने और 'उत्तरपूंजीवादी पूंजी तंत्र' का अपना सिद्धान्त गढ़ने के लिए समाजवादी सोवियत संघ में स्थापित पैटर्न को स्तालिन के बाद के संशोधनवादी पैटर्न के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। हमें यहां इस बहस में जाने की जरूरत नहीं है। यहां और भी महत्वपूर्ण विषय दांव पर लगे हैं। सोवियत संघ में ख्रुश्चेव के पूर्व समाजवादी समाज में 'एक व्यक्ति द्वारा प्रबन्धन' के विरुद्ध चार्ल्स बेटेलहेम्स जैसे लोगों द्वारा चलाया गया राजनीतिक वाद-विवाद और उनके द्वारा श्रम प्रक्रिया में सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्धों के साथ अभिन्न रूप से जोड़ना यह दिखाता है कि मुद्दा कितना

* देखिये - मार्टिन निकोलस, रेस्टोरेशन आफ कैपिटलिज्म इन यू.एस.एस.आर.. (लिबरेटर प्रेस) पृ. 46-48)

महत्वपूर्ण है। मेस्जारोस के लिए श्रम की स्थायी ढांचागत अधीनता इसी बात से निकल कर आती है।

श्रम प्रक्रिया के प्रति यह पूर्वाग्रह समूची पुस्तक में देखा जा सकता है। वह इसे 'अत्यन्त महत्वपूर्ण' कहता है (पृ. 368) और 'पूंजी से आगे' जाने की उसकी संकल्पना मुख्यत: इसी से सम्बन्धित है। वह 'श्रम प्रक्रिया में आमूलचूल पुनर्गठन' की बात करता है और इस बात पर संदेह व्यक्त करता है कि क्या हम वर्तमान श्रम प्रक्रिया और तकनीक का इस्तेमाल 'समाजवादी प्रकल्प' (Socialist Project) के लिए कर सकते हैं। वह कहता है कि मार्क्स द्वारा पूंजी के राजनीतिक अर्थशास्त्र की व्यावहारिक समालोचना का यही वास्तविक अर्थ है (पृ. 128)

मेस्जारोस की 'पूंजी से आगे' का 'समाजवादी प्रकल्प' गुणवत्ता पर आधारित है। वह लिखता है—

स्वाभाविक रूप से मार्क्स द्वारा पूर्वानुमानित सामाजिक उपापचयी पुनरुत्पादन (Social metabolic reproduction) की वैकल्पिक प्रणाली की ओर जाने के लिए **गुणात्मक परिवर्तन** की आवश्यकता होती है। साथ ही, नये समाज में हस्तान्तरण योग्य ''भौतिक आधार'' और भौतिक स्थितियों के लिए इसके दूरगामी अर्थ निकलते हैं। लेकिन अपने इस रूप में वे समाजवादी आकांक्षाओं के साथ असंगत बैठते हैं (पृ. 132)

वह श्रम की इन 'हस्तान्तरित' स्थितियों को गुणवत्ता के आधार पर खारिज कर देता है। (यहीं से उसकी पारिस्थितिकीय चिन्ताएं भी पैदा होती हैं) वह कहता है कि पूंजीवादी समाज सिर्फ परिमाणात्मक आयाम से वास्ता रखता है।

''पूंजीवादी तंत्र में **परिमाण** का निरपेक्ष शासन होता है....

....पूंजीतंत्र के चौखटे में शुद्ध परिमाणात्मक तरीके के अतिरिक्त स्वयं विस्तार को परिभाषित करने का कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता जो इसे अस्तित्वमान (existent) के सीधे-सीधे विस्तार के रूप में प्रक्षेपित करता है... क्योंकि विवाद से परे 'और ज्यादा' की मूर्खता (...) ही ऐसी भाषा है जिसे यह तंत्र समझ सकता है, और लम्बे समय से उपेक्षित मानवीय आवश्यकता से उत्पन्न गुणात्मक रूप से भिन्न कोई संचालक शक्ति इसकी समझ से परे है'' (पृ. 107)।

मेस्जारोस गुणात्मक आयाम को आवश्यकता की शब्दावली में भी व्यक्त करता है। इसके लिए वह सोवियत संघ पर कीचड़ उछालता है और उसका वर्णन 'एक ऐसे देश' के रूप करता है 'जहां अनगिनत लोगों के लिए (भोजन से लेकर वस्त्र और बढ़िया* आवास की) बुनियादी जरूरतों तक का अभाव था...।'' (पृ. 636)

यह एक हास्यास्पद आरोप है जो शायद ही किसी के गले उतरे। मेस्जारोस 'पूंजी तंत्र' की परिमाणात्मक अंधभक्ति की आलोचना करता है। यहां वह 'आवश्यकताओं' की उपेक्षा की बात करता है। वह अनुपयोगी चीजों के उत्पादन, परिस्थितिकीय रूप से गैरटिकाऊ उत्पादन, सैन्य-औद्योगिक तंत्र, निष्क्रिय क्षमताओं आदि की ओर इंगित करता है और इस नतीजे पर पहुंचता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मौजूद उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों का हस्तान्तरण समाजवादी उत्पादन के लिए नहीं किया जा सकता है। ऐसा क्यों न हो जब फर्क सिर्फ गुणवत्ता से ही पड़ता है।

जाहिरा तौर पर पूंजीवाद में उत्पादन जरूरतों की खातिर नहीं बल्कि मुनाफे के लिए होता है। यह उत्पादों के विनिमय मूल्य के लिए होता है न कि उपयोग मूल्य के लिए। परन्तु जैसा कि हमने पहले देखा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जो श्रम प्रक्रिया और मूल्य निर्धारण प्रक्रिया की एकता होती है उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों ही पैदा करती है। मार्क्स ने मूर्त श्रम जो उपयोग मूल्य पैदा करता है और अमूर्त श्रम जो विनिमय मूल्य का आधार बनता है, के बीच जो स्पष्ट अन्तर किया है वह यहां महत्वपूर्ण है। इसे मेस्जारोस नहीं समझ पाता। यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि अमूर्त श्रम में रूपान्तरण को वह किस ढंग से ग्रहण करता है—

''पूंजीवाद के अन्तर्गत जो चीज जीवित (living) श्रम को अमूर्त श्रम में बदल देती है वह स्वयं विशिष्टीकरण नहीं है, बल्कि विशिष्टीकृत कार्यों की वह कठोर और अमानवीय जकड़बन्दी है जो इन कार्यों को बेरोकटोक सम्पन्न करने के लिए बनायी गई है। चूंकि स्वयं श्रम को बुनियादी तौर पर सम्पत्ति से अलग कर दिया गया है, इसलिए इसी के आधार पर —और वस्तुगत संरचनात्मक बाध्यताओं के अनुरूप—सभी महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं और विविध प्रकार के आंशिक कार्य एक पूरी चीज में संयुक्त कर दिये जाते हैं।'' (पृ. 739)

मेस्जारोस अमूर्त श्रम, जिसे श्रमकाल से मापा जा सकता है और जो विनिमय मूल्य का आधार होता है, की प्रकृति को समझने में असमर्थ रहता है। अमूर्त श्रम से सभी प्रकार के श्रम की तुलना की जाती है और इसे श्रमकाल से मापा जाता है। इस प्रकार सामाजिक श्रम की गणना की जाती है। निश्चित ही यह प्रक्रिया अप्रत्यक्ष ढंग से घटित होती है और आगे चलकर विनिमय के द्वारा अभिव्यक्त होती है। श्रम प्रक्रिया स्वयं मूर्त श्रम को अमूर्त श्रम में नहीं बदल देती बल्कि (अतिरिक्त मूल्य की उत्पादन प्रक्रिया तथा श्रम प्रक्रिया की एकता के रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का) वह सामाजिक सम्बन्ध है जिसके अन्तर्गत यह रूपान्तरित होती है। इसलिए यहां यह महत्वपूर्ण नहीं है कि श्रम प्रक्रिया (ठीक-ठीक कहें तो उत्पादन के कारक) को ठप्प कर दिया जाये बल्कि सामाजिक श्रम जिसका निर्धारण आगे चलकर होता है वह पहले ही होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मूर्त श्रम की तत्काल सामाजिक श्रम के रूप में गणना होनी चाहिए। विनिमय के माध्यम से, परोक्ष तरीके से नहीं। इस प्रकार, श्रम प्रक्रिया में किसी बदलाव के कारण यह नहीं होता है बल्कि इसकी वजह उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन है। इन्हीं कारणों से सोवियत संघ ने मूल्य के नियम के प्रचलन के क्षेत्र को और संकुचित करने, उत्पादन के नियामक के रूप में इसकी स्थिति को उखाड़ फेंकने उत्पादों का विनिमय शुरू करने के उपाय किये। और सामूहिक फार्म की सम्पत्ति को जनता की सम्पत्ति बनाने के लिए कदम उठाये। यह तथ्य जग जाहिर है कि स्तालिन के बाद ये चीजे पुनर्स्थापित हो गईं।

वास्तव में मेस्जारोस पूंजीवाद में अर्जित उत्पादक शक्तियों को खारिज कर मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी समझ पर ही सवाल खड़ा कर देता है। यहां हम मार्क्स के क्लासिकीय शब्दों को उनके 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान' से उद्धृत कर रहे हैं—''अपने अस्तित्व के लिए सामाजिक उत्पादन में लगा मनुष्य अपरिहार्यत: कुछ निश्चित सम्बन्धों में बंधता है, जो उसकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं, जैसे, उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप उत्पादन सम्बन्ध... भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली सामाजिक राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की सामान्य प्रक्रिया को अनुकूलित करती है... विकास की एक निश्चित अवस्था में समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियां मौजूदा उत्पादन सम्बन्ध के विरोध में आ खड़ी होती हैं या विधिक रूप में ठीक यही चीज इस प्रकार अभिव्यक्त होती है—सम्पत्ति सम्बन्ध के विरोध में। जिसकी चौहद्दी के भीतर ये अब तक संचालित होती रही हैं'' और ''—बुर्जुआ समाज के अन्तर्गत विकासशील उत्पादक शक्तियां इस शत्रुता के समाधान के लिए भौतिक परिस्थितियां निर्मित भी करती हैं।''

उत्पादन के सम्बन्धों के रूप में पूंजी उत्पादकता को उन्नति के उन ऊंचाइयों तक ले जाती है जिसे अब तक के इतिहास में देखा नहीं गया था। यह पूंजी की प्रकृति में निहित होता है कि वह मूल्य के खुद के विस्तार को संभव बनाये (मुद्रा-माल-मुद्रा)। पूंजीवादी उत्पादन में हमें उपयोग मूल्य नहीं बल्कि उसका विनिमय मूल्य दिखायी देता है। यहां उत्पादन का लक्ष्य वैयक्तिक उपभोग नहीं है। पूंजी के लिए आवश्यक है कि वह अपना

* मेस्जारोस के मानदण्डों के अनुरूप नहीं?

विस्तार करे और यह समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा सम्भव होता है। यहां उत्पादन के लिए उत्पादन होता है। ''उत्पादन के साधनों का—समाज की उत्पादक शक्तियों के अप्रतिबंधित विकास का अस्तित्वमान पूंजी के आत्म-विस्तार के सीमित उद्देश्य के साथ निरन्तर टकराव बना रहता है''। पूंजीवाद का यह ऐतिहासिक मिशन है और इसके जरिये यह समाजवाद की जमीन तैयार करता है।

एक स्थान पर मेस्जारोस हालांकि यह स्वीकार करता है कि ''उत्पादकता में—ऐतिहासिक रूप से सम्भव—अपेक्षित वृद्धि के साथ मानव मुक्ति का भविष्य अविभाज्य ढंग से जुड़ा हुआ है। यह महज समाज विशेष की मर्जी पर प्रतिव्यक्ति के हिसाब से वस्तुओं की मात्रा में परिमाणात्मक विकास का मामला नहीं है। कुछ गुणात्मक प्रतिफल इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है।'' (पृ. 530)

वह 'सामाजिक रूप से अन्तरसम्बन्धित' तकनोलाजी तथा व्यर्थ, विध्सवंसक और गैर टिकाऊ आधुनिक तकनोलाजी की बात करता है। इसका आदर्श उदाहरण उसे सैन्य-औद्योगिक तंत्र से मिलता है। वह इस बात को इंगित करता है कि मार्क्स ने समाजवाद के निर्माण के लिए पूंजीवाद द्वारा वसीयत में दिये गये उत्पादन के साधनों के प्रयोग का विचार प्रस्तुत किया जब कि ऐसी विनाशकारी तकनोलाजी का कहीं अस्तित्व ही नहीं था। मेस्जारोस लिखता है—

''स्पष्टत:, पूंजी के भीतरी अन्तर्द्वन्द्वों को विस्थापित करने के लिए एक सर्वशक्तिमान और प्रभावशाली कारक के रूप में सैन्य औद्योगिक तंत्र के उद्भव की कल्पना भी मार्क्स नहीं कर सकते थे'' (पृ. 580)

बिल्कुल ठीक! मार्क्स ने इसकी कल्पना नहीं की थी। परन्तु पूंजीवाद की (या यदि आप चाहें तो पूंजी कह लें) मार्क्स की समझदारी से हमें इतना कुछ मिल जाता है जो इस परिघटना को समझने में हमारी मदद कर सके। पूंजी का संचय उत्पादन को 'खुद में ही साध्य बन जाने तक' बढ़ाने के लिए इसे प्रेरित करता है और अपने संकट से उबरने के लिए 'उत्पादन के दूरवर्ती क्षेत्रों' का विकास करता है। उत्पादन के लिए उत्पादन करने की पूंजी की प्रकृति सैन्य औद्योगिक तंत्र में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। यहां हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की अतर्कपरकता और उसके द्वारा होने वाली तबाही को मार्क्स ने चिन्हित किया था। पूंजीवाद के आने के साथ हुई कृषि की ऐतिहासिक प्रगति का ऊंचा मूल्यांकन करते हुए, जिसमें कृषि को 'मशीनी ढंग से अपने आप चलती रहने वाली प्रक्रिया' की जगह एक युक्तिसंगत उत्पादन प्रणाली में तब्दील कर दिया, उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पूंजीवाद की समूची स्पिरिट ही कृषि के खिलाफ खड़ी होती है। हालांकि इसे आने वाली पीढ़ियों की जरूरतों को पूरा करने का दायित्व निभाना था। ठीक इसी तरह मार्क्स और एंगेल्स ने मजदूरों के स्वास्थ्य पर उद्योगवाद के प्रभाव के बारे में लिखा। बावजूद इसके मार्क्स ने उत्पादक शक्तियों (और यहां हम मेस्जारोस को यह याद दिला दें कि तकनोलाजी महज एक खास किस्म के उत्पादन का साधन नहीं होता) के विकास में पूंजीवाद की भूमिका को बहुत ऊंचा करके आंका है। साम्यवादी समाज के निर्माण में विज्ञान और तकनोलाजी सम्बन्धी मनुष्य के ज्ञान का मार्क्स इस तरह मूल्यांकन करते हैं—'' पराये (alien) श्रम काल की चोरी जो वर्तमान सम्पदा का आधार है, इस नये विकसित बुनियाद के मुकाबले, जिसे खुद बड़े उद्योगों ने निर्मित किया है, एक बहुत कमजोर बुनियाद होता है। जैसे ही श्रम अपने वर्तमान स्वरूप में सम्पदा के बड़े स्रोत के रूप में काम करना बन्द कर देता है, श्रमकाल का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और अनिवार्यत: यह श्रम की मात्रा का माप भी नहीं रह जाता और इसी कारण से उपयोग मूल्य का माप विनिमय मूल्य से (निर्धारित होना बन्द हो जाता है)। तब उत्पादन की कार्रवाई में लगे **जनसमुदाय का अतिरिक्त श्रम** आम सम्पदा के विकास की ठीक उसी प्रकार शर्त नहीं बनता जिस प्रकार कुछ एक लोगों का श्रम से विरत रहना उनकी आम बौद्धिक शक्ति के विकास की शर्त नहीं बनता है। परिणामस्वरूप विनिमय मूल्य पर आधारित उत्पादन नष्ट हो जाता है और तात्कालिक भौतिक उत्पादन प्रक्रिया की दरिद्रता और विरोधी रूप का आवरण स्वयं गिर जाता है (मार्क्स एंगेल्स संकलित रचनायें खण्ड 29 पृ. 99)

सैन्य औद्योगिक तंत्र मेस्जारोस को सिर्फ यह दिखाने का बहाना मुहैया कराता है कि वर्तमान भौतिक आधार समाजवाद के निर्माण की जमीन नहीं तैयार कर सकता। इस तरह वह हमारे हमले के लक्ष्य — उत्पादन सम्बन्ध से ध्यान हटाकर उसे श्रम-प्रक्रिया पर केन्द्रित कर देता है। सैन्य उद्योग तंत्र सही अर्थों में उत्पादन के लिए उत्पादन है। यह सर्वविदित है कि सैन्य सम्बन्धी उत्पादन के कारखानों को असैनिक उद्देश्यों के इस्तेमाल के लिए भी रूपान्तरित किया जा सकता है और ऐसा इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी किया गया है। दूसरे, क्या हम मेस्जारोस को याद दिला दे कि सैन्य औद्योगिक तंत्र अस्तित्व में आया कैसे? यह सर्वज्ञात है कि 1941 में (जापानियों द्वारा पर्ल हारबर पर बमबारी के पूर्व) द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाथन ने युद्ध सामग्री के उत्पादन के लिए अमेरिका में 'विजय कार्यक्रम' की रूपरेखा तैयार की थी। यह अपने कार्य क्षेत्र में अत्यन्त महत्वाकांक्षी, एकदम चकित कर देने वाली योजना थी, लेकिन यह उपलब्ध संसाधन और बेकार पड़ी क्षमता पर आधारित था। नाथन और कुजनेट्स ने इसकी उपयोगिता की बहुत सावधानीपूर्वक तैयार किये गये आंकड़ों के जरिये प्रमाणित किया। दूसरे शब्दों में यह युद्ध उद्योग पर आधारित नहीं था बल्कि एक तरह से विद्यमान अप्रयुक्त क्षमता को रूपान्तरित करता था। यह पूंजीवादी संचय की समस्या का कीन्सवादी समाधान था। सैन्य औद्योगिक तंत्र को इससे संदर्भित किया जाना चाहिए। इसकी आलोचना कीन्सवाद की समीक्षा की रोशनी में की जानी चाहिए जिसका मेस्जारोस ने अपने 'जीवन पर्यन्त के काम' में प्रयास तक नहीं किया। व्यर्थ पदार्थों का उत्पादन जिसे मेस्जारोस ने चिन्हित किया है, उस वर्तमान व्यवस्था की अतर्कपरता का संकेतक है जो अपने पतन की पूर्व संध्या पर सड़ांध पैदा करता है। पूंजीवाद की चरम अवस्था के रूप में अपनी परजीविता और मरणासन्नता के साथ साम्राज्यवाद का आना—इस महत्वपूर्ण परिघटना की मेस्जारोस ने पूरी तरह से उपेक्षा की है। आज यह व्यवस्था चतुर्दिक विनाश कर रही है। पूंजीवाद की प्रगतिगामी गति बहुत पहले से ठहरावग्रस्त हो चुकी है और अब ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि यह तंत्र उत्पादक शक्तियों के विकास के सर्वाधिक अनुकूल है। सेवा क्षेत्र में असंतुलित वृद्धि, बर्बादी का सृजन, पर्यावरण को तबाह करने वाली आवश्यकताओं का आविष्कार और युद्ध आधारित उद्योग—ये सभी इस बात की पुष्टि करते हैं। यह आयाम जाहिरा तौर पर हमारे लिए महत्वपूर्ण है—हम अपने शहरों को **लास वेगास** में रूपान्तरित कर देने के लिए जुटे नहीं रहेंगे और **अमरीकी स्वप्न** निश्चित ही हमारा आदर्श नहीं है। (अन्तत: समाजवाद भी एक 'नये मनुष्य' के निर्माण का बीड़ा उठाता है। पूंजीवादी समाज की मानसिकता और नैतिकता के साथ समाजवादी समाज की कोई तुलना नहीं की जा सकती है। जो भी हो इस अतर्कपरकता के कारण वह लक्ष्य, जिस पर हमें प्रहार करना है, हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए। श्रम प्रक्रिया नहीं बल्कि उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध हमारे निशाने पर होना चाहिए।

मेस्जारोस पूंजी को श्रम के नियन्ता के रूप में परिभाषित करता है परन्तु यह नियंत्रण की शक्ति आती कहां से है। श्रम प्रक्रिया में श्रम के ऊपर पूंजी की कोई कमान नहीं हो सकती थी यदि पूंजीपति के (या यूं कहें कि पूंजी के वैयक्तिकरण का) श्रम के साथ विनिमय में ये दो स्थितियां नहीं आती—1. श्रम शक्ति का विक्रय—2. इस श्रम शक्ति का उपभोग जो अपने से अधिक मूल्य पैदा करता है। (श्रम प्रक्रिया के शुरू होने के पहले यह अनिवार्य है कि श्रम शक्ति बाजार में एक माल के रूप में उपलब्ध रहे)। ऐसा करके श्रम शक्ति के विक्रेता के रूप में खुद को पेश कर वह पूंजी के सम्बन्धों का पुनरुत्पादन भी करता है और पूंजी अपने

स्वयं के विस्तारित मूल्य के साथ इस प्रक्रिया को नये सिरे से शुरू करने के लिए तैयार हो जाती है। और तभी यह सम्बन्ध श्रम के ऊपर पूंजी के कमान को सम्भव बनाता है। मेस्जारोस केवल श्रम प्रक्रिया की बाबत सोचता है और इसे उत्पादन के सम्बन्ध से पृथक कर देता है। यां यूं कहें कि उत्पादन सम्बन्ध को श्रम प्रक्रिया में ही देखता है।

इस तरह एक अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी (anarcho-syndicalist) विचार तक पहुंच जाता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

यह सर्वाधिक स्पष्ट रूप से उसकी इस समझदारी में देखा जा सकता है, जब वह 'पूंजी की अनियंत्रणीयता' की बात करता है। वह कहता है— 'बाद का तंत्र' (पूंजी तंत्र) व्यक्तियों के 'नियंत्रण से परे होकर अपने आपको आरोपित करने के अतिरिक्त किसी दूसरे ढंग से काम नहीं कर सकता।' (पृ. 33)

वह 'उत्पादन और नियंत्रण के बीच के अन्तरविरोध' को 'पूंजीवादी व्यवस्था का मुख्य दोष' कहता है (पृ. 75-76)। ऐसा लगता है कि 'पूंजी की व्यवस्था' की 'अनियंत्रणीयता' का उसका विचार उसका पीछा करता रहता है। इस हद तक कि वह 'पुनरुत्पादन की अनिवार्यता' की बात करने लगता है और पूंजी की गति को 'जन्मजात रूप से विस्तारशील' बताता है। पुन: आगे चलकर ऐसा लगता है कि वह समस्या में उलझ सा जाता है जब वह एडम स्मिथ के 'अदृश्य हाथ' की चर्चा करता है, जिसे वह 'सम्पूर्ण नियंत्रक' के रूप में देखता है। विस्तारित पुनरुत्पादन या संचय की आवश्यकता के विशेष संदर्भ में बात करते हुए वह बहुत हद तक कीन्सवाद, 'हरोड-डोमर मॉडल' इत्यादि के रास्ते पर चल पड़ता है। परन्तु ''उत्पादन प्रक्रिया'' के के जिस विषय क्षेत्र में उसे केन्द्रित करना था उसमें वह चूक जाता है और केवल श्रम प्रक्रिया को देखता है, वह भी एकतरफा तरीके से (यहां तक कि वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को मूल्य निर्धारण प्रक्रिया और श्रम प्रक्रिया की एकता के रूप में नहीं देखता)। ताज्जुब नहीं कि वह नियंत्रण के प्रश्न को समाज के धरातल पर नहीं बल्कि अलग-अलग उत्पादन इकाई के धरातल पर देखता है वह समाज को असमान उत्पादन इकाइयों के समूह के रूप में समझता है। इसीलिए 'अनियंत्रणीयता की प्रतिच्छाया' अध्याय में वह तलकॉट पारसन्स और गालब्रेथ के खिलाफ वाद-विवाद चलाता है, जिन्होंने स्वामित्व और नियंत्रण के पृथक्करण की बात लिखी है। यह बात इस तथ्य पर आधारित है कि ''बड़े निगमों का नियंत्रण प्रभावी ढंग से पेशेवर प्रबन्धकों के हाथ में आ चुका था। इस कारण नियंत्रण के औजार में इन निगमों की प्रतिभूतियों (Securities) के व्यक्तिगत स्वामित्व का नाममात्र का महत्व था। पारसन्स और गालब्रेथ ने यह दिखाने की कोशिश की थी कि ''स्थापित व्यवस्था के सम्पत्ति सम्बन्धों की समाजवादी समीक्षा अब लागू नहीं हो सकती।'' मेस्जारोस, इसका खण्डन मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन के ढंग से नहीं करता, जिन्होंने कम्पनियों का प्रबन्धन पेशेवर प्रबन्धकों द्वारा सम्भाल लिये जाने में 'कूपन काटने वाले' पूंजीपति की परजीविता तथा उत्पादन प्रक्रिया में उनकी निरर्थकता (Redundency) को देखा। उत्पादन और नियंत्रण के सवाल के दायरे के भीतर 'प्रबन्धन क्रान्ति' पर मेस्जारोस द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला विस्तृत विवरण यह दिखाता है कि उसकी दृष्टि श्रम प्रक्रिया के उपासना घर की दीवारों में कैद है। 'पूंजी का वैयक्तिकरण' कोई भी स्वरूप ग्रहण कर सकता है चाहे, वह सोवियत प्रबंधक (संशोधनवादी सोवियत संघ का) का हो या पेशेवर प्रबन्धक का। यह सच्चाई है। ऐसा इसलिए है क्योंकि पूंजी एक सामाजिक शक्ति है। मेस्जारोस इस सामाजिक शक्ति की व्यापकता को घटाकर श्रम प्रक्रिया के बराबर ला खड़ा करता है और 'उत्पादन' तथा 'नियंत्रण' की समस्या को उसके सम्पूर्ण आयाम में नहीं देख पाता—जिसे वह पूंजीवादी व्यवस्था का 'मुख्य दोष' कहता है। वह समस्या की इस ढंग से ''विवेचना'' करता है—पूंजी के शासन के अन्तर्गत अनिवार्यत: समाज का एक खास तरीके का शत्रुतापूर्ण ढांचा होना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि श्रम प्रक्रिया में 'उत्पादन' और 'नियंत्रण' के कार्य बुनियादी रूप से एक-दूसरे से अलग होते है और इन्हें पूरा करने का काम अलग-अलग वर्गों के लोगों को सौंपा जाता है।

स्पष्टत: पूंजी तंत्र—जिसका अस्तित्व ही उत्पादकों से किसी भी तरीके से अतिरिक्त श्रम अधिकतम दोहन पर निर्भर करता है अपने ढांचागत दायरे के साथ भले ही संगत में हो—किसी भी अन्य रूप में अपने सामाजिक उपापचय (Metabolic) कार्य को पूरा नहीं कर सकता। इसके विपरीत, सामन्ती व्यवस्था तक को भौतिक उत्पादन और नियंत्रण में इस प्रकार का बुनियादी सम्बन्ध विच्छेद नहीं करना पड़ता था। भूदासों का राजनीतिक बन्धन चाहे कितना ही सम्पूर्ण क्यों न रहा हो जहां उस जमीन को चुनने की व्यक्तिगत आजादी से वे वंचित होते थे जिस पर वे मेहनत मजदूरी करते थे। इसके बावजूद उनका अपने काम करने के औजारों पर कब्जा बना रहता था तथा स्वयं उत्पादन प्रक्रिया के अधिकांश पर वे औपचारिक ढंग से नहीं बल्कि वास्तविक अर्थों में नियंत्रण रखते थे। (पृ. 43)

मार्क्स कहते हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत दास को हांकने वाले चाबुक की जगह फोरमैन के जुर्माना रजिस्टर ने ले ली है। दास समाज और उजरत का गुलामी (पूंजीवाद या पूंजी तंत्र) के 'उत्पादन' और 'नियंत्रण' के बीच यह अन्तर होता है। लेकिन पूंजीवादी समाज में 'उत्पादन और नियंत्रण' वास्तव में एक समस्या है जैसा कि एडम स्मिथ के 'अदृश्य हाथ' और इधर के अर्थशास्त्रियों द्वारा लगातार किये जाने वाले बाजार सबसे अच्छा जानकार' के जाप से समझा जा सकता है। 'उत्पादन और नियंत्रण' में इस तरह का अन्तरविरोध अन्य किसी सामाजिक-आर्थिक संरचना में नहीं पाया जाता।

पूंजीवाद में मनुष्यों के बीच के सामाजिक सम्बन्ध वस्तुओं के बीच के सम्बन्धों के रूप में प्रकट होते हैं। पूंजीवाद से पूर्व की संरचनाओं के बारे में मार्क्स कहते हैं ''श्रम करने के दौरान व्यक्तियों के बीच बनने वाले सामाजिक सम्बन्ध हमेशा उनके खुद के आपसी वैयक्तिक सम्बन्धों के रूप में दिखाई देते हैं और श्रम के उत्पादों के सामाजिक सम्बन्धों के छद्म रूप में अभिव्यक्त नहीं होते हैं'' (पूंजी, खंड 1, पृ. 82) यही अन्धभक्ति माल उत्पादन और पूंजीवादी उत्पादन में, जहां उत्पाद माल की शक्ल ले लेते हैं, अन्तर्निहित होता है। मालों का उत्पादक यह नहीं जानता है कि उसका माल बिक जायेगा या नहीं अथवा कितना अंश बिकेगा या दूसरे शब्दों में कहें कि उसके श्रम की गणना सामाजिक श्रम के रूप में की जायेगी या नहीं? जब विनिमय सीमित पैमाने पर हो तो यह समस्या संकट उत्पन्न नहीं करती। माल उत्पादन और पूंजीवाद के अन्तर्गत जहां उत्पाद माल की शक्ल ले लेते हैं, एक विशेष प्रकार के श्रम की सामाजिक श्रम के रूप में गणना बाद में चलकर केवल विनिमय के माध्यम से ही की जा सकती है। व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने की यह पद्धति केवल धोखे की टट्टी खड़ी करने वाला हो सकता है। व्यक्तियों का अपने उत्पादों और अपने स्वयं के सामाजिक सम्बन्धों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। नियंत्रण की यही वह वास्तविक गैर मौजूदगी है, जिसे एडम स्मिथ ''अदृश्य हाथ'' (बाजार) कह कर युक्तिसंगत बनाने का प्रयास करते हैं। मेस्जारोस को यह बेहतर तरीके से मालूम हो या होगा क्योंकि उसने अलगाव (alienisation) का पूरा सिद्धान्त ही गढ़ा है। उत्पादन और नियंत्रण की उसकी अनोखी समझ को कम्युनिस्ट नियोजन सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण में देखा जा सकता है। उसके विचार ये हैं—''मार्क्स के विचार में 'श्रम काल का नियोजित वितरण' सामुदायिक श्रम प्रक्रिया के विनियमन का मुख्य लक्षण है। और इससे भी अधिक समाज के कुल प्रयोज्य (disposable) श्रमकाल का यह वास्तविक नियोजित वितरण उत्पादन और विनिमय की सामुदायिक प्रणाली के लिए निश्चय ही विलक्षण है। ऐसी परिस्थितियों में जब कि श्रम का पूंजीवादी विभाजन हावी रहता है, उत्पादन और वितरण का शत्रुतापूर्ण ढांचा मूल्य के नियम के अंध निर्धारण को समाज पर थोप देता है। नियंत्रण और निष्पादन (पूंजी और श्रम) के बीच बेमेल परस्परविरोधी सम्बन्धों और श्रम

के विभाजन की दी हुई परिस्थितियों में, इससे पूर्व कि सामाजिक-आर्थिक अन्तरसम्बन्धों की अराजक विविधता की एक एकीकृत सामाजिक तंत्र के रूप में कोई कल्पना तक कर सके, किन्हीं विशेष उत्पादन इकाईयों से निकलने वाले उत्पाद अनिवार्यत: पहले 'विनिमय मूल्य की ऊंचाई तक पहुंच जाते हैं और विनिमय मूल्य के रूप में उनका विनिमय हो चुका होता है। (पृ. 764) यह है समाजवादी (या ठीक कहें तो कम्युनिस्ट) नियोजन और पूंजीवादी उत्पादन के साथ उसके विरोध की मेस्जारोस की समझदारी का उदाहरण। मेस्जारोस के हिसाब से पूंजीवादी उत्पादन समाजीकृत स्वरूप के बगैर होता है। इस मामले में वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की विशिष्टता को नहीं देख पाता। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की महान ऐतिहासिक प्रगति यह थी कि इसने उत्पादन का समाजीकरण कर दिया। लेकिन पूर्व के युगों के विनियोजन (appropriation) का निजी स्वरूप जस का तस बना रहा। इस कारण फिर एक नये प्रकार का अन्तरविरोध उत्पन्न हो जाता है और यही अन्तरविरोध पूंजीवादी समाज में सभी प्रकार के सामाजिक विरोधों का बीज है (यदि मेस्जारोस की शब्दावली का इस्तेमाल करें तो यही वह ''मुख्य दोष'' है)। होता यह है कि स्वत: विस्तारशील मूल्य के रूप में पूंजी उत्पादन को आगे बढ़ाती जाती है और ऐसा वह बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों के विकास के जरिये करती है। ऐसा करते हुए वह समाजवाद की भौतिक पूर्वशर्तें तैयार करती है यही यह चीज है जो मेस्जारोस को तंग करती रहती है। यह 'उत्पादन और वितरण का विरोधी चरित्र' नहीं है जो 'मूल्य के नियम के अन्धनिर्धारण को समाज पर थोप देता है' जैसा कि मेस्जारोस हमें विश्वास दिलाना चाहता है। प्रत्येक वर्ग समाज की यह विशेषता होती है—उत्पादन और वितरण की विरोधी स्थितियां। मूल्य एक उत्पादन सम्बन्ध है जो पूंजीवाद के पहले भी मौजूद था। विनिमय मूल्य की मौजूदगी पूंजी पर आधारित उत्पादन की पूर्व शर्त होती है —पूंजी उसे सृजित नहीं करती। ऐसा भी नहीं होता कि श्रम प्रक्रिया के विरोधी सम्बन्धों के कारण उत्पाद विनिमय मूल्य का रूप ग्रहण कर लें। सभी (वर्ग समाज के) पूर्व की सामाजिक आर्थिक संरचनाओं में 'नियंत्रण और निष्पादन' जिसकी बात मेस्जारोस करता है, अलग-अलग वर्गों के लोगों के हाथ में इन समाजों में आते रहे हैं। स्वतंत्र उत्पादक माल उत्पादन करते हुए भी 'अपना मालिक' स्वयं बना रहता है। उपरोक्त मान्यताओं के जरिये वह हमारा ध्यान श्रम प्रक्रिया पर स्थिर कर देने का प्रयास करता है। कम्युनिस्ट नियोजन की ओर बढ़ने के लिए, जहां व्यक्ति की उत्पादक गतिविधि की गणना तत्काल सामाजिक श्रम के रूप में हो जाती है, हमें उत्पादन सम्बन्धों की पुनर्सरंचना उस भौतिक पूर्वाधार के आधार पर करनी होगी जो इसे सम्भव बनाता है। परन्तु कम्युनिस्ट उत्पादन सामाजिक विनियोजन वाला एक सामाजिक उत्पादन है और यह अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी समाधान के आधार पर नहीं किया जा सकता।

मेस्जारोस 'पूंजी से आगे' इस प्रकार जाना चाहता है :'सामाजिक सम्पत्ति' जो वास्तव में एक पृथक सत्ता के नियंत्रण में रहता है, की ऐतिहासिक रूप से अनुभव की गयी खोखली विधिक परिभाषा के विपरीत उत्पादन की वस्तुगत परिस्थितियों को (जैसे कि साधन और सम्पत्ति) असली, अथवा वास्तविक सम्पत्ति के रूप में, स्वयं उत्पादकों को लौटा कर' और ''स्वत:प्रबन्धन के समुचित रूप को'' प्रतिस्थापित कर (पृ.802)। (और इस तरीके से 'समाजवादी श्रम प्रक्रिया' की शुरुआत होगी। (पृ.106)।

प्रश्न उत्पादकों को सम्पत्ति लौटाने का नहीं बल्कि उनके सामाजिक चरित्र को मान्यता देने का है। सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में वे प्रत्यक्ष उत्पादकों की सम्पत्ति बन जाते हैं। इस प्रक्रिया का ब्यौरा एंगेल्स इस प्रकार देते हैं—समाज के लिए उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में ले लेना, वह पहला कार्य जिससे राज्य अपने आपको समूचे समाज के प्रतिनिधि के रूप में वास्तव में संघटित करता है। ठीक उसी समय राज्य की हैसियत से किया जाने वाला उसका यह अन्तिम स्वतंत्र कार्य भी होता है। सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप एक क्षेत्र के बाद दूसरे में अनावश्यक होता जाता है, और फिर यह स्वयं नष्ट हो जाता है। व्यक्तियों पर शासन का स्थान वस्तुओं का प्रशासन और उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ले लेता है। (एण्टी ड्यूहरिंग, पृ. 322)

'उत्पादकों को लौटा देना' अपने अस्पष्ट सामान्यीकरण के चलते गुमराह करने वाला वाक्यांश है। इसे राजकीय सम्पत्ति के वैधिक विभ्रम (राजकीय पूंजीवादी सम्पत्ति) को ''सामूहिक सम्पत्ति'' मान लेने के समतुल्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। राज्य को रातोरात समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, प्रशासन और बहीखाते आदि के सामाजिक कार्यों को पूरा करने के लिए केन्द्रिय अंग के रूप में नियोजन * मौजूद रहता है। यह नियोजन मनुष्यों पर शासन नहीं वरन् चीजों और उत्पादन की प्रक्रियाओं का प्रशासन करता है, जैसा सन्त साइमन के हवाले से एंगेल्स बताते हैं। अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी सोच यह है कि उत्पादक समूचे समाज के धरातल पर नहीं बल्कि अपनी उत्पादन इकाइयों के स्तर पर चीजों के बारे में फैसला लेते हैं। उत्पादन इकाइयों को स्वायत्तता देने की ख्रुश्चेवी सुधार की शरुआतने यह साफ-साफ दिखा दिया है कि प्रत्येक उत्पादन इकाई वैसा ही व्यवहार करने लगा है जैसा उत्पादक (माल स्वामी) पूंजीवाद के तहत करते हैं। 'स्वत:प्रबन्धन' भी कपट भरा वाक्यांश है। जिसकी तुलना साम्यवाद के अन्तर्गत 'मुक्त और सम्मलिति श्रम' से नहीं की जा सकती। मेस्जारोस अपने 'स्वत:प्रबन्धन' के जरिये 'श्रम प्रक्रिया के अन्तरविरोधी सम्बन्धों' को निर्मूल कर देना चाहता है। यहां तक कि पूंजीवाद के तहत भी सहकारी कारखाने जैसे ढांचे 'श्रम प्रक्रिया में अन्तरविरोधी सम्बन्ध' समाप्त कर देते हैं परन्तु वे पूंजी के नियंत्रण में ही दृढ़तापूर्वक बने रहते हैं और विनिमय मूल्य पैदा करते हैं (मार्क्स, पूंजी, खण्ड तीन, पृ. 387)। वे पूंजी के समस्त गति के नियमों के अधीन होते हैं। यह बात कोई भी वर्ग सचेत मजदूर (या इस तरह के कारखाने में काम किया हुआ व्यक्ति) समझ लेता है जो आपको बता देगा कि आप कारखाने पर भले ही कब्जा कर ले आप उजरती गुलाम ही रहेंगे और पूंजी से बंधे होंगे। असली प्रश्न उत्पादन सम्बन्धों को तोड़ने का है।

'बियाण्ड कैपिटल' उत्पादन सम्बन्ध से, जो हमारे निशाने पर होना चाहिए, अलग कर श्रम प्रक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी विचार प्रस्तुत करता है। फिर, पूंजीवाद द्वारा सौंपी गयी भौतिक परिस्थितियों को खारिज कर, जो मार्क्स के अनुसार साम्यवाद की पूर्वाधार होती है, मेस्जारोस ल्यूडांइर अवस्थिति अपना लेता है। उसका बियाण्ड कैपिटल साम्यवाद का दो मंजिलों —जिसकी समाजवाद और साम्यवाद के रूप में पहचान की जाती है—के दौरान लिए जाने वाले उपायों का घालमेल कर देता है यह है उसकी ''जिन्दगी भर की मेहनत'' का कुल निचोड़। इसके बाद सिर्फ शेष रहता है—भारी भरकम वाक्यांशों और उकताहट पैदा करने वाले शब्दाडंबरों का एक स्मारक।

ल्यूडाइट : उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों के दौरान ब्रितानी मैन्युफैक्चरिंग डिस्ट्रिक्ट मजदूरों द्वारा भारी पैमाने पर की गयी मशीनों की तबाही के गवाह रहे। मजदूरों ने अपनी बर्बादी के लिए मशीनों को जिम्मेदार माना था। यह ल्यूडाइट आन्दोलन के नाम से विख्यात है।

इस आन्दोलन पर मार्क्स की टिप्पणी थी—''इससे पहले कि श्रम करने वाले लोग मशीनरी और उनको लगाने वाली पूंजी के बीच अन्तर करना तथा उत्पादन के उपकरणों की जगह उस प्रणाली के खिलाफ, जिसके अन्तर्गत इसका प्रयोग होता है, अपने आक्रमण को मोड़ना सीख सकते, उन्हें समय और अनुभव दोनों के दौर से होकर गुजरना पड़ा।'' (पूंजी खण्ड 1)।

('प्रोलेतेरियन पाथ', जुलाई' 1998 से साभार) अनुवाद **: मीनाक्षी**

* समाजवादी सोवियत संघ में केन्द्रीय स्तर पर नियोजन नीचे से किया गया प्रतिनियोजन होता था। 'कमाण्ड नियोजन' को समाजवाद के तहत होने वाले नियोजन के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए।

टिप्पणियां

बढ़ता आर्थिक ''सुधार'' और घटता कृषि विकास

भारतीय खेतिहर आबादी में आज भी सबसे बड़ी संख्या संसाधन-विपन्न छोटे एवं सीमान्त किसानों की ही है। लेकिन शुरू से लेकर अब तक पंचवर्षीय योजनाओं के तहत विकास का जो रास्ता अख्तियार किया गया है, उस पर सर्वाधिक उपेक्षा इसी बड़ी संख्या की की गयी है। बेशक तथाकथित ''हरित क्रान्ति'' की बदौलत सकल खाद्याान्न उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई, परन्तु इसके अनिवार्य प्रति-प्रभाव के तौर पर छोटे एवं सीमान्त किसानों का अधिकाधिक हाशियाकरण (मार्जिनलाइजेशन) ही हुआ जबकि हरित क्रान्ति का अभियान शुरू करते हुए ''नीचे की ओर रिसाव सिद्धान्त'' (ट्रिकल डाउन थिअरी) की थीसिस दी गयी थी – जिसका मतलब यह था कि अति पूंजी सघनता की अपेक्षा रखने वाली यह तथाकथित क्रान्ति पहले संसाधनसम्पन्न किसानों (पूंजीवादी फार्मरों) धनी किसानों एवं कुलकों के फार्मों पर सफल होगी, और उसकी उपलब्धियां रिस-रिस कर छोटे एवं सीमान्त किसानों तक पहुंचेगी। वैसे इस हास्यास्पद थीसिस को कम से कम संसाधन-विपन्न छोटे एवं सीमान्त किसानों के मामले में, असफल तो होना ही था, सो यह हुई भी बल्कि यह इन किसानों को और अधिक तबाह करने वाली ही सिद्व हुई बहरहाल इस तथाकथित हरित क्रान्ति की बदौलत खाद्यान्न -उत्पादन में आत्मनिर्भरता हासिल हो चुकने का ढिंढोरा खूब पीटा गया, जब कि कटु सच्चाई यह है कि खाद्यान्नों का आयात—यहां तक कि गेंहू का आयात, भी कभी पूरी तरह से बन्द नहीं हुआ और तिलहनों, दलहनों तथा चीनी का तो प्राय: हरदम ही आयात होता रहा है। मोटे तौर पर, यही असली राम कहानी है भारतीय कृषि विकास की खासतौर से आर्थिक ''सुधार'' की नीतियां लागू होने से पूर्व तक।

लेकिन इस दशक के आंरभ से आर्थिक सुधार की जो नीतियां लागू की गयी हैं—जो आज भी जारी हैं, और आगे भी कम से कम वर्तमान व्यवस्था के तहत, जारी ही रहने वाली हैं, उनकी बदौलत भारतीय कृषि का क्या हश्र हुआ है—यही इस आलेख का केन्द्रीय विषय है। तथ्य और आंकड़े तो यही दर्शाते हैं कि इन तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियों की बदौलत भारतीय कृषि का भट्ठा और भी तेज गति से बैठने लगा है। जैसा कि सारणी-एक से स्पष्ट है, 1990-91 से लेकर 1997-98 तक की अवघि में इन तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियों के चलते चावल, गेंहू, मोटे अनाजों, दालों, तिलहनों और यहां तक कि कपास और गन्ना की पैदावारों में 1980-81 से 1990-91 तक की अवधि मे प्राप्त इन्हीं के पैदावारों की तुलना में, भारी गिरावट आयी है।

उल्लेखनीय है कि 1990 -91 से 1997-98 तक की अवधि के दौरान गेंहू उत्पादन वृद्धि दर के मुकाबले घटकर लगभग आधी ही रह गयी है, तथा मोटे अनाजों और दलहनों के उत्पादन की वृद्धि दरें तो घटकर ऋणात्मक तक हो गयी है। निश्चय ही इन निराशाजनक परिणामों में, भारी असिंचित क्षेत्र की भारी संसाधन विपन्न छोटे एवं सीमान्त किसानों पर तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियों की कड़ी मार की असलियत छिपी हुई है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कृषि फसलों के उत्पादन की वृद्धि दरों में गिरावट की यह आम प्रवृत्ति तब भी दृष्टिगोचर हो रही है, जबकि 1990 से 1998 तक की पूरी अवधि के दौरान मानसूनी वर्षा का भौगोलिक और सामयिक वितरण, पूर्ववर्ती दशकों की अपेक्षा, कहीं बेहतर और सन्तोषजनक रहा है।

कृषि क्षेत्र की इस बद से बदतर होती जा रही स्थिति के लिए, खासतौर से 1990-91 से जारी तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियां ही जिम्मेदार हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये नीतियां अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैकं के दबाव में और उन्हीं की निगरानी में संचालित हैं। इन नीतियों के समूचे समुच्चय की सर्वप्रमुख विशिष्टता तथाकथित संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के तहत राजकोषीय घाटे को कम करने पर ही जोर देने की रही है। फलत: बीज, खाद, उर्वरक, सिंचाई, जल आदि पर सब्सिडियों में भारी कटौतियां की गयी हैं, तथा बाजार की शक्तियों के लिए समतल मैदान तैयार करने के नाम पर कृषि क्षेत्र में सरकार का समर्थन और सहयोगी हस्तक्षेप निरन्तर कम होता गया है। यहां पर, प्रसंगवश, यह तथ्य खासतौर से उल्लेखनीय है कि वर्ष 1990 -91 में सम्पूर्ण योजना व्यय का जो प्रतिशत (यानी 20.4प्रतिशत) कृषि, ग्रामीण विकास, विशेष क्षेत्रीय कार्यक्रम तथा सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण के लिए निर्धारित किया गया था, उसमें वर्ष 1993-94 के बाद से निरन्तर कमी आती गयी है, और वर्ष 1997-98 में तो यह घटकर, अन्तरिम तौर पर, मात्र 9.9 प्रतिशत ही रह गया है। इसे सारणी-दो में स्पष्टत: देखा जा सकता है।

कृषि क्षेत्र में योजना-व्यय का प्रतिशत तो तभी से घटना शुरू हो गया था जब सन 80 के दशक के मधय से ही सार्वजनिक निवेश वृद्धि दर में कटौती की जाने लगी थी।

यद्यपि यह सही है कि सन 90 के दशक के दौरान निजी निवेश में बढोत्तरी हुई है, फिर भी सकल पूँजी निर्माण में कृषि क्षेत्र की गिरती जा रही हिस्सेदारी को थामा नहीं जा सका है। इसका कारण, प्रमुख तौर पर, यही है कि निजी निवेश कर सकने में समर्थ संसाधन-सम्पन्न किसानों की संख्या, संसाधन-विपन्न किसानों को भारी संख्या की तुलना में नगण्य ही है। और जहां संसाधान-विपन्नों की इस भारी संख्या के लिए सार्वजनिक निवेश बढ़ाया जाना चाहिए, वहां यह इसके विपरीत क्रमश: कम होता हुआ, पिछले दो वर्षों के दौरान तो ऋणात्मक वद्धि दर पर आ पहुंचा है नतीजतन, संसाधन-विपन्न छोटे एवं

सारणी-एक : कृषि उत्पाद वृद्धि दरें (चक्रवृद्धि वाषिक दरें)

	चावल	गेंहू	मोटे अनाज	दलहन	कुल खाद्यान्न	तिलहनें	कपास	गन्ना	सकल कृषि उत्पाद
1980-81 से 1990-91 तक	3.3	4.2	1.2	3.0	3.1	7.0	3.4	4.6	3.0
1990-91 से 1997-98 तक	1.7	2.7	-0.7	-1.3	1.4	3.5	2.2	1.1	1.9

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98

सारणी-दो : सम्पूर्ण योजना व्यय के हिस्से के तौर पर कृषि में योजना व्यय का प्रतिशत

91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97	97-98*
20.4	21.1	20.4	19.6	19.9	19.4	9.9

* अन्तरिम

स्रोत : आल्टरनेटिव इकॉनमिक सर्वे 1991-98 .

सीमान्त किसानों की भारी आबादी की हालत अधिकाधिक बदतर होती चली से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के भीतर असमानताएं बेपनाह बढ़ती गयी हैं। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और यहां तक कि पंजाब में किसानों द्वारा की गयी सामूहिक आत्महत्याएं इसी तबाही की परिणतियां हैं, जिनके के लिए निशिचित तौर पर तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियां ही जिम्मेदार हैं।

तथाकथित आर्थिक सुधार की नीतियों के दबाव में ही ऐसा हुआ है कि प्रमुख उर्वरकों के दामों में असमान बढोत्तरी की गयी है और नतीजतन, एन पी के (नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश) उपभोग अनुपात बिगड़ गया है। जहां यह अनुपात 4:2:1 के ''आदर्श अनुपात'' से अधिक होकर (यानी बिगड़ कर) 1990-91 में ही 5: 9: 2.4: 1 था, वहां यह और भी बिगड़कर 1996-97 में 10:2:9:1 हो गया, जिसका भारी दुष्प्रभाव, निश्चित तौर पर, भूमि के भीतर पोषक तत्वों के सन्तुलन और भूमि की उत्पादकता एवं उर्वरता पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

वर्तमान दशक में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा दिये जाने वाले रिण की मात्रा में भी काफी कमी आयी है, और निजी क्षेत्र के बैंक तो कृषि ऋण को कोई प्राथमिकता देते ही नहीं। इस तरह कृषि क्षेत्र को मिलने वाले संस्थागत ऋण-सहयोग में भारी कमी होते जाने के चलते किसानों की ऋणग्रस्तता और भी तेजी से बढ़ती गयी है। स्वयं केन्द्रीय कृषि मंत्रालय द्वारा गठित एक उच्चस्तरीय कमेटी की रिपोर्ट से पता चलता है कि पंजाब और हरियाणा जैसे कृषि के मामले में उन्नत कहे जाने वाले राज्यों में भी किसानों की ऋणग्रस्तता बेहद बढ़ी है। इसी रिपोर्ट में बताया गया है कि इन राज्यों में किसानों की ऋण आवश्यकता और 1996-97 वर्ष में मुहैया किये गये संस्थागत कृषि ऋण के बीच 62 प्रतिशत का अन्तर आ गया था, जिसका नतीजा यह हुआ है कि वहां भारी किसान आबादी निजी सूदखोर महाजनों के चंगुल में जा फंसी है। आर्थिक सुधार की नीतियों ने पूरे देश के पैमाने पर फसलोत्पादन के पैटर्न में भारी हेरफेर कर डाला है। जैसा कि सारणी-तीन से विदित होता है, खाद्यान्न पैदा करने वाले क्षेत्रफल 1990-91 में 74.2 मिलियन हेक्टेयर से घटकर 1995-96 में 71.3 मिलियन हेक्टेयर रह गया है। इस की जगह गैर खाद्यान्न फसलें (जैसे तिलहन, कपास और गन्ना) पैदा करने वाला क्षेत्रफल 1990-91 में 25.8 मिलियन हैक्टेयर से बढ़कर 1995.96 में 28.7 मिलियन हैक्टेयर हो गया है। मोटे अनाज पैदा करने वाले क्षेत्रफल तो इस अवधि में और भी कम हुआ है। इस तरह खाद्यान्न फसलों के उत्पादन क्षेत्र पर से जोर का का गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन क्षेत्र की ओर खिसकाव भारी मेहनतकश आबादी के खाद्यान्न सुरक्षा को तेजी से खतरे में डालते जाने की दिशा में अग्रसर है। कृषि को ''निर्यात -निर्दिष्ट'' बनाने के चक्कर के चलते भी खाद्यान्न -उत्पादन पर जोर घटना और गैर-खाद्यान्न यानी वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन पर जोर बढ़ता जा रहा है। इससे खाद्यान्न-सुरक्षा पर दोहरा संकट छाता जा रहा है। (वैसे यह अलग बात है कि इस जोर के बावजूद कृषिगत निर्यात 1991-97 की अवधि में, बढ़ने के बजाय 15 प्रतिशत से 18 प्रतिशत तक घटा ही है।)

दरअसल भारत समेत तीसरी दुनिया के सभी विकासशील देशों को खाद्यान्न-आत्मनिर्भरता के मामले में कमजोर कर देने की साजिशाना नीति तो गैर सम्बन्धी उरुग्वे चक्र संधि में ही निहित थी, जो बाद में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) में संस्थाबद्ध हुई, जिसका मकसद ही यह था कि विकासशील देशों को अन्तरराष्ट्रीय बाजारों में पश्चिमी साम्राज्यवादी जगत के देशों से तथाकथित सस्ते दरों पर अनाज मुहैया करने का लालच देकर उन्हें हमेशा-हमेशा के लिए खाद्यान्न के मामले में पर-निर्भर बना दिया जाय, ताकि खाद्यान्न बेचकर मुनाफाखोरी करने वाले साम्राज्यवादियों की मुनाफाखोरी निरन्तर बनी रहे। इसे और मुकम्मल कर डालने की साजिश के तहत ही, विदेशी मुद्रा अर्जित करने का नुस्खा निर्देश देकर कोष-बैंक के साम्राज्यवादी नीति -निर्धारिक भारत समेत तीसरी दुनिया के देशों को कृषि को निर्यात-निर्दिष्ट करने का पाठ पढ़ाते हुए, कृषि क्षेत्र को गैर खाद्यान्न उत्पादक क्षेत्र में तब्दील कर डालने का दबाव डालते जा रहे हैं। इसमें ऐसा नहीं है कि तीसरी दुनिया के देशों के शासक वर्ग इससे अनभिज्ञ हैं। नहीं, वे पूरी तरह से वाकिफ हैं, और पूरी बाखबरी में, अपनी विवशताओं और जरूरतों के चलते घुटने टेककर इस साम्राज्यवादी कुचक्र के छुटभैया साझीदार बन चुके हैं। इस साझा कुचक्र में किसको कितना मिलेगा, यह तो उनकी अपनी-अपनी हैसियत-औकात से तय होगा, परन्तु एक बात तय ही है कि इससे बेपनाह तबाही और बर्बादी इन देशों की भारी मेहनतकश आबादी—और खासतौर से बहुसंख्यक गरीब ग्रामीण आबादी की ही होगी, जो होनी शुरू भी हो गयी है। सच्ची पक्षधर और पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी परिवर्तनकारी ताकतों को इस पर गम्भीरता से सोचना ही होगा। ●

सारणी-**3** : फसलोत्पादन पैटर्न में परिवर्तन: विभिन्न फसलों के अर्न्तगत बोया गया कुल फसल क्षेत्रफल (मिलियन हेक्टेयर में)

फसल	1990-91 अन्त तक त्रिवर्सीय औसत	1995-96
धान	24.6	24.7
गेंहू	13.9	14.6
मोटे अनाज	21.9	18.6
दलहन	13.8	13.3
कुल खाद्यान्न	**74.2**	**71.3**
तिलहन	13.4	15.0
कपास	4.4	4.7
गन्ना	2.0	2.2
कुल गैर खाद्यान्न	**25.8**	**28.7**
सम्पूर्ण फसलें	**100**	**100**

पंजाब का कृषि विकास अब गंभीर संकटों की चपेट में

भारतीय कृषि -क्षेत्र के त्वरित विकास के नाम पर दशकों पूर्व जो तथाकथित हरित क्रान्ति शुरू की गयी थी, उसका सर्वाधिक घनीभूत प्रयोगीकरण पंजाब में किया गया था। इसके लिए तथाकथित अधिक उपज देने वाली जातियों (एच वाई वी) का भरपूर इस्तेमाल किया गया। परंतु सच्चाई यह थी कि ये प्रजातियां वास्तव में अधिक उपज देने वाली प्रजातियां न होकर 'अधिक अनुक्रियात्मक जातियां' ही थीं। अर्थात, और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो, ये खूब खाद-पानी, कीटनाशक और खरपतवार नाशक दवाओं के इस्तेमाल से ही खूब उपज देने वाली जातियां थीं, लेकिन तब भी यह एक स्पष्ट सच्चाई थी, कि इन तथाकथित अधिक उपज देने वाली जातियों

से प्राप्त अनाज और भूसे की कुल सम्मिलित उपज (अनाज +भूसा) से कतई अधिक न थी। इसके साथ ही दूसरी स्पष्ट सच्चाई यह भी थी कि इन जातियों की खेती में निवेश और पैदावार का अनुपात देशी जातियों की खेती में निवेश और पैदावार का अनुपात देशी जातियों की खेती में निवेश और पैदावार के अनुपात की तथाकथित अधिक उपज देने वाली जातियों की खेती अनिर्वायत: बाजार से खरीदे जाने वाले बीज, खाद, कीट एवं खरपतवार नाशक दवाओं के पूंजी-सघन पैकेज पर निर्भर थी, जिसमें इसके द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक जीवन तथा पर्यावरण पर पड़ने वाले गम्भीर दुष्प्रभावों पर कतई धयान नहीं दिया गया था। दरअसल हरितक्रान्ति का तथाकथित समावेश तो पश्चिमी साम्राज्यवादी जगत और उसका सरगना अमेरिका साम्राज्यवाद की एक साजिशाना मुनाफाखोरी के मकसद से किया गया, ताकि भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में साम्राज्यवादी देशों को अपने बीज, उर्वरक, कीटनाशक एवं खरपतवारनाशक दवाओं आदि के निर्यात के लिए एक बड़ा बाजार मिल सके। परन्तु भारत समेत तीसरी दुनिया के देशों के शासकों और यहां तक कि कृषि वैज्ञानिकों ने भी इस बखूबी नजरअंदाज ही किया और स्वयं साम्राज्यवादियों के भोंपू बनकर इस तथाकथित हरितक्रान्ति का खूब प्रचार-प्रसार किया।

जैसा कि ऊपर इंगित किया जा चुका है इस हरितक्रान्ति का सघन प्रयोगीकरण पंजाब में किया गया, और कृषि विकास के पंजाब पैटर्न और हरित क्रान्ति तकनोलॉजी को देश के शेष भागों के लिए कृषि विकास का सर्वोत्तम रास्ता बताया गया। आज भी पंजाब के बारे में सामान्य धारणा यही है कि वहां कृषि क्षेत्र खूब फलफूल चुका है, और कि वहां किसानों की आमदनी खूब बढ़ रही है। बेशक यह बात हरितक्रान्ति के आरंभिक दिनों के लिए सही थी, और वह भी इस कारण कि अभी इसके सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय दुष्परिणाम आने बाकी थे। लेकिन आज वहां स्थितियां बहुत विषम बन चुकी हैं: अन्तर-क्षेत्रीय,अन्तरवर्गीय और यहां तक कि एक ही क्षेत्र और एक ही वर्ग के भीतर चौड़ी हो चुकी आर्थिक विषमता की खाई, बढ़ती बेरोजगारी, विपन्नता, आदि के साथ-साथ, भूमि की रुग्णता, जललग्नता, तथा भूमि, जल एवं वातावरण की प्रदूषण की समस्याएं भी गम्भीर रूप ले चुकी हैं। स्थिति की भयावहता का संकेत तो इसी बात से मिल जाता है कि पिछले वर्ष 23 और 24 अक्टूबर को, राज्य सरकार के आग्रह पर पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना ने पंजाब के किसानों और उनकी किसानी की समस्याओं को लेकर एक गंभीर संगोष्ठी आयोजित की। इस संगोष्ठी में जो एजेण्डा पेपर प्रस्तुत हुआ, उसके अनुसार पंजाब के कृषि क्षेत्र की अब तक की सबसे गम्भीर समस्याओं को रेखांकित किया गया, जिनमें से प्रमुख समस्याऐं इस प्रकार रखी गयीं :

(1)वर्तमान फसल-प्रणाली और तकनोलॉजी की क्षमता को 75 प्रतिशत तक निचोड़ लेने के बावजूद किसानों की भारी आबादी की आर्थिक दशा में जर्बदस्त गिरावट आयी है।

(2) लगभग 47 प्रतिशत किसानों की फसलोत्पादन एवं डेयरी से होने वाली सम्मिलित आय राज्य में अकुशल मजदूर के न्यूनतम वेतनमान से भी कम हो चुकी है। और किसान आबादी का करीब 20 प्रतिशत हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीने के लिए अभिशप्त है।

(3) मधय पंजाब की भूमियों का जलस्तर प्रतिवर्ष 0 दशमलव 23 सेमी की वार्षिक दर से घटता जा रहा है, और इस दर से अगले 15 वर्षो में जलस्तर इतना नीचे चला जायेगा कि करीब 2 लाख सेंटीफ्यूगल पम्पों के स्थान पर काफी गहराई से पानी उठाने वाले पम्प गाड़ने पड़ेंगे, जिसके नाते करीब 2000 करोड़ रुपये या शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल के प्रति हैक्टेयर के हिसाब से 5,000 रू का अतिरिक्त भार पड़ेगा।

(4) राज्य के कुछ हिस्सों में 1984 से 1994 तक की अवधि के दौरान भूमि का जलस्तर 4-5 मीटर तक उपर उठ जाने के कारण जल-जमाव और लवणीयता की भारी समस्या पैदा हो चुकी है।

(5) भूमि में सूक्ष्म पोषक तत्वों का व्यापक क्षेत्रफल पर अभाव हो चुका है, तथा खरपतवारों, कीटों एवं बीमारियों की बाढ़ सी आ गयी है।

(6) कम्बाइन हार्वेस्टर इस्तेमाल किये गये खेतों में पुआल को जलाने से वातावरणीय प्रदूषण की भारी समस्या उत्पन्न हो गयी है।

यह तो रहा पंजाब कृषि विश्वविद्यालय लुधियाना द्वारा संगोष्ठी के दौरान पंजाब के कृषि क्षेत्र की समस्याओं का एक संक्षिप्त रेखांकन। अब आइये इनमें से कुछ प्रमुख समस्याओं को लेकर तनिक विस्तार से चर्चा कर लें।

उत्पाद और आय में वृद्धि की स्थिति

यहां एक बात हम पहले ही स्पष्ट कर दें कि तथाकथित हरित क्रान्ति के नाम से भारत के कृषि-क्षेत्र में जिन साम्राज्यवादी आार्थिक नीतियों की घुसपैठ हुई, वे ही इस दशक के आरंभ से, संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के नाम से अब अपना नग्न ताण्डव कर रही है। नतीजतन, पंजाब समेत समूचे देश के कृषिगत एवं सकल घरेलू उत्पादों में तेजी से गिरावट आयी है।

यहां यह विडम्बनापूर्ण सचाई खासतौर से उल्लेखनीय है कि पंजाब मे हरित क्रान्ति शुरू होने के बाद से ऐसा पहली बार हुआ है कि कृषिगत उत्पाद की वृद्धि दर समूचे देश के सकल कृषिगत उत्पाद वृद्धि दर के स्तर से भी नीचे चली गयी है। इसी तरह पूरे राज्य की अर्थव्यवस्था भी तेजी से बिगड़ती हुई राष्ट्रीय औसत से नीचे चली गयी है। राज्य की प्रति व्यक्ति आय भी पूरे देश स्तर पर प्रति व्यक्ति आय से नीचे चली गयी गयी है। और यदि राज्य की वर्तमान कृषिगत आय की वृद्धि दर को जनसंख्या वृद्धि दर से मिलान करके देखा जाय तो यह वृद्धि दर 1 प्रतिशत से भी कम ही बैठेगी।

उर्वरकों आदि रसायनों के प्रयोग से उत्पन्न समस्याएं:

हरित क्रान्ति के नाम पर भारी पैमाने पर रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशक एवं खरपतवार नाशक रसायनों के इस्तेमाल से भूमि के विषम रसायनीकरण की तथा नाइट्रेट प्रदूषण की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विश्व भर में प्रचारित साम्राज्यवादी कृषि-नीति के तहत यहां भी सिर्फ अधिक खाद -पानी चाहने वाली फसलों -मुख्यत: गेहूं, धान और गन्ना की एकल कृषि (मोनो कल्चर)ही प्रचलित है, और फसल चक्र के सिद्धान्तों की प्राय: अनदेखी ही कर दी गयी है। नतीजतन खेती अधिकाधिक तौर पर रसायनों के इस्तेमाल पर निर्भर होती गयी है।

भूमि की रूग्णता:

वर्तमान प्रचलित कृषि प्रणाली के चलते पंजाब के कृषि -क्षेत्र में भूमि में लवणीयता, सूक्ष्म पोषक तत्वों का अभाव, घटता बढ़ता भूमि जलस्तर, और जल-जमाव आदि की गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हो चुकी हैं। पंजाब का दक्षिणी -पश्चिमी क्षेत्र खासतौर से फरीदकोट जिला जो कपास की खेती का मुख्य क्षेत्र है, उठते जलस्तर से बुरी तरह प्रभावित हो चुका है। फलत: हजारों हेक्टेयर भूमियां जलमग्न हो चुकी हैं। पौधों के जड़ क्षेत्र में जल-जमाव के कारण लवणीयता की समस्या उत्पन्न हो चुकी है, तथा तमाम आवश्यक सूक्ष्म पोषक तत्वों का अभाव हो चुका है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो चुकी हैं, मसलन: गेंहू और धाान में नाइट्रोजनधारी रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक इस्तेमाल से भूमि में नाइट्रेट-प्रदूषण, उर्वरकों तथा कीटनाशक, खरपतवार नाशक आदि रसायनो के अत्यधिक प्रयोग से भूमि की उत्पादकता एवं उर्वरकता को बनाये रखने के लिए आवश्यक

तमाम सूक्ष्म जीवाणओं पर भारी प्रतिकूल प्रभाव, आदि।

जल ससांधन का तीव्रतर ह्रास

पंजाब के भूमिगत जल संतुलन के बारे में हाल ही में किये गये अधययनों से पता चला है कि भूमिगत जल की पुन: पूर्ति (रिचार्ज) से कही अधिक निकासी के कारण राज्य के कई क्षेत्रों में भूमि का जलस्तर तेजी से नीचे गिरता जा रहा है। यह स्थिति राज्य के लगभग आधे हिस्स में उत्पन्न हो चुकी है। एक अनुमान के अनुसार राज्य में भूमि जलस्तर 0.11 मीटर प्रतिवर्ष की दर से गिरता जा रहा है, जिसके तात्कालिक क साथ-साथ दूरगामी तौर पर भी गम्भीर दुष्परिणाम हो सकते हैं। इस समस्या की जड़ में भी मुख्यत: धान और गन्ने की सघन एकल खेती (इन्टेंसिव मोनोकल्चर) ही है, जिसके लिए सिंचाई हेतु अधिकाधिक भूमिगत जल की निकासी की जाती है। यहां गौरतलब है कि धान एक नम और भारी भूमि की फसल है, जिसे पंजाब की अपेक्षाकृत सूखी और हल्की मिटटी वाली धरती पर सघन रूप से उगाने के चलते भूमिगत जल की निकासी पर जोर अपेक्षाकृत अधिक बढ़ता चला गया है। यदि ठोस तथ्यों के आधार पर बात करे तो, सचाई यह है कि धान की फसल मक्का और कपास की तुलना में क्रमश: 22 प्रतिशत और 12 प्रतिशत अधिक जल का इस्तेमाल करती है (उत्सवेदन और वाष्पीकरण के रूप में) इसी तरह गन्ने की खेती के कारण भी भूमिगत जल पर निकासी का दबाव बहुत बढ़ गया है। यहां उल्लेखनीय है कि गन्ने की फसल अकेले ही, गेंहू और धान की फसलों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले जल की कुल सम्मिलित मात्रा से, कहीं अधिक जल उत्स्वेदन और वाष्पीकरण में खर्च कर देती है।

पर्यावरणीय प्रदूषण की समस्या

पंजाब की खेती लगभग पूरी तरह मशीनीकृत हो चुकी है, और धान एवं गेंहू की कटाई कम्बाइन हार्वेस्टर से की जाती है। किसान भारी मात्रा में इन फसलों के ठूंठों (डंठलों) को खेतों में फूंकते हैं। एक अनुमान के अनुसार, पंजाब में प्रति वर्ष 50 लाख टन से अधिक ही धाान का पुआल जलाया जाता है। इससे वातावरण के प्रदूषण की भारी समस्या उत्पन्न हो चुकी है।

बेरोजगारी की समस्या

पंजाब में बेरोजगारी की समस्या देश के शेष हिस्सों में बेरोजगारी की समस्या से कम नहीं है। यहां यह बात खासतौर से उल्लेखनीय है कि 1987-88 के दौरान, जबकि पूरे देश भर में कृषि विकास के पंजाब पैटर्न और हरित क्रान्ति तकनोलाजी का ढपोर शंख अभी बज ही रहा था, पुरुष और सभी श्रमशक्ति के क्रमश: 2.9 प्रतिशत और 7.4 प्रतिशत हिस्से बेरोजगारी के शिकार थे, बावजूद इस तथ्य के कि पूरे देश के लिए ये ही आंकड़े क्रमश: 2.8 प्रतिशत और 3. 5 प्रतिशत थे (एन एस एस ओ अनुमान के अनुसार) यहां पर एक सवाल लाजिमी तौर पर उठ खड़ा होता है कि जिस पंजाब के कृषि क्षेत्र में बिहार, पूवी उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों से भारी संख्या में मजदूर काम की तलाश में आते हैं, उसी में स्वयं पंजाब की ग्रामीण श्रमशक्ति में बेरोजगारी का आलम क्यों छाया हुआ है। इसके जवाब में लिए दो मुख्य बातें गौरतलब हैं। पहली तो यह कि पूंजी वादी विकास के असमान विकास की अभिलाक्षणिकता के चलते शहरी और देहाती क्षेत्रों की आर्थिक स्थितियों में विषमता बढ़ने के साथ -साथ, देहाती क्षेत्र में भी असमानताओं के रूप में विषमता बढ़ती गयी है, जिसे तथाकथित हरितक्रान्ति ने और अधिक त्वरान्वित ही किया है। यही कारण है कि तथाकथित हरित क्रान्ति तकनोलाजी और तथाकथित कृषि विकास के पंजाब पैटर्न के चलते प्रति व्यक्ति तथाकथित उच्चतम आय के बावजूद, वहां खेतों में काम करने वाले खेतिहर मजदूरों की वास्तविक उजरती दर में वृद्दि, 1991-92 से 1995-96 तक की अवधि में ऋणात्मक ही रही (इकनॉमिक सर्वे 1997-98) अत: दूसरी बात जो प्रमुखत: इसी से सम्बन्धित है, यह है कि गिरती उजरती दर पंजाब के ग्रामीण क्षेत्र के युवाआ को रोजगार हेतु आकर्षित नहीं कर रही है। इन दोनों बातों के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इधर हाल के वर्षों में साम्राज्यवादी मीडिया तंत्र और विज्ञापन तंत्र ने उपभोक्तावाद और अपसंस्कृति का जो भयानक प्रदूषण पैदा किया है, उसका भी भारी प्रभाव पंजाब के युवाओं पर पड़ रहा है, जो श्रम की गरिमा से विमुख होकर महज एक भकोसू प्राणी बनते जा रहे है।

इस तरह यह परिदृश्य है बहु प्रशंसित और बहुप्रचारित पंजाब के कृषि क्षेत्र का, जो विश्वव्यापी पैमाने पर समूचे पूंजीवादी -साम्राज्यवादी विकास के परिदृश्य से कतई भिन्न नहीं है : विगत दो-ठाई सदियों के पूजीवादीं विकास ने थल-जल-नभ का भयंकर प्रदूषण कर इस गृह के लिए ही जो भारी संकट उपस्थित कर दिया है, उससे यह बात अब निर्विवाद रूप से साफ हो चुकी है कि पूॅजीवादी विकास का मॉडल कतई, किसी मायने में टिकाउ (सस्टेनेबल) नहीं है। पंजाब का कृषि -विकास भी इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि कुछ कृषि वैज्ञानिक टिकाउ खेती के नाम पर पंजाब की कृषि में प्राण फूंकने के कतिपय सुझाव दे रहे हैं, परन्तु सच बात तो यह है कि जब समूची पूॅजीवादी-साम्राज्यवादी प्रणाली ही टिकाउ नहीं है, तो उसके भीतर टिकाउ खेती का नुस्खा पेश करना एक निहायत बचकानी और हास्यास्पद बात है। इसका एकमात्र और बुनियादी उपाय तो इस प्रणाली को ध्वस्त कर एक नयी समाजवादी प्रणाली को स्थापित करने में ही निहित है, जो बेहद एक लम्बा जटिल और खासतौर से वर्तमान और खासतौर से वर्तमान दौर में बेहद कटिन और चुनौतीपूर्ण है, फिर भी इसके अलावे अन्य कोई रास्ता भी नहीं है।

आधुनिक भारत के ''मंदिरों'' यानी बांधों की दारुण गाथा

विज्ञान का कोई देश नहीं होता, पर तकनोलॉजी का तो होता है इसीलिए यह कतई जरूरी नहीं कि एक देश विशेष की भौगोलिक, पर्यावरणीय और सामाजार्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो तकनोलॉजी किसी हद तक और किसी समय तक उपयुक्त सिद्ध हुई हो, वही किसी दूसरे देश की भिन्न परिस्थितियों में भी उपयुक्त सिद्ध हो। इतना ही नहीं, किसी विशेष परिस्थिति में चुनी गयी उपयुक्ततम तकनोलॉजी के इस्तेमाल की उपयुक्तता भी एक अर्से के बाद ही साबित हो पाती है। कई बार ऐसा होता है कि तात्कालिक तौर पर और एक अर्से तक इस्तेमाल की गयी किसी विशेष तकनोलॉजी की प्रकटत: सकारात्मक उप्लब्धियां तो दिखायी देती हैं, परन्तु उसके नकारात्मक प्रभाव जो प्राय: देर में प्रकट होते हैं, या अधिक सही कहें तो, जिनके बारे में ध्यान प्राय: नहीं जाता है या जानबूझकर नजरअंदाज किया जाता

रहता है या बहुत देर में ही जा पाता है (जनता के दबाव में) भीषण रूप में और दीर्घकाल तक घातक सिद्ध होते हैं।

हमारे देश में बडे बांधों के निर्माण मे यही हुआ है। आजादी के बाद से बड़े बांधों के निर्माण (और आमतौर पर समूचे विकास में, भी) पश्चिमी पूंजीवाद जगत के विकास की पूंजीवादी तकनॉलाजी का ही अन्धानुकरण किया गया 1बडे बाधों के निर्माण की आंख मूंद कर योजनाएं शुरू की गयीं। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने तो यहां तक कहा कि ''बांध आधुनिक भारत के मंदिर हैं'' और चूंकि मंदिर में किसी न किसी किसी की बलि तो चढ़ती ही है, सो इसी उत्साह में उन्होंने 1948 में हीराकुड बांध के निर्माण के फलस्वरूप विस्थापित हुए ग्रामीणो के बीच यहाँ तक कह डाला कि ''यदि तुम्हें तकलीफ झेलनी है तो तुम्हें देश के हित में तकलीफ झेलनी ही चाहिए।'' ध्यान रहे कि इसमें विस्थापितो को पुर्नवासित करने की कोई जरूरत नहीं समझी गयी। बस विकास के नाम पर उन्हें उजाड़ना ही सरकार की जिम्मेदारी थी। तभी तो 1961 में पॉग बांध के जलमग्न क्षेत्र में एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए मोरारजी देसाई ने जनता को यह निर्मम धमकी तक दे डाली कि ''हम आपसे निवेदन करेंगे कि जब बांध बनने लगे तो आप लोग अपने घरों से कूच कर जायें। अगर आप चले जाएं तो अच्छा होगा। नहीं तो हम पानी खोल देंगे और सबको डूबो देंगे।'' इसी तरह जब नर्मदा नदी पर बर्गी बांध बनाया गया तो कई गांव डूबो दिये गये 1 इससे विस्थापित हुए तमाम लोगो में एक महिला रामबाई ने जो अब जबलपुर की एक झोपड़पटटी में रहती है, अपनी हृदयविदारक तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहाकि ''वह हमें बस जहर ही क्यों नहीं दे देते? तब हमें इस गंदी कोठरी में तो नहीं रहना पडता, और तब सरकार अकेले ही इस कीमती बांध को खुद अपनी खातिर लिए जीवित रहती।

गौरतलब है कि आजादी के बाद से,पूरी देश मे केन्द्रीय जल आयोग के अनुसार अब तक 3300 बडे बॉध बनाये जा चुके हैं। इसमें यदि आजादी से पहले बनाये गये 300 बॉधों को भी जोड़ दें तो कुल बाधों की संख्या 3600 हो चुकी है। इतना ही नहीं,अभी 1000 और बडे बांध निर्माणाधीन है1 इस तथाकथित राष्ट्रीय प्रगति की क्या कीमत चुकानी पडी है जनता को-- यह एक अहम सवाल है। इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिन्स्ट्रिेशन ने 54 बड़े बांध के बारे में किये गये अपने विस्तृत अधययन में बताया है कि प्रत्येक बड़े बाध के निर्माण के फलस्वरूप औसतन 44,182 लोग विस्थापित हो जाते हैं। चूंकि आजादी के बाद से कुल 33000 बड़े बॉध बनाये जा चुके हैं और 1000 निर्माणाधीन हैं, इसलिए हम अन्दाज कर सकते हैं कि कितनी भारी संख्या में लोग विस्थापित हो चुके हैं और हो रहे हैं। अब यदि हम प्रत्येक बॉध द्वारा विस्थापित किये जाने वाले लोगों की उपर बतायी गयी औसत संख्या को, भारी एहतियात बरतते हुए, काफी कम करके महज 10,000 ही मान लें तब भी कुल विस्थापित होने वालों की संख्या 4000 गुणे 10000 बराबर 4 करोड़ के बराबर है, जो समूचे आस्ट्रेलिया की आबादी के लगभग तीन गुनी है। इन विस्थापित होने वाले लोगों में सर्वाधिक संख्या अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों की है। सरदार सरोवर बांध द्वारा विस्थापित किये गये इन लोगों की संख्या तो, अनुसूचित जाति और जनजाति आयुक्त के अनुसार कुल विस्थापितों का लगभग 60 प्रतिशत तक है।

अब सवाल उठता है कि इतनी भारी संख्या में विस्थापित हुए लोगों के लिए सरकार ने अब तक क्या किया है? वे कहां गये? कैसे जी-खा रहे हैं? कोई नहीं जानता। पिछले महीनों के अखबारों से तो यही पता चला कि नागार्जुन सागर बांध परियोजना द्वारा विस्थापित हुई जनजातियों के लोग अपने जीने के एक मात्र उपाय के तौर पर अपने बच्चे गोद लेने वाली विदेशी एजेन्सियों के हाथों बेच रहे थे। बेशक सरकार ने इसमें हस्तक्षेप किया और बच्चों को सरकारी अस्पतालों में डलवा दिया, जहां छह बच्चे देखरेख मे लापरवाही बरते जाने की वजह से मर गये।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आजादी के इतने सालों बाद भी सरकार के पास विस्थापितों को पुर्नवासित करने की कोई राष्ट्रीय नीति नही है। 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनयम (जिसे 1984 में संशोधित किया गया) के अनुसार, विस्थापितों को पुर्नवासित करने की कोई जिम्मेदारी सरकार पर नहीं है, सिवाय एक हास्यास्पद सीमा तक तुच्छ नकदी रकम दिये जाने के और महिलाओं को तो वह भी नहीं मिलती।

आधुनिक भारत के मन्दिरों यानी बड़े बॉधों द्वारा विस्थापितों की दारुण गाथा यहीं खत्म नहीं होती। उनमें से कितने मर-बिला गये -इसका कोई सांख्यिकीय आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। ऐसा हिसाब-किताब रखना सरकार भी कतई जरूरी नहीं समझतीं। जो बचे भी हैं, वे कई -कई बार उजाड़े जा चुके हैं कारण कि वे जब भी अन्यत्र जाकर झुग्गी-झोपड़ी बनाकर रहने लगते हैं, तभी कभी सुन्दरीकरण के नाम पर, तो कभी आवास-विकास कालोनी या ऐसे ही किसी तथाकथित विकास या निर्माण के नाम पर उजाड़ दिये जाते हैं। पुरानी बंजारा आदि खानाबदोश जातियां तो अपनी खानाबदोश आदतों एवं परम्पराओं के नाते इधर -उधर भटकती रहती थीं, परन्तु आधुनिक भारत में बड़ी बेरहमी से पीट-खदेड़ कर नये बंजारे पैदा किये जा रहे हैं, और आधनिक भारत के मन्दिरों पर उनकी निर्मम बलि चढ़ायी जा रही है। कोसोवो से दस लाख लोगों के विस्थापित किये जाने पर तो भारत सरकार और उसके उच्चाधिकारी अपनी चिंता जताते हैं, परन्तु खुद अपने देश के भीतर 4 करोड़ लोगों को विस्थापित करते हुए उन्हें कोई चिन्ता नहीं सताती।

यह है आजाद भारत के हमारे आजाद शासकों का असली क्रूर चेहरा। वे आधुनिक भारत के मन्दिरों के निर्माण की पश्चिमी जगत की तकनोलॉजी का जगन्नाथ रथ करोड़ों गरीब मेहनतकश आबादी को रौंदते विस्थापित करते हुए दौड़ाये चले जा रहे हैं, जबकि सारी दुनिया में बड़े बॉधों के निर्माण के विरुद्ध एक जर्बदस्त आन्दोलन चल रहा है, उनकेव्यापक क्षेत्रीय और दीर्घकालिक दुष्परिणामों के तौर पर बाढ़ जल-जमाव, लवणीयता-क्षारीयता, पर्यावरण -विनाश, महामारी और यहां तक कि भूचाल आदि की जो समस्याएं उभर कर सामने आयी हैं, उनको दृष्टिगत रखते हुए, स्वयं पश्चिमी जगत में ही बड़े बॉधों की योजनाओं को खत्म किया जा रहा है। लेकिन इसी में तो भारत में और तीसरी दुनिया के अन्य देशों में भी बड़े बांधों के निर्माण की निरन्तरता जारी रहने का रहस्य छिपा हुआ है। जैसे विकसित पूंजीवादी साम्राज्यवादी जगत ने अपने औद्योगिक, आर्थिक एवं वित्तीय संकट को, निजात पाने के एक उपाय के तौर पर, तीसरी दुनिया के देशों पर भूमंडलीकरण, उदारीकरण, संरचनात्मक समायोजन, आदि के नाम पर थोप दिया है, वैसे ही उसे अपने बॉध निर्माण उद्योग के संकट को भी तीसरी दुनिया के देशों पर विकास सहायता के नाम पर थोप दिया है। अब चूंकि भारत समेत तीसरी दुनिया के सभी देशों के सभी शासक वर्ग साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन कर उसके छुटभैया साझीदार बन चुके हैं, इसलिए इस विनाशकारी तथाकथित बॉध निर्माण तकनोलॉजी को तो वे लागू करते ही रहेंगे, ताकि देशी-विदेशी दोनों लुटेरे मिलकर मुनाफे लूटते रहे, और अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार अपने -अपने हिस्से लेते रहें। इसकी कितनी भारी कीमत करोड़ों मेहनतकश आबादी को चुकानी पड़ रही है, इसका आकलन करने की उन्हें क्या जरूरत है।

ओमप्रकाश

हमसे सुन्दर चित्रों की मांग की जाती है, किन्तु उनके नमूने इस समाज–व्यवस्था में हैं कहां? आपके घिनौने वस्त्र, आपकी अपरिपक्व क्रान्तियां, आपका बातूनी बुर्जुआ, आपका मृत धर्म, आपकी निकृष्ट शक्ति, बिना सिंहासन के आपके बादशाह, ये सब क्या इतने काव्यात्मक हैं कि इनका चित्रण किया जाये? हम अधिक से अधिक इनका मखौल उड़ा सकते हैं।

—बाल्ज़ाक

दायित्वबोध के एक शुभचिन्तक के सौजन्य से

स्वर्णिम अतीत, स्वर्णिम भविष्य

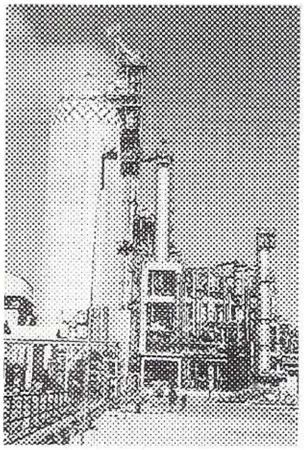

सपना जो साकार हुआ।

उर्वरक उद्योग का मुख्य उद्देश्य, भारत को उर्वरक उत्पादन के क्षेत्र में आत्म–निर्भर बनाना था। फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए आव यक पोषक तत्वों की सही समय पर तथा वांछित मात्रा में उपलब्धता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 1967 में इफको की स्थापना हुई। इफको के चार अत्याधुनिक संयंत्र गुजरात में कलोल व कांडला तथा उत्तर प्रदेश में फूलपुर व आंवला में कार्यरत हैं। इतना ही नहीं, इफको ने विश्व में सबसे बड़ी उर्वरक उत्पादक संस्था बनने के लिए अपनी ''विज़न फॉर टुमारो'' योजना को कार्यरूप देना आरम्भ कर दिया है। इफको ने सहकारिता के विकास में सदैव उत्कृष्ट भूमिका निभाई है। गुणवत्तायुक्त उर्वरकों की आपूर्ति से लाखों किसानों को हर वर्ष भरपूर फसल का लाभ प्राप्त हो रहा है तथा भूमि की उर्वरा शक्ति भी बरकरार रखी जा सकी है।

इफको सही अर्थों में भारतीय किसानों का तथा सहकारिता का गौरव है।

इफको

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

34, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली–110 019

INTERADS/D/98

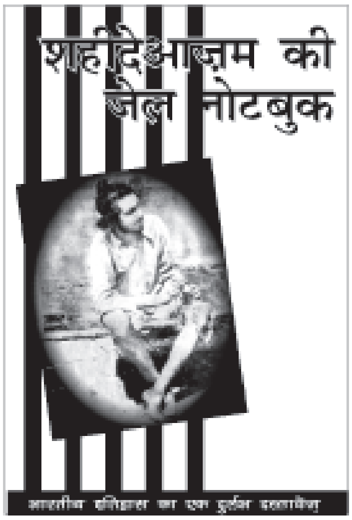

शहीदेआजम की जेल नोटबुक

एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य

भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज

हिन्दी में पहली बार प्रकाशित

पृष्ठ : 200, मूल्य : 50 रु. (पेपरबैक) 100 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना की दो नई प्रस्तुतियां

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
संपादक : ***शकील सिद्दीकी***
पृष्ठ 248, 75 रु. (पे.बै.) 150 रु. (सजिल्द)

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : ***सुरेश सलिल***
पृष्ठ 72, 25 रु. (पे.बै.) 50 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना प्रकाशन की अन्य पुस्तकें

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी
(द्वितीय संशोधित संस्करण)
पृष्ठ 152, 50 रु. (पे.बै.) 120 रु. (सजिल्द)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : ***मोहन थपलियाल***
(द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण)
पृष्ठ 148, 60 रु. (पे.बै.) 125 रु. (सजिल्द)

लहू है कि तब भी गाता है
पाश
(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादक : ***चमनलाल एवं कात्यायनी***
पृष्ठ 176, 75 रु. (पे.बै.) 150 रु. (सजिल्द)

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ
पृष्ठ 36, 10 रुपए

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य
संपादक : ***सत्यम वर्मा***
पृष्ठ 104, 20 रुपए

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
संपादक : ***विश्वनाथ मिश्र***
पृष्ठ 104, 25 रु. (पे.बै.) 50 रु. (सजिल्द)

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन
पृष्ठ 144, 35 रु. (पे.बै.) 75 रु. (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
—कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स रु. 10.00

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन
—एल्बर्ट रीस विलियम्स रु. 75.00

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं
—दीपायन बोस रु. 10.00

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति
—शशिप्रकाश रु. 12.00

क्यों माओवाद
—शशिप्रकाश रु. 10.00

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा
—वी.आई. लेनिन रु. 5.00

मकड़ा और मक्खी
—विल्हेल्म लीब्कनेख्त रु. 2.00

ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके
—सर्जी रोस्तोवस्की रु. 2.00

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-एक)
(दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी)
60 रुपये (पेपरबैक), 125 रुपये (सजिल्द)
(दूसरा भाग शीघ्र प्रकाश्य)

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :
जनचेतना
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 ✆ 393896
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 12 रुपए रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें)